प्राप्ति स्थान :—

१. **साहित्य शोध विभाग**
श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी
महावीर भवन
सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर–३

२. **मैनेजर श्रीमहावीरजी**
श्रीमहावीरजी (राज.)

संस्करण प्रथम
१०००
जनवरी ७० वीर नि. संवत् २४९६ मूल्य १० रु.

मुद्रक :
अजमेरा प्रिंटिंग वर्क्स
घी वालों का रास्ता, जयपुर
फोन : ७४२५०

प्रकाशक की ओर से

जैन हिन्दी साहित्य पर गत १० वर्षों से जो शोध कार्य हुआ है और अब उसमें जो गतिशीलता दिखलाई देने लगी है वह उसके भविष्य के लिए शुभ संकेत है लेकिन जैन हिन्दी सहित्य की विशालता एवं विविधता को देखते हुए अभी जितना भी कार्य हुआ है वह एक रूप से सर्वे कार्य के समान है। इसकी गहराई एवं महत्ता का अभी मूल्यांकन होना शेष है और इस प्रकार जैन हिन्दी साहित्य की खोज, अनुसन्धान, आलोचना एवं उसके सही मूल्यांकन के लिए शोध कार्यों एवं विद्वानों के लिए विशाल क्षेत्र पड़ा हुआ है। राजस्थान के जैन ग्रंथ संग्रहालय इस कार्य की महत्त्वपूर्ण आधार शिला है। यही कारण है कि जब से श्री महावीर क्षेत्र की ओर से राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की ग्रंथ सूचियों के चार भाग, प्रशस्ति संग्रह, एवं प्रद्युम्न, चरित, जिणदत्त चरित जैसी हिन्दी की आदिकालिक कृतियां प्रकाशित हुई हैं तभी से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में जैन साहित्य के प्रति प्राध्यापकों एवं शोधार्थियों में एक नवीन अभिरुचि जाग्रत हुई है व कार्य करने की भावना उत्पन्न होने लगी है। गत ४-५ वर्षों से क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग में देश-विदेश के शोध छात्र एवं छात्राएं जैन साहित्य के विभिन्न अंगों पर जितनी संख्या में कार्य करने के लिए आ रहे हैं उससे ज्ञात होता है कि जैन साहित्य का परिचय हमारे मन्दिरों एवं ग्रंथ भंडारों की सीमाओं को लांघ कर बाहर आने लगा है और विश्वविद्यालय की भूमि में प्रवेश प्राप्त करने का प्रयास हो रहा है।

जैन साहित्य की गतिशीलता के ऐसे अवसर पर मुझे 'जैन शोध और समीक्षा' पुस्तक को पाठकों, शोधार्थियों तथा विद्वानों के हाथों में देते हुए प्रसन्नता

होती है। प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने जैन साहित्य को शोध एवं समीक्षा के दोहरे रूप में उपस्थित किया है जो उनके वर्षों के गहन अध्ययन का फल है। लेखक दि० जैन कालेज बडौत के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हैं तथा 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि एवं हिन्दी भक्ति काव्य एवं कवि' के लेखक के रूप में पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

प्रस्तुत प्रकाशन श्री महावीर क्षेत्र की ओर से १५ वां प्रकाशन है। इस पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व १४ महत्वपूर्ण एवं शोधपरक कृतियां प्रकाशित हो चुकी हैं जिनमें 'ग्रंथ सूचियों के चार भाग, प्रशस्ति संग्रह, जिणदत्त चरित, प्रद्युम्न चरित, हिन्दी पद संग्रह, चम्पाशतक, राजस्थान के जैन संत व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा जैन ग्रंथ भंडारस् इन राजस्थान' के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। इस वर्ष भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल को 'राजस्थान के जैन संत व्यक्तितत्व एवं कृतित्व' पर गोपालदास बरैया पुरस्कार से सम्मानित किया गया है। यह पुरस्कार डा० कासलीवाल की खोज कार्यों में गहनता एवं विशेष रुचि के साथ हमारे प्रकाशनों के उच्चस्तरीय स्तर का भी परिचायक है। अप्रकाशित एवं महत्वपूर्ण हिन्दी रचनाओं को प्रकाशित करने की एक योजना क्षेत्र कमेटी के विचाराधीन है जिसके माध्यम से अनेक हिन्दी रचनाओं को प्रकाशित करके शोध छात्रों को इस दिशा में कार्य करने का सुअवसर प्रदान करना है।

श्रीमहावीरजी क्षेत्र की प्रवन्धकारिणी कमेटी के अन्तर्गत गठित धर्म प्रचार समिति साहित्य प्रकाशन के कार्य को गतिशील बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। उक्त धर्म प्रचार समिति का यह दुर्भाग्य रहा कि इसके संयोजक श्री केशरलाल जी अजमेरा तथा सदस्य प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् श्री पं० चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ का आकस्मिक स्वर्गवास हो जाने से हमारी योजनाओं को मूर्तरूप नहीं दिया जा सका। उक्त प्रकाशन में स्व० श्री अजमेरा जी का बहुत योगदान रहा है जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। पं० चैनसुखदासजी की क्षेत्र कमेटी पर सदैव ही महती कृपा रही है और हमें उनका मार्ग दर्शन मिलता रहा है। वे आज नहीं हैं किन्तु उनकी पावन स्मृति हमें प्रकाश व प्रेरणादायक होगी।

इस पुस्तक के प्रकाशन की प्रेरणा हमें पूज्य १०८ मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज के आशीर्वाद से मिली जिसके लिए उनके चरणों में हमारी

कृताज्ञाञ्जलिया समर्पित हैं। प्रस्तुत पुस्तक में मुनिश्री ने आद्यमिताक्षर लिखने की पूर्ण अनुकम्पा की है इसके लिए हम उनके चिरकृतज्ञ हैं। पुस्तक के विद्वान् लेखक डा० प्रेमसागर जैन के भी हम आभारी हैं जिन्होंने ऐसी सुन्दर एवं उपयोगी पुस्तक को हमें प्रकाशनार्थ देने कृपा की है। हम डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल को भी धन्यवाद दिए विना नहीं रह सकते जिनकी देख-रेख में इस पुस्तक का प्रकाशन हो सका।

ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
मन्त्री
प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र
श्रीमहावीरजी

आद्यमिताक्षर

'साहित्य' समाज का दर्पण है। समाज की सांस्कृतिक निधियाँ साहित्य के माध्यम से सुरक्षित रहती हैं। जैसे बड़ी-बड़ी कोठियों वाले धनिक वर्ग मकानों में उद्यान व लॉन रखते हैं, उसी प्रकार जातियों का इतिहास साहित्य के सुरभित-कानन रखता है। प्राचीन भारत में आज-जैसी प्रशस्त मुद्रण कला नहीं थी। किन्तु तब लोगों का मन साहित्य-मय था। उस समय के टिकाऊ ताड़पत्र पर मोती को लजाने वाले अक्षरों में जो ग्रंथ मिलते हैं, वे आज के युग पर उपहास करते हैं और अपनी दुर्दशा पर अश्रु बहाते हैं। घर-घर में ग्रंथों के बंडल रखे हैं, किन्तु अपने पूर्वजों से संरक्षित उन ग्रन्थों को आज की नई पीढ़ी कहां देखती है? अपने ही घरों में उनका अविनय किया जा रहा है। जो भक्ति से पाले गये, मूल्य देकर लिपिकारों से लिखवाये गये, जिनसे परिवार ने पूजा के छन्द सीखे–आज वे ही पराये लगने लगे। पूर्वज तो लिखकर चले गये; किन्तु ये आदर्श ग्रन्थ अभी जीवित हैं।

कितने समाज के लोग ग्रन्थ रक्षा के उपाय-चिन्तन में अपना तन-मन और धन लगा या लगवा रहे हैं? कोई उनमें सुवर्ण बनाने की विधि ढूँढता है तो कोई किसी जरा-व्याधि विनाशक रसायन की प्रक्रिया खोजता है। यदि आज के लोगों की अपेक्षित वस्तु उनमें नहीं मिलती तो वे उन हस्तलिखित हेय लगने वाले, पैवन्द वेष्टनों में छिपे ताड़पत्र के ग्रन्थों को महत्त्व देने से इन्कार करते थकते नहीं। इस दृष्टिकोण में परिवर्तन आना चाहिए, तभी साहित्य की एवं प्राचीन ग्रन्थों की रक्षा सम्भव हो सकेगी। स्वाध्याय में रुचि लेना, आत्म-रस उत्पन्न करना भी इस दिशा में सहायक है। आदर्श ग्रन्थ-रत्नों के प्रति आदर भावना से प्राचीन-साहित्य क्षीण और लोप होने से बचाया जा सकता है।

'स्वाध्याय' का महत्व सर्व विदित है। स्वाध्याय ज्ञान की उपासना है। ज्ञानवान होकर चारित्र्य का पालन यथाशक्ति करना मानव का कर्तव्य-धर्म है। संसार और संसार से परे का ज्ञान-विज्ञान ग्रंथों में संजोया हुआ है। जो प्रतिदिन उस ज्ञान में से थोड़ा-थोड़ा भी संचय करता है, वह श्रीमान्, वहुश्रुत, स्व-समयी, ज्ञानी और वाग्मी वन जाता है। 'बूंद-बूंद जल भरे तालाव' (थें में थें वें तले सांचे—मराठी) अर्थात् बूंद-बूंद पानी से तालाव भर जाते हैं। स्वाध्याय का नियम लेकर नित्य अध्ययन शील को सम्यग् विद्या की निधियाँ मिल जाती हैं। स्वाध्याय चित्त को एकाग्र, एतावता आत्म को वलवान बनाता है। पवित्रता प्रदान करता है और परिणामों की विशुद्धि करता है। स्वाध्याय रूपी चिन्ता-मणि जिसे मिल जाती है, वह कुवेर के रत्नकोषों को पराजित कर देता है। ज्ञान के क्षेत्र में नया उन्मेष और ज्ञान-विज्ञान की खोज में स्वाध्याय ही प्रवल कारण है।

डॉ० श्री प्रेमसागर जैन का प्रस्तुत "जैन शोध और समीक्षा" ग्रंथ इस दिशा में भाषा-शास्त्रियों के लिए लाभदायक सिद्ध होगा। लेखक ने ग्रन्थ को कई प्रकरणों में संजोकर विभिन्न वातों पर प्रकाश डाला है, इससे पाठकों को अनुकूल ग्राह्य-सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिल सकेगी। इस दिशा में लेखक और श्री महावीर जी क्षेत्र के मंत्री, श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका तथा प्रवन्धक महोदयों का प्रयत्न अनुकरणीय एवं सराहनीय है।

आशीर्वाद !

मुनि विद्यानन्द

भूमिका

'जैन शोध और समीक्षा' में मेरे १० शोध निबन्ध हैं। मैंने उन्हें समय-समय पर लिखा है। शोध सतत प्रवाह है। हम नहीं कह सकते कि हमने जो कुछ लिखा है, वह उतना और वैसा ही है। मैं नहीं चाहता कि इन निबन्धों की मान्यताओं को मील का अन्तिम पत्थर समझा जाये। इन पर अनुसन्धित्सु और शोध-खोज करें, यदि कुछ नया ला सकें तो मुझे प्रसन्नता ही होगी। जैन साहित्य विपुल है। स्थान-स्थान पर जैन भण्डार हस्तलिखित ग्रन्थों से भरे पड़े हैं। उनको खोजना, पढ़ना फिर उनका सम्पादन और प्रकाशन–सब कुछ परिश्रम-साध्य है। यदि यह हो सके तो भारतीय साहित्य, विश्व में और अधिक गौरवास्पद होगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

मूल साहित्य की खोज एक बात है और फिर उसे आधुनिक समीक्षा और तुलनात्मक अध्ययन के साथ प्रस्तुत करना दूसरी बात है। जैन सन्दर्भ में दोनों काम एक साथ करने होते हैं। ऐसा किये बिना मूल मूल्यवान नहीं बन पाता, उसे उचित स्थान नहीं मिलता और वह आदरास्पद होते हुए भी उपेक्षित-सा रह जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य, उत्तम कोटि का साहित्य है। इसे जिन्होंने पढ़ा है, उसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। उसे केवल धर्म कह कर छोड़ा नहीं जा सकता। किन्तु, हो ऐसा ही रहा है। बनारसीदास, द्यानतराय, भूधरदास, आनन्दघन आदि अनेक ऐसे जैन कवि हुए, जिन्होंने सामर्थ्यवान हिन्दी साहित्य की रचना की। मध्यकाल के अन्य हिन्दी कवियों के साथ उन्हें स्थान मिलना ही चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है, जब उनके काव्य की सामर्थ्य और प्राणवत्ता तुलनात्मक अध्ययन और समीक्षा के साथ प्रस्तुत की जाये।

तुलना से मेरा तात्पर्य खींचतान से नहीं है। निष्पक्षता समीक्षा का प्राण है। यदि समीक्षक निष्पक्ष नहीं तो वह समीक्षा एक वर्ग विशेष मे क्षणिक समादृत होकर चुक जाती है—सदा के लिये। हमें अपनी बात एक प्रामाणिक पृष्ठभूमि, स्वस्थ दृष्टिकोण और किसी का विरोध किये बिना प्रस्तुत करनी होगी। आज नहीं तो कल, उसका स्वीकृत हो जाना अनिवार्य है। मेरा तात्पर्य तुलनात्मक होने से तो है, किन्तु हिंसक होने से नहीं। अहिंसा ब्रह्म है और वह तुलना के बीच भी हलके सितार की तरह झंकृत होनी ही चाहिए! मैंने अपने निबन्धों में भरसक निष्पक्ष रहने का प्रयत्न किया है।

जैन कवियों के लिखे हुए अनेक महाकाव्य हैं। उनमें धर्म है, उपदेश है, किन्तु रसधार भी अल्प नहीं है। किसी धर्म से सम्बन्धित होने मात्र से कोई काव्य 'साहित्य' संज्ञा से वञ्चित नहीं हो जाता। रामचरितमानस और सूरसागर वैष्णवधर्म से सम्बद्ध होने पर भी सहृदयों के कण्ठहार रहे हैं। स्थायी साहित्य की कोटि में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। कबीर की साखी, शब्द और रमैनी उपदेश-प्रधान होते हुए भी काव्य-मय तो हैं ही। उनका काव्यत्व असंदिग्ध है। जायसी आदि सूफी कवि भी अदृष्ट की ओर इशारा करते हुए दार्शनिक-से प्रतीत होते हैं, किन्तु उनकी भावुकता साहित्य का प्राण है। वैसे ही जैनधर्म से निबद्ध होते हुए भी जैन काव्य अपनी भावसंकुलता, रसमयता और वाग्विदग्धता के कारण 'साहित्य' की कसौटी पर भी खरे हैं। रायचन्द का 'सीताचरित्र' एक उत्तमकोटि का प्रबन्धकाव्य है। कथानक के सूत्रों का निबन्धन, गतिमयता, उसका सहज प्रवाह, नगीने से जड़ा-सा एक-एक चरित्र, सब कुछ स्वाभाविक है और महान्। भाषा जैसे भावों की चेरी। शील में खिंची-सी, सौन्दर्य की प्रतीक-सी, मन्द-मन्द गामिनी सीता 'सीताचरित्र' की विभूति है। रामचरितमानस की सीता भी हू-बहू ऐसी ही है। उसे देख कर महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को अकस्मात् १० वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि स्वयम्भू की याद आई। उन्होंने विश्वास-पूर्वक लिखा कि तुलसी बाबा ने सीता का यह चित्र 'पउमचरिउ' से लिया। उन्हें और कहीं न मिला होगा। तुलसी के 'नाना पुराण निगमागम-सम्मत' सूत्र से यह असम्भव भी नहीं लगता।

स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' की अनेक परम्पराएँ हिन्दी में आयीं, ऐसा मै मानता हूँ। उसके विधिवत् विश्लेषण की महती आवश्यकता है, किन्तु वह एक पृथक् निबन्ध का विषय है। यह सच है कि जैनों का राम-सीता-विषयक विपुल साहित्य है—प्राचीन और मध्यकालीन विविध भारतीय भाषाओं में। उनका अध्ययन

रुचिकर है, भाव-साम्य का आधार भी। मैंने पूज्य मुनि श्री विद्यानन्द जी के पास कन्नड़ के महाकवि पम्प की 'पम्परामायण' देखी थी। एक दिन, मुनिश्री ने उसके प्रसिद्ध स्थलों का रसास्वादन कराया, सभी भाव-विभोर होगये। ऐसा अनुभूति-मय था वह काव्य। मुनिश्री ने २५ रामायणों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। उनकी दृष्टि में तुलसी एक उदार कवि थे। उन्होंने कहीं से भी 'पउमचरिउ' को अवश्य सुना या पढ़ा होगा। फिर भी, तुलसी में जैसी तन्मयता है, 'पउमचरिउ' में नहीं। तुलसी भक्त थे, उनके दिल का रेशा-रेशा राम-मय हो गया था। ऐसी तल्लीनता हिन्दी के किसी कवि में देखने को नहीं मिली। इस क्षेत्र में तुलसी अनूठे थे, अद्भुत और अनुपम। वह उनकी अपनी चीज है। न वाल्मीकि को मिली और न स्वयम्भू को। हो सकता है कि कन्नड़ के कवि पम्प में वह बात हो। उसके कतिपय स्थलों से मुझे ऐसा लगा। वैसे, पूरे अध्ययन के बाद ही प्रामाणिक रूप से कुछ कहा जा सकता है।

लालचन्द लब्धोदय का 'पद्मिनी चरित' मैंने देखा है। उसकी रचना वि० सं० १७०७, चैत्र शुक्ला १५, शनिवार के दिन पूर्ण हुई थी। कुछ घटनाक्रम के अतिरिक्त यह पूरी कथा जायसी के पद्मावत से मिलती-जुलती है। इसको भी काल्पनिक और ऐतिहासिक ऐसे दो भागों में बांटा जा सकता है। काल्पनिक कथानक में हीरामन तोते का प्रयोग नहीं हुआ है। रतनसेन ने अन्य उपायों से पद्मिनी के सौन्दर्य को सुना है। रतनसेन की रानी का नाम भी नागमती न होकर प्रभावती है। यहाँ ऐसा नहीं है कि पद्मिनी का सौन्दर्य सुनते ही वह वियोगी बन निकल पड़ा। बादशाह अलाउद्दीन को कंकण दिखाकर कंकणवाली की अगाध रूप-राशि का अनुमान भी यहाँ नहीं करवाया गया है। एक बार, राजा ने अच्छा भोजन न बनने की शिकायत की, जिस पर प्रभावती ने क्रोधित होकर पद्मिनी नारी के साथ विवाह करने की बात कही, जो स्वादिष्ट भोजन बनाने में निपुण हुआ करती हैं। राजा ने भी ऐसी नारी को प्राप्त कर प्रभावती के गुमान को नष्ट करने की प्रतिज्ञा की। वह औघड़नाथ सिद्ध की कृपा से भयानक समुद्रों को पार करता हुआ सिंहल में पहुँचा, और वहाँ के राजा को अपनी वीरता से प्रसन्न कर उसकी पुत्री पद्मावती के साथ विवाह कर, छह माह के बाद चित्तौड़गढ़ में वापस आगया। इसी भांति अलाउद्दीन पद्मावती का नख-शिख वर्णन सुन, उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हुआ।

कथानक में कल्पनाएं तो हैं, किन्तु उनमें वैसी असम्भवनीयता नहीं आ पाई है, जैसी कि पद्मावत में पाई जाती है । यह कथानक मानव-जीवन के अधिक निकट है । भाषा सशक्त और सजीव है । उसमें गतिमयता है । स्वाभाविकता और सहजता है । भाव और अनुभूतियों के अनेक चित्र हैं । कवि में चित्राङ्कन की शक्ति है । बीच-बीच में अध्यात्म की सहज हिलोरे हैं, जो कथानक के सम्बन्ध-निर्वाह में अटकाव नहीं डालतीं । प्रेम का स्पन्दन है, वीरता का उत्साह और अध्यात्म की पावनता । कहीं किसी धर्म के प्रति आग्रह नहीं, हठ नहीं । सब कुछ काव्यमय है । पद्मावत के साथ उसका अध्ययन विद्वानों को रुचेगा, ऐसा मुझे विश्वास है ।

भूधरदास का पार्श्वपुराण महाकाव्य है। इसकी रचना वि० सं० १७८९, आषाढ़ सुदी ५ को आगरा में पूर्ण हुई । इसमें ९ अधिकार हैं । भगवान पार्श्वनाथ की जन्म से ही नहीं, किन्तु पूर्वभवों से लेकर निर्वाण-पर्यन्त की कथा है । सम्बन्ध निर्वाह है-कहीं शिथिलता नहीं । अवान्तरकथाएँ मुख्यकथा की पुष्टि और अभिवृद्धि करती हैं । नायक क्षत्रिय राजकुमार और तीर्थंकर है । शान्तरस की प्रधानता है, और वैसे अन्य रसों का भी उपयुक्त समावेश हुआ है । दोहा-चौपाई का बहुत अधिक प्रयोग है । कहीं-कहीं सोरठा और छप्पय भी आये हैं । विविध प्राकृत दृश्यों का चित्रण है । प्रारम्भ और अन्त में मंगलाचरण है । इस भांति महाकाव्य के सभी लक्षण इसमें वर्त्तमान हैं । यद्यपि यह अपभ्रंश के वीर कवि के 'जम्बू स्वामीचरिउ' और हरिभद्र के 'णेमिणाह चरिउ' की भांति ही परम्परानुमोदित है, किन्तु फिर भी मन उसे मौलिक कहना चाहता है । मन की यह चाहना अकारणिक और निर्बन्ध नहीं है । पार्श्वपुराण की अवान्तरकथाओं की रसमयता, घटनाओं को चित्रोपमता, उपमा और उत्प्रेक्षाओं की सजीवता, उसे अन्तस्थल तक उतारने में समर्थ है । कोई सहृदय पाठक उसके काव्यरस में बूडे बिना नहीं रह सकता । प्रसादगुँण भूधरदास में जैसा मूर्त्तिमन्त हुआ, मध्य काल के अन्य किसी कवि में नहीं । पार्श्वपुराण तो उसका प्रतीक ही है । आज से वर्षों पूर्व हिन्दी के समर्थ समीक्षक पं० नाथूराम प्रेमी ने इसे हिन्दी का उच्च-कोटि का काव्य कहा था । आज उसके पुनः सम्पादन और प्रकाशन की आवश्यकता है ।

मध्यकालीन हिन्दी में अनेक चरित काव्यों का निर्माण हुआ । उनमें कुछ प्रबन्ध काव्य थे और कुछ खण्डकाव्य । यद्यपि उनकी संज्ञा 'चरित' या 'चरिउ' थी, किन्तु उनके कथासूत्र संगुम्फित और काव्य-सौष्ठव मनोरम था ।

भाषा परिमार्जित और भाव कथानुग्राही । उनमें कवि सधारु (वि. सं. १४११) के प्रद्युम्नचरित्र का सम्पादन और प्रकाशन महावीर भवन, जयपुर से हो चुका है। इसमें भगवान कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न की जीवन-गाथा है । प्रद्युम्न कामदेव-जैसे रूप-सम्पन्न थे । उनका जीवन घटना-वहुल और वीरता-सम्पन्न था । डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने पं० रामचन्द्र शुक्ल की परिभाषा के आधार पर, इसे प्रबन्ध काव्य सिद्ध किया है । उनका कथन है, "प्रद्युम्न चरित्र में पं० रामचन्द्र शुक्ल का प्रवन्ध काव्य वाला लक्षण ठीक वैठता है । इसमें घटनाओं का शृंखला-वद्ध क्रम है, नाना भावों का रसात्मक अनुभव कराने वाले प्रसंगों का समावेश है । इन सवके अतिरिक्त यह काव्य श्रोताओं के हृदय में रसात्मक तरंगें उठाने में भी समर्थ है । इसलिये प्रद्युम्न चरित्र को निश्चित रूप से प्रवन्ध काव्य कहा जा सकता है ।"[1] किन्तु डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने इसे 'चउपई छन्दों की एक सतसई' कहा है ।[2] शायद उनका कथन इसके चउपई छन्दों की ७०१ संख्या पर आधृत है । मेरी दृष्टि में, चरित काव्यो की अपनी एक परम्परा और शैली थी । भले ही वह संस्कृत आचार्यों के द्वारा निरूपित प्रवन्ध काव्यों की वाह्य-रूपता से तालमेल न वैठा पाती हो, किन्तु उनका अन्तः वैसा ही था, जैसा कि प्रवन्ध काव्यों का होता है । अर्थात्, उनमें चरितनायक के पूर्ण जीवन का संवंध-निर्वाह होता है और रस-परिपाक भी । अतः उन्हें प्रवन्ध काव्य कहने में छन्दों की सख्या वाधक नहीं हो पाती ।

इस दृष्टि से हम ईश्वरसूरि के ललितांगचरित्र, ब्रह्मरायमल्ल के 'श्रीपाल रास' और महाकवि परिमल्ल के 'श्रीपालचरित्र' को भी प्रवन्ध काव्य कह सकते हैं । भाषा, काव्य-सौष्ठव, प्रवन्धात्मकता, रसात्मकता, और प्रकृति-निरूपण आदि दृष्टियों से उन्हें हिन्दी-साहित्य का गौरव कहा जा सकता है । ये तीनों काव्य किसी संस्कृत या प्राकृत काव्य के अनुवाद नहीं है । उनमें पर्याप्त मौलि-कता है और भाषा का अपना रूप, अपनी विधा और प्रस्तुतीकरण का अपना ढंग । उनका कथानक पुराणों से लिया गया है । किन्तु इतने मात्र से कोई काव्य वासा नहीं हो जाता । कथानकों के लिये तो आज भी अनेकानेक साहित्य-कार पुराणों के ऋणी हैं । कथानक को आगे वढ़ाना और उसे लक्ष्य तक पहुँचा देने का अपना तरीका होता है, जिसमें वह स्वयं और उसका युग भिदा रहता है । इसी भांति चरित्र-चित्रण में परिवर्तन भी स्वाभाविक है । ईश्वर सूरि,

१. प्रद्युम्न चरित्र, महावीर भवन, जयपुर, सन् १९६०, प्रस्तावना, पृ० ३३ ।

२. देखिए वही, प्राक्कथन, पृ० ५ ।

ब्रह्म रायमल्ल और परिमल्ल तीनों ही जन्म-जात कवि थे, बहुश्रुत और प्रतिभावान् । उन्होंने कथानक के पट्ट पर, भावों के नाना चित्र, राग और विराग की तूलिका से खींचे । वे अनूठे चित्रकार थे । जीवन के घात-प्रतिघात और अध्यात्म का शाश्वत, शान्त, ज्योतिर्वन्त चेतन, उन चित्रों से जैसे आज भी झांक-झांक कर, विश्व के भूले-भटके मानवों से कुछ कहना चाहता है । भारतीय वाङ्मय के ये पृष्ठ, जिन पर स्थूल और सूक्ष्म का समन्वय ऐसे सहज ढंग से उकेरा गया हो, और कहीं प्राप्त नहीं होते । इनके अतिरिक्त, मालकवि का भोजप्रबन्ध, रामचन्द्र का जम्बूचरित्र, कवि जोधराज का प्रीतंकरचरित्र और जिनचन्द्र का विक्रमचरित्र भी १८वीं शताब्दी की उल्लेखनीय रचनायें हैं ।

खण्ड काव्यों में मानव का खण्ड जीवन ही अंकित रहता है । खंड-जीवन का अर्थ है—जीवन का एक हिस्सा, पूर्ण जीवन नहीं । अवशिष्ट सब कुछ प्रबंध-काव्य – जैसा ही होता है । नेमि-राजुल को लेकर ऐसे काव्यों का अधिकाधिक निर्माण हुआ । इस सन्दर्भ में मध्ययुगीन जैन हिन्दी के कवि राजशेखरसूरि का 'नेमिनाथ फागु' एक सुन्दर रचना है । दृश्यों को चित्रित करने में कवि निपुण प्रतीत होता है । विवाह के लिए सजी राजुल के चित्र में सजीवता है । शील-सौन्दर्य से सनी राजुल भारतीय नारी की प्रतीक है । नेमिनाथ तोरण-द्वार से वापस लौट गये । पशुओं के करुण-क्रन्दन को सुनकर उन्होंने अपने सारथी से पूछा—यह क्या है ? सारथी ने कहा—"आपके विवाह में भोज्य-पदार्थ बनने के के लिए इन्हें काटा जायेगा ? वह करुणा का एक ऐसा क्षण था, जिससे विगलित हो उन्होंने विवाह के स्थान पर दीक्षा ले ली । फिर राजुल का विलाप, नेमिनाथ को ही पति मानकर ऐसा विरह जो भगवान् किसी को न दे, प्रारम्भ हुआ । रोमाञ्च के क्षण आते-आते रुक गये और एक जीवन-व्यापी विरह शुरू हो गया । उसने राजीमती के प्रेम को और भी पुष्ट बनाया । वह दीवानी विरह के माध्यम से नेमिनाथ के साथ एकमेकता स्थापित कर सकी । कैसा विरह था वह और कैसा प्रेम, किसी राधा से कम नहीं । हिन्दी के जैन खण्ड काव्य उनकी रोमाञ्चकता और सरसता से ओतप्रोत हैं । ऐसे काव्यों में विनयचन्द्र सूरि की 'नेमिनाथ चतुष्पदी', कवि ठकुरसी की नेमिसुर की बेलि', विनोदी लाल का 'नेमिनाथ विवाह', अजयराज पाटणी का 'नेमिनाथ चरित्र' और मनरंगलाल की 'नेमिचन्द्रिका' प्रसिद्ध कृतियाँ हैं । नेमिचन्द्रिका में वात्सल्य, करुण और विप्रलम्भ का सुन्दर समन्वय हुआ है । यमक, उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक स्वाभाविक ढंग से ही काव्य की शोभा को बढ़ाते हैं । दोहा,

सोरठा, चौपाई, भुजंगप्रयात आदि छन्दों का सफल प्रयोग है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि भाव और भाषा दोनों का सफल चितेरा था।

केवल नेमि-राजुल पर ही नहीं, अपितु अन्य कथाओं का आश्रय लेकर भी अनेक खण्ड काव्यों का निर्माण हुआ। १७वीं शताब्दी के कवि पं० भगवतीदास की 'लघुसीतासतु' एक अच्छी रचना है। इसमें सीता और मन्दोदरी के संवादों के माध्यम से रावण और मन्दोदरी के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण है। भाषा और भाव दोनों ही उत्तम कोटि के हैं। ब्रह्म रायमल्ल का 'हनुमच्चरित्र' भी इस दिशा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसमें वीररस-परक जीवन का चित्रण है। उनके पिता पवनञ्जय और माता अञ्जना जैन धर्मानुयायी थे। हनूमान गर्भ में ही थे कि सास ने एक भ्रम-पूर्ण सन्देह के कारण अञ्जना को घर से निकाल दिया। एक कठोर और तिरस्कृत जीवन विताया अञ्जना ने। करुणा जैसे साक्षात् हो उठी। सती, पति-निष्ठा, गर्भभारालसा वह एक अनन्य भक्ति के साथ दिन विताती रही। कवि ने उसके विरह का मार्मिक चित्र खींचा है। इसी वीच हनूमान का जन्म और लालन-पालन हुआ फिर, पति-पत्नी का मिलन। संयोगावस्था, किन्तु अब यौवन की वाढ़ चुक गई थी। यह शरद ऋतु थी, तो हनूमान ने राम की जै-जै के गीत गाये। ऐसा सरस खण्ड काव्य मध्यकालीन हिन्दी में ढूँढे भी नहीं मिलेगा। महानन्द के 'अञ्जनासुन्दरीरास' में भी अञ्जना के विरह का सजीव चित्रण हुआ है। कथा के वीच से उभरा यह विरह हार में इन्द्रमणि-सा प्रतिभासित होता है।

हेमरत्नसूरि की 'पद्मिनी चौपई' सौन्दर्य और प्रेम के रंगों से बनी थी। कवि सौन्दर्य के नाना चित्रों को प्रेम की तूलिका से खींचता गया है। पढ़ कर पाठक विभोर हुए विना नहीं रहता। उसमें मादकता है, किन्तु सात्विकता भी कम नहीं, उसमें जलाने की ताकत है, किन्तु शीतलता भी अल्प नहीं, उसमें विरह है, किन्तु संयोग के क्षण भी भुलाये नहीं जा सकते। पद्मिनी का वह रूप, वह विरह, वह संयोग भुलाये नहीं भूलता, हटाये नहीं हटता, जैसे सदा-सदा के लिए खिच के रह गया हो।

हिन्दी का मध्यकाल रूपकों का युग था। कोई ऐसा भक्त कवि नहीं, जिसने अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए रूपकों का सहारा न लिया हो। क्या सूरदास, क्या तुलसीदास और क्या कवीर दास। जैन कवियों ने भी उसी माध्यम को अपनाया। उनमें एक विशेषता थी कि उनकी अनेक कृतियाँ समूचे

रूप में 'रूपक' हैं, जबकि सूरदास आदि के पृथक्-पृथक् पदों में तो रूपक हैं, किन्तु उनकी कोई ऐसी रचना नहीं, जिसमें समूचे रूप में 'रूपक' संज्ञा दी जा सके। जैनों में यह परम्परा पहले से थी। आध्यात्मिकता और ज्ञान-बहुला भक्ति उसका मुख्य आधार था। जैन हिन्दी में पाण्डे जिनदास का 'मालीरासो', उदयराज जती का 'वैद्यविरहिणी प्रबन्ध', कवि सुन्दर दास का 'धर्म सहेली', पाण्डे रूपचन्द का 'खटोलना गीत', हर्षकीर्ति का 'कर्म हिंण्डोलना', छीहल का 'पंच सहेली गीत' और 'पंथी गीत', बनारसीदास का 'मांझा', 'तेरह कोठिया', 'भव-सिन्धु चतुर्दशी', अध्यात्महिण्डोलना', अजयराज का 'चरखा चउपई' एवं 'शिवरमणी विवाह' और भैय्या भगवतीदास का 'चेतन कर्मचरित्र', 'मधुविन्दुक चउपई' और 'सुआ बत्तीसी' प्रसिद्ध रूपक काव्य है। कवि बनारसीदास का 'नाटक समयसार' एक उत्तम रूपक है। उसमें सात तत्त्व अभिनय करते हैं। जीव नायक और अजीव प्रतिनायक है। ऐसी सरस कृति हिन्दी के भक्ति काव्य को एक अनूठो देन है। बहुत समय पूर्व, इसका एक अच्छा सम्पादन तथा प्रकाशन पं० नाथूराम प्रेमी ने किया था। अब उपलब्ध नहीं होता। उसके नये सम्पादन और प्रकाशन की महती आवश्यकता है। इनके अतिरिक्त, 'फागु', 'वेलि' और 'चूनडी' ऐसी कृतियाँ हैं, जो समूचे रूप में रूपक हैं। उनके रचयिता क्षमतावान कवि थे। 'वेलि' काव्य पर तो एक पूरा शोध प्रबन्ध ही रचा जा चुका है। फागु और चूनडी काव्यों पर भी काम हो रहा है। 'फागु काव्य' पर तो शीघ्र ही शोध ग्रन्थ प्रकाशित होगा।

सूरसागर की भांति जैन कवियों के पदों में-से एक-एक में भी 'रूपक' सन्निहित है। भूधरदास के 'मेरा मन सूवा, जिनपद पींजरे बसि, यार लाव न बार रे', 'जगत जन जूवा हारि चले', 'चरखा चलता नाहीं, चरखा हुआ पुराना', द्यानतराय के 'परमगुरु बरसत ज्ञान झरी', 'ज्ञान सरोवर सोई हो भविजन', भैय्या के 'कायानगरी जीवनृप, अष्टकर्म अति जोर', तथा बनारसीदास के 'मूलन बेटा जायो रे साधो, मूलन बेटा जायो रे' में रूपकों का सौन्दर्य है। जैन कवियों के रूपक अधिकांशतया प्रकृति से लिए गए हैं। अतः इनमें सौन्दर्य है और शिवत्व भी। वे निर्गुनिए संतो की भांति कला-हीन भी नहीं हैं। देवाब्रह्म के पदों में चेतन और सुमति की होली से सम्बन्धित अनेक रूपक हैं, जिनके भाव अनुभूतिमय हैं तो भाषा निखरे रूप का निदर्शन है। कवि अपने विचारों का भावोन्मेष करता हुआ कवित्व के सांचे में ढालता गया है। जगतराम के पदों में भी रूपकों की सुन्दर छटा है। उनमें जीवन दर्शन को अभिव्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य है। कहीं ऊब पैदा नहीं होती। मन रमता है। अंतः और बाह्य

दोनों पक्ष गुलाब की सुगन्धि और सुन्दरता की भांति प्रभावकारी हैं। रस प्रवण हैं।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में आत्मचरितों की रचना अल्पादपिअल्प हुई, नहीं के बराबर। किन्तु, एक ऐसा आत्मचरित है, जिसकी सत्ता और सामर्थ्य आज के समीक्षक विद्वान भी स्वीकार करते हैं। उसके रचयिता कवि बनारसीदास थे। नाम है अर्धकथानक। आत्मचरितों के अधिकारी ज्ञाता श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'अर्धकथानक' को आदर्श आत्मचरित माना है। इसका अर्थ है कि आत्मकथा की कसौटी पर वह खरा है। उन्होंने लिखा है, "अपने को तटस्थ रख कर अपने सत्कर्मों तथा दुष्कर्मों पर दृष्टि डालना, उनको विवेक की तराजू पर बावन तोले पाव रत्ती तौलना, सचमुच एक महान कलापूर्ण कार्य है। अर्धकथानक में यह गुण है।"[1] डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने भी इसका 'अर्धकथा' नाम से सम्पादन किया था और 'साहित्य परिषद्', प्रयागविश्वविद्यालय से उसका प्रकाशन भी हुआ था। उनकी मान्यता है, "कभी-कभी यह देखा जाता है कि आत्मकथा लिखने वाले अपने चरित्र के कालिमा पूर्ण अंशों पर एक आवरण-सा डाल देते हैं—यदि उन्हें सर्वथा बहिष्कृत नहीं करते—किन्तु यह दोष प्रस्तुत लेखक में बिलकुल नहीं है।[2]" पं० नाथूराम प्रेमी का कथन है, "इसमें कवि ने अपने गुणों के साथ-साथ दोषों का भी उद्घाटन किया है, और सर्वत्र ही सचाई से काम लिया है।[3]" इस सब से सिद्ध है कि 'अर्धकथानक' मध्यकाल की एक सशक्त कृति थी। 'खड़ी बोली की पुट' वाला यह आत्मचरित अत्यधिक आसान और रुचिकारक है। न-जाने क्यों कॉलिजों के पाठ्यक्रम में, अभी तक, इसको स्थान नहीं मिला है?

मध्यकालीन हिन्दी मुक्तक पद काव्य क्षमतावान है। विविधराग-रागिनियों से समन्वित, वाद्य यन्त्रों पर खरा और श्रुतमधुर। भाव की गहराइयों को लिये हुए। सूरदास के पद काव्य से किसी प्रकार कम नहीं।

'भगवद्भक्ति' के क्षेत्र में सूरदास वात्सल्यरस के एकमात्र कवि माने जाते हैं। तुलसी ने भी बालक राम पर लिखा, किन्तु वह महाकाव्य के कथानक के

---

१. 'हिन्दी का प्रथम आत्मचरित', बनारसीदास चतुर्वेदी लिखित, अनेकांत, वर्ष ६, किरण १, पृ० २१।

२. अर्धकथा, डॉ० माताप्रसाद गुप्त सम्पादित, प्रयाग, भूमिका, पृ० १४।

३. अर्धकथानक, भूमिका, बम्बई, पृ० २२।

एक अंश की पूर्त्ति-भर है। सूर का सानी नहीं। किन्तु जैन काव्यों में वात्सल्य भाव के विविध दृश्य उपलब्ध होते हैं। जैन कवियों ने तीर्थंकरों के बाल रूप का चित्राङ्कन किया है। इस विषय की प्रसिद्ध रचना है 'आदीश्वर फागु'। उसके रचयिता भट्टारक ज्ञानभूषण एक समर्थ कवि थे। द्यानतराय, जगतराम, बूचराज आदि ने भी आदीश्वर की वालदशा का निरूपण किया है। सूरदास का जितना ध्यान बालक कृष्ण पर जमा, बालिका राधा पर नहीं। बालिकाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन सीता, अञ्जना और राजुल के रूप में, जैन पद काव्यों में उपलब्ध होता है। ब्रह्म रायमल्ल के 'हनुमन्त चरित्र' में हनूमान के बालरूप का ओजस्वी वर्णन है। वह उदात्तता परक है, मधुरता परक नहीं। जैन कवियों का अधिकांश बाल रूप तेजस्विता का निदर्शन है। इससे सिद्ध है कि उस पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव नहीं था। जैन काव्यों में वालरस से सम्वन्धित गर्भ और जन्मोत्सव की अपनी शैली है। वह उन्हें परम्परा से मिली है। इन उत्सवों के जैसे चित्र जैन काव्यों में उपलब्ध होते हैं, सूरसागर में नहीं। सूरदास, जन्मोत्सव के एक दो पदों के बाद ही आगे बढ़ गये।

सूर का भ्रमरगीत विरहगीत है। कृष्ण के विरह में राधा की वेदना। जैन काव्यों की राजुल से मिलती-जुलती है। दोनों के भावों का साम्य हू-बहू है। विवाह-मण्डप तक आकर बिना विवाह किये ही नेमीश्वर पशुओं की पुकार से द्रवित होकर दीक्षा ले गिरिनार पर चले गये। विवाह-मण्डप में बैठी राजुल ने यह सुना तो उसकी असह्य वेदना हृदय की शत-शत अश्रु धाराओं में विगलित हो उठी। कृष्ण भी राधा को बिना कहे मथुरा चले गये फिर लौटे नहीं। दोनों में अद्भुत साम्य है। सूर के भ्रमरगीत और विनोदीलाल तथा लक्ष्मीवल्लभ के 'बारहमासों' में तुलना का पर्याप्त क्षेत्र है। किन्तु, जहाँ कभी-कभी भ्रमरगीत निर्गुण के खण्डन में दत्तचित्त-सा दिखाई देता है, वहाँ जैन विरह काव्य, नितांत काव्य की सीमा तक ही सीमित है। उसमें खण्डन-मण्डन – जैसी बात नहीं है। गोपियों के पैने तर्कों ने ऊधौ—जैसे दार्शनिक को निरुत्तर कर दिया। काव्य रस में यह तर्क-प्रवणता कहीं-कहीं रसाभास उत्पन्न करती है। जैन काव्य उससे बचे रहे। जैन कवि राजुल, सीता और अञ्जना के विरह गीतों तक ही सीमित नहीं रहे, उनका गुरु-विरह एक मौलिक तत्त्व है। गुरु के विरह में शिष्य की बेचैनी राजुल से कम नहीं। दूसरी ओर जैन कवियों ने सुमति को राधा कहा और परमात्मा के विरह में उसकी बेचैनी हिन्दी काव्य को नयी देन है। इन सन्दर्भों में प्रकृति-निरूपण भी स्वाभाविक है।

सूरदास की भक्ति सखा भाव की भक्ति मानी जाती है। सखा भाव के कारण ही सूर में ओजस्विता है। भैय्या भगवतीदास के 'ब्रह्मविलास' में भी ओज ही प्रमुख है। यह चेतन इस आत्मा को अपना सखा मानता है, जिसमें परमात्मशक्ति मौजूद है, किन्तु जो अपने रूप को न पहचान कर इधर-उधर बहक गया है। एक सच्चे मित्र की भांति यह जीव उसे मीठी फटकार लगाता है। जैन कवियों का पदकाव्य इस प्रवृति से ओत-प्रोत है। सूर का ओज उनके मीठे उपालम्भों में खिल उठा है। जैन कवियों के उपालम्भों में भी वैसी ही सामर्थ्य है। 'तुम प्रभु कहियत दीनदयालु। आपन जाय मुकति में बैठे हम जु रुलत इह जगजाल।" द्यानतराय का पद है। सूर के स्वर में मिलता-जुलता। किन्तु, जहाँ सूर के पदों में अन्य देवों के प्रति तीक्ष्णता है, वहाँ भी जैन काव्य धीर-गम्भीर बने रहे हैं।

सूरदास और जैन कवियों के पद गेय काव्य हैं। उनमें विविध राग-रागनियों की संगीतात्मक लय है। गेय काव्य सदैव लोक से सम्बन्धित रहा है। वह लोक काव्य ही है। प्राकृत और अपभ्रंश काव्य लोक के सन्निकट रहा है। इसमें जैन साहित्य की अधिकाधिक रचना हुई। इसके अतिरिक्त रासक और लोक नाट्य भी जैन मन्दिरों में गाये और खेले जाते थे। उनके निर्माता जैन कवि थे। वहाँ हिन्दी जैन पद काव्य की पूर्व भूमिका प्राप्त हो जाती है।

हिन्दी के प्रारम्भिक युग का नामकरण करते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उसे 'वीरगाथा काल' कहा। इस काल की जितनी रचनाएँ उन्हें प्राप्त हुई, मुख्यतः वीररसात्मक थीं। अतः उन्होंने अपनी प्राप्तियों के आधार पर जो नाम दिया, गलत तो नहीं कहा जा सकता। उनके समय में जैन ग्रन्थ भण्डारों के दरवाजे मजबूती से बन्द थे। नाथ-सिद्धों की कृतियाँ भी व्यवस्थित नहीं थीं। जो कुछ उनके सामने आई भी होंगीं, उनका साहित्यिक धरातल कमजोर होगा, जिसे उन्होंने नोटिस-मात्र कह कर छोड़ दिया। वैसे मेरी दृष्टि में पं० शुक्ल विचारवान व्यक्ति थे। यदि उन्हें आज की भांति, हिन्दी के प्रारम्भिक युग की कृतियाँ उपलब्ध हुई होतीं, तो वे उन्हें नकारते तो न। यह भी सम्भव है कि वे फिर इस युग का कुछ और ही नाम देते। मैंने अपने निबन्ध में इस काल को 'आदिकाल' स्वीकार किया है। उस समय, शृंगार, वीर और शान्त तीनों रस समरूप से प्रधान थे, एक-दूसरे से न कम और न बढ़। वे 'आदिकाल' में ही खप सकते हैं, 'वीरगाथा काल' में नहीं, 'सिद्ध-सामंत काल' में भी नहीं। सब-से-पहले मिश्रबन्धुओं ने इस युग को 'आदिकाल' कहा था, जिसके औचित्य को डॉ० द्विवेदी

ने स्वीकार किया। बहुत कुछ पर्यालोचन के बाद मुझे वह समन्वयकारी लगा और मैंने अपने निबन्ध में उसे अपनाया है।

जैन ग्रन्थ भण्डारों में हिन्दी की महत्त्वपूर्ण कृतियों के होने की सम्भावना डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने की थी। उन्होंने का० ना० प्र० प०, भाग ८, पृष्ठ २२० पर लिखा है, "बरार जिला आकोला के कारंजा शुभस्थानस्थ श्री सेनगणीय, बलात्कारगणीय और काष्ठासंघीय जैन भण्डारों में सुरक्षित पुराने आचार्यों के ग्रन्थ हैं, जो हिन्दी भाषा का पूर्ण इतिहास, लगातार शताब्दियों की, हिन्दी भाषा, जीवनी और स्वरूप को अपने अंक में छिपाये हुए हैं।[१]" श्री मोतीलाल मेनारिया ने भी 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में लिखा, "इस युग के साहित्य-सृजन में जैन मतावलम्बियों का हाथ विशेष रहा है।[२]" महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी काव्य धारा' में इस युग की जैन कृतियों को महत्त्वपूर्ण बताया है। डा० भोलाशंकर व्यास ने 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' में इस युग की जैन कृतियों को धार्मिक मानते हुए भी असाहित्यिक नहीं कहा। उन्होने डा० द्विवेदी के इस कथन को स्वीकार किया है कि धार्मिक प्रेरणा या आध्यात्मिक उपदेश होना काव्यत्व का बाधक नहीं समझा जाना चाहिए।[3]

अब तो केवल कारंजा ही नहीं, समूचे भारत के जैन ग्रन्थ भण्डार खुल गये हैं। बहुतों की ग्रन्थतालिकाएँ भी बन गई हैं। किन्तु, हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वानों में वहाँ जाने की यत्किञ्चित् भी आतुरता दृष्टिगोचर नहीं होती। वे हिन्दी के मौजूदा इतिहास को स्थायी और प्रामाणिक मान बैठे हैं। भण्डारों की शोध-खोज करना, हस्तलिखित प्रतियों का अध्ययन करना और फिर इतिहास को संशोधित करना जहाँ परिश्रम-साध्य है, वहाँ वैसी लगन होनी भी अनिवार्य है। लगन नहीं है। आज भी जाने और अनजाने लोगों के अवचेतन में यह भाव बैठा हुआ है कि जैन ग्रन्थ, जैन धर्म के उपदेश-भर हैं, न उनमें काव्यत्व है और न रस-प्रवणता। डा० द्विवेदी का यह कथन, "धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती। यदि ऐसा समझा

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृष्ठ २२०, पुरानी हिन्दी का जन्मकाल, काशीप्रसाद जायसवाल-लिखित।

२. देखिए राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० २१।

३. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, का० ना० प्र० सभा, काशी, पृ० ३७४।

जाने लगे तो तुलसीदास का 'राम चरितमानस' भी साहित्य क्षेत्र में अविवेच्य हो जायेगा और जायसी का पद्मावत भी साहित्य सीमा के भीतर नहीं घुस सकेगा।[1]"—जैसे व्यर्थ-सा होकर रह गया है।

हिन्दी के आदिकाल में जैन साहित्य विशेषतया तीन रूपों में प्राप्त होता है—चरिउ, रास और फागु। चरिउ और रास में प्रबन्धात्मकता होती है और किसी-न-किसी कथा का आधार रहता है। फागु काव्य नितांत गेय होते हैं, किन्तु उनमें भी कथा-सूत्रता तो रहती ही है। 'जिणदत्त चरित' हिन्दी के आदिकाल की एक प्रसिद्ध रचना है। इसके रचयिता कवि रल्ह ने, इसकी रचना वि० सं० १३५४ (सन् १२९७) में की थी। उस समय अलाउद्दीन खिलजी का राज्य था। रल्ह का पूरा नाम राजसिंह था। इनके पिता का बचपन में स्वर्गवास हो गया था। माता ने पालन-पोषण किया। जिणदत्त की प्रसिद्ध कथा लोक-प्रचलित थी। जैन कवि इस कथा को आधार बना कर प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश में भी काव्य रचना करते रहे हैं। अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि लाखू (लक्ष्मण) की 'जिणयत्तकहा' जैन समाज में अधिक प्रिय थी। रल्ह ने भी इस कथा को पढ़ा था। उन्होंने आदिकालीन हिन्दी में, ५४४ चौपई छन्दों में, इसकी रचना की। अब यह ग्रन्थ, महावीरभवन-शोध संस्थान, जयपुर से प्रकाशित हो गया है। इसकी भूमिका में डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने लिखा है, "जिणदत्तचरित अपभ्रंश और हिन्दी के बीच की कड़ी है। अपभ्रंश भाषा ने धीरे-धीरे हिन्दी का रूप किस प्रकार लिया, यह इस काव्य से अच्छी तरह जाना जा सकता है। इसमें हिन्दी के ठेठ शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।[2]" एक दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा कि—"हिन्दी शब्द कोश के विद्वानों को इस काव्य में कितने ही नये शब्द मिलेंगे, जिनका सम्भवतः अभी तक अन्य काव्यों में उपयोग नहीं हुआ है।[3]" यदि ऐसे शब्द व्युत्पत्ति-सहित ग्रन्थ के अन्त में दे दिये जाते तो पाठक अधिक लाभान्वित होते। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से भी उनका मूल्यांकन हो पाता। इस ग्रन्थ का एक उद्धरण देखिए—

ताहं जपइ राय सुन्दरीय।
परऐसिय पाहुणइं जाहि जाहि, मइ तुह निवारिउ।
तुव पेखि मोहिउ जण्णु, वसहूं मइं जन्न तुंह जु मारिउ।।

---

१. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ० ११।
२. जिणदत्त चरित, महावीर भवन, जयपुर, १९६६, भूमिका, पृ० २३।
३. देखिए वही, पृ० ३८।

एमु भणंतहि रल्ह कइ, गउ छाय गइ नाइसि।
कथा एक वर वीर कहू, निवडइ पहिरइ वइसि ॥२२३॥

अर्थ—तब सुन्दरी (राजकुमारी) कहने लगी—ए परदेशी पाहुने ! तुम यहाँ से जाओ-जाओ। मैं तुम्हें मना करती हूँ। तुम्हें देख कर मेरे पिता मोहित हो गये हैं और एक मैं हूँ जो तुम्हें मारने जा रही हूँ। रल्ह कवि कहता है—इस प्रकार कहते-कहते पर्याप्त रात्रि बीत गई और फिर उसने कहा, 'हे श्रेष्ठ वीर एक कथा कहो जिससे पहरा बैठे-बैठे (जागते) रात्रि का शेष प्रहर निकल जावे।'

यह काव्य जिणदत्त की वीरता और प्रतिभा से अधिक सम्बन्धित है। इसमें वीर रस का अच्छा परिपाक हुआ है। शालिभद्रसूरि के भरतेश्वर-बाहुबलि रास में भी दो भाइयों के युद्ध का वर्णन है। इसमें प्रयुक्त शब्द भी युद्धोपयुक्त हैं। किन्तु उसका पर्यवसान स्वाभाविक ढंग से ही शान्तरस में हो गया है। इसकी रचना वि० सं० १२४१ में हुई थी। आदिकालीन हिन्दी का उत्तम निदर्शन है। 'सप्तक्षेत्रि रास' (वि०सं० १३२७) और 'संघपतिसमरा रास' (वि०सं० १३७१) भक्ति से सम्बन्धित हैं। इनमें भक्ति रस की प्रमुखता है। मेरुतुंग-कृत 'प्रबन्ध चिंतामणि' एक ऐतिहासिक ग्रन्थ माना जाता है। अब इसका प्रकाशन मुनि जिनविजय जी के सम्पादन में, 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' से हो चुका है। इसके कई प्रबन्धों में यत्र-तत्र ऐसे दोहे बिखरे हुए हैं, जिन्हें हम 'प्राचीन हिन्दी' सहज ही कह सकते हैं। कतिपय दोहे हैं—

जा मति पाछइ संपजइ, सा मति पहिली होइ।
मुंजु भणइ मुणालवइ, विघन न बेढ़इ कोइ॥

जइ यहु रावणु जाइयो, दह मुहु इक्कु सरीरु।
जननि वियंभी चिन्तवइ, कवनु पियाइए खीरु॥

मुंजु भणइ मुणालवइ, जुव्वणु गयउ न झूरि।
जइ सक्कर सयखंड थिय, तोइ स मीठी चूरि॥

विनयचन्द्र सूरि की 'नेमिनाथ चउपई' नेमि-राजुल परक एक प्रसिद्ध रचना है। इसे यदि बारहमासा काव्य कहें तो अनुपयुक्त न होगा। इसमें राजुल और सखी के बीच उत्तर और प्रत्युत्तर के रूप में यह पूर्ण हुई है। इसमें ४० पद्य

हैं। एक सरस कृति है।[1] प्रारम्भिक हिन्दी काव्यों में अन्यतम। माघ का माह है। हिम-राशि मत्त बन गई हैं। राजुल कहती है—हे प्रिय। मुझे अपने समीप बुला लो। हे स्वामी! तम्हारे बिना तुषार जल रहा है और, कामदेव नये-नये ढंग से मार रहा है—

माह मासि मातइ हिम-रासि देवि भजय मइ प्रिय लइ पासि।
तइ विणु, सामिय! दहइ तुसारु नव-नव मारिहि मारइ मारु ॥२०॥

इस पर सखी का कथन है कि तू जो रो रही है, यह सब अरण्य-रुदन है। क्या हाथी कान पकड़ कर काबू में किया जा सकता है। मेरी सखी! तू मुझ पर विश्वास नहीं करती कि सिद्ध रमणी में अनुरक्त होकर नेमि चला गया।

इहु सखि! रोइसि सहु अरन्नि, हत्थि कि जामइ धरणउ कन्नि।
तउ न पतीजसि माहरी माइ! सिद्धि-रमणि-रत्तउ-नमि जाउ ॥२१॥

राजुल का उत्तर है–हे सखी! कान्त मेरे हृदय में बस रहा है, फिर तेरी बात पर किस तरह विश्वास करूँ। यदि नेमि सिद्धि के पास गया तो क्या बुरा है। मैं भी उसके साथ जाऊँ, तभी तो उग्रसेन की पुत्री कहलाऊँगी।

कंति वसंतइ हियड़ा-मांहि, वाति पहीजउं किम हलसाइ[1]।
सिद्धि जाइ तउ काइं त वीह, सरसी जाउ न उग्रसेण-धीय ॥२२॥

यह साधारण नायक-नायिका का वियोग नहीं है। नायक तीर्थङ्कर है और नायिका भी मोक्षगामिनी है। हम इसे भगवद्विषयक रति मान सकते हैं। यह प्रेममूला भक्ति का दृष्टान्त है। यहाँ भक्ति के नाम पर किसी यौन-वासना को प्रश्रय न मिल सका, यह ही कारण था कि प्रेम के रंगों से बनी होने पर भी भक्ति, भक्ति ही रही। उसके भीतर से कोई जयदेव या विद्यापति झांक भी न सका।

शालिभद्ररास १४वीं शताब्दी की प्रसिद्ध रचना है। इसके रचयिता श्री राजतिलक गणि खरतरगच्छीय विद्वान् थे। आचार्य जिनप्रबोध सूरि ने उन्हें, संवत् १३२२, ज्येष्ठ बदी ९ को, जालौर में वाचनाचार्य के पद पर प्रतिष्ठित

---

१. देखिए, थार्वस, गुजराती सभा, ग्रन्थावलि ६१, बम्बई ४, सन् १९५५।

किया था। श्री अगरचन्द नाहटा का कथन है कि उनकी यह रचना 'वाचक' पद प्राप्ति के आस-पास की है। लगभग ४० वर्ष पूर्व यह रास 'जैनयुग', अंक ८, पृष्ठ ३७० पर, बड़ौदा के लालचन्द भगवानदास के गुजराती अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ था। इसके बाद दो हस्तलिखित प्रतियाँ और प्राप्त हुईं। तीनों को ध्यान में रखकर अब श्री नाहटा जी ने इसका प्रकाशन सम्मेलन पत्रिका, भाग ५५, संख्या १,२ पृष्ठ ५६-६४ पर करवाया है। इसमें ३५ पद्य हैं। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है—इसे पुरानी हिन्दी निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

पुरानी राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी के मूल रूपों में अन्तर नहीं था। इसलिए उस युग की कुछ कृतियों को राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी तीनों साहित्य में स्थान मिला हुआ है। इसमें खींचतान की बात बिल्कुल नहीं है। अगरचन्द नाहटा का कथन दृष्टव्य है, "अपभ्रंश भाषा से, प्राचीन राजस्थानी, गुजराती और हिन्दी भाषाओं का निकास प्रायः समकाल में ही हुआ, इसलिये साधारण प्रान्तीय भाषा भेद के अतिरिक्त इन भाषाओं में बहुत कुछ समानता ही थी।[1]" शायद इसी कारण, राजस्थानी के आदिकाव्य 'ढोलामारू रा दूहा' को, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में प्राप्त दोहों और विहारी सतसई के बीच की कड़ी कहा है।[2] 'ढोलामारू रा दूहा' के सम्पादकों ने लिखा था, "हिन्दी भाषा के आदिकाल की ओर दृष्टि डालने पर पता लगता है कि हिन्दी के वर्त्तमान स्वरूप के निर्माण के पूर्व गाथा और दोहा साहित्य का उत्तर भारत की प्रायः सभी देशी भाषाओं में प्रचार था। उस समय की हिन्दी और राजस्थानी में इतना रूपभेद नहीं हो गया था, जितना आजकल है। यदि यह कहा जाये कि वे एक ही थीं तो अत्युक्ति न होगी। उदाहरणों द्वारा यह कथन प्रमाणित किया जा सकता है।"[3] इस पर डॉ० द्विवेदी का मत है, "लेकिन राजस्थान के साहित्य का सम्बन्ध सिर्फ हिन्दी से ही नहीं है, एक ओर उसका अविच्छेद्य सम्वन्ध हिन्दी साहित्य से है, तो दूसरी ओर उसका घनिष्ठ सम्वन्ध गुजराती से है। कभी-कभी एक ही रचना को एक विद्वान् पुरानी राजस्थानी कहता है तो दूसरा विद्वान् उसे जूनी गुजराती कह देता है।"[4] इसी

१. सम्मेलन पत्रिका, भाग ५५, संख्या १–२, पृ० ५६।
२. 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल', पटना, पृ० ६।
३. वही, पृ० ६।
४. वही, पृ० ६।

कारण 'शालिभद्ररास' को गुजराती और हिन्दी एक साथ कहा जा सकता है। इसमें अपभ्रंश के शब्दों का बाहुल्य है। इस रास में भगवान महावीर के शिष्य शालिभद्र का चरित्र निबद्ध है। वह राजगृह के सेठ गोभद्र और भद्रा का इकलौता पुत्र था। इसकी सम्पत्ति का पारावार नहीं था। श्रेणिक का तो वह नाम भी नहीं जानता था। जिस दिन उसे विदित हुआ कि वे उसके राजा और मालिक हैं, उसने दीक्षा ले ली। अपार धन-सम्पत्ति और वैभव को त्याग दिया।

जब सवा-सवा लाख के १६ रत्नकंबलों को महाराज श्रेणिक भी न खरीद सके तो सेठानी भद्रा ने अपने लड़के की ३२ बहुओं के लिये खरीद लिये। आधा-आधा फाड़कर प्रत्येक को पैर पोंछने के लिये दे दिये। इससे सम्बन्धित दो पंक्तियाँ देखिये—

सयल कंबल भद्दा गिहेई। लखु-लखु तीह तणउ मुलु देई।
भद्दा कंबल सवि फाडेई। भज्जह पाउं छड़य करेई ॥१२॥

जब राजा को विदित हुआ, तो स्वयं भद्रा के घर गया। भद्रा ने राजा के आने की सूचना ऊपर महल में भेजी, जहाँ शालिभद्र अपनी पत्नियों के साथ विलास-क्रीड़ा में निमग्न था। उसने सोचा श्रेणिक किसी किरीयाने का नाम है, किन्तु जब उसे विदित हुआ कि श्रेणिक उसका राजा और मालिक है, तब उसने अपने बहनोई धन्ना के साथ भगवान महावीर के पास जाकर दीक्षा ले ली।

रयण कंबल रयण कंबल सव्वि फाडेइ।
भज्जाह पउछड़इ विहिय मंति वयणेण जाणिउ ॥
कोऊहलि पूरियउ सालिभद्द घरि जाइ सेणिउ।
राया पहु तूह आइयउ भद्दा सुयह कहेइ।
तउ संसार विरत्तु मणु सो सामि वंदेइ ॥२१॥

आदिकालीन हिन्दी की ऐसी अनेक जैन कृतियाँ हैं, जिनमें कोई रचनाकाल नहीं दिया है और रचयिताओं का नाम तो बिलकुल भी नहीं है। तो, एक अन्धकार में हाथ मारना पड़ता है। केवल भाषा का सहारा रहता है, वह भी बड़ा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जैन कवि १४वीं शती के बाद भी अपभ्रंश और देशजों में रचनाएँ करते रहे। पं० भगवतीदास का १७वीं शताब्दी में रचा गया 'मृगांक लेखाचरित' इसका प्रमाण है। ऐसी अनेक कृतियाँ हैं।

एक रचना 'जम्बूस्वामी सत्कवस्तु' का परिचय, डॉ० हरीशंकर शर्मा, हरीश ने महावीर जयन्ती स्मारिका, अप्रेल, १९६३ में दिया है।[1] उन्होंने इसकी हस्तलिखित प्रति जैसलमेर की एक स्वाध्यायपुस्तिका में अंकित बतलायी है। वह स्वाध्यायपुस्तिका सं० १४३७ की लिखी हुई है। इस आधार पर डॉ० हरीश का अनुमान है कि यह १३वीं शताब्दी की होगी। भाषा १३वीं शताब्दी की होने पर भी, किसी जैन कवि के विषय में यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह रचना उसी शताब्दी में रची गई थी।

सत्कवस्तु 'वस्तु' छन्द का एक विशेष भेद था। उसके २१ पद्यों में इसका निर्माण हुआ है। इसमें जैनों के अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का चरित्र निबद्ध है। इसके पूर्व जम्बूस्वामी के जीवन को आधार बनाकर संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अनेकानेक काव्यों की रचना हो चुकी थी। इसे वह परम्परा प्राप्त हुई। भाषागत सौन्दर्य इसका अपना है। इसके अतिरिक्त दर्शन, कथा और काव्यत्त्व का अच्छा समन्वय हुआ है। कवि ने एक नारी के नख-शिख का चित्र खींचा है—

कुडिल कुंतल, कुडिल कुंतल चंदसमवयणि,
खामोयरि हंसगइ कमल नयणि उन्नय पयोहरि,
सुपमाण वर रूवधर नागसेणि जंपइ मणोहरि
सरिसगुण संपत नहि अत्थि न महिला सार।
सिद्धहि कारणि कंत तुहं खिज्जिम बारहवार,
सुणिउ सुन्दर सुणिउ सुन्दर हास विलास॥१२॥

इसी प्रकार 'मृगापुत्तकम्' नाम की एक कृति का परिचय भी डॉ० हरीश ने दिया है। उन्होंने लिखा है, "१३वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, हिन्दी की इधर एक सुन्दर-सी रचना 'मृगापुत्तकम्' उपलब्ध हुई है। यद्यपि विषय की दृष्टि से इसमें अत्यधिक नवीनता नहीं उपलब्ध होती, परन्तु फिर भी, भाषा और वर्णन-क्रम की दृष्टि से रचना का पर्याप्त महत्त्व परिलक्षित होता है। प्रस्तुत रचना का लेखक अज्ञात है। मूल प्रति अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर में सुरक्षित है।" इसकी भाषा १३वीं शताब्दी की है, इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु

---

१. महावीर जयन्ती स्मारिका, पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ-सम्पादित, राजस्थान जैन सभा, जयपुर, अप्रेल १९६३, पृ० २३–२५।

उपर्युक्त बात यहाँ भी कही जा सकती है, इसके अतिरिक्त, पुराने कथानक में नवीनता खोजना औचित्य नहीं है।

मृगावती और उसके पुत्र की कथा प्राचीन है। उसी को आधार बनाकर कवि ने सुन्दर भाव अभिव्यक्त किये हैं। विषय-सुखों में डूबे पुत्र को अकस्मात् पूर्वभवों का स्मरण होता है और उसके जीवन की दिशा बदल जाती है। वह सोचता है कि भोग विष-तुल्य है। स्त्री-यौवन और लावण्य चपल हैं, किसी का साथ नहीं देते। धर्म को छोड़कर और कोई गति नहीं है—

भोग भोगविय विस सरिस मम अइघरणा
नरय गइ तिरिय गइ वेयरणा कारण।
जोइ जस रेसि जगि जीवु सवि दुह सहइ
तंजह देह नह भणिय खरण खरण इकरहइ।
चपल तणु चपल घणु चपल जुव्वरण भरो
चपल लाइन्न जीवीउ चंचल तरो।
घनु घरण सयणु सहु रहइ पूठि घरे
जीव एक्कलउ जाइ जम्मंतरे।
भुत्तवि सफलह जिम साहु मह सुन्दरो
विसयसुह नेम परिणामु नह मणहरो ॥८–१०॥

भाषा सरल और लयात्मक है। अनुप्रास की छटा और ललित गुण दृष्टव्य हैं। जीवन का अर्थ केवल भोग नहीं है, आध्यात्मिकता की ओर बढ़ना ही उसका लक्ष्य है। निर्वेद इस काव्य का स्थायी भाव है। संसार की असारता पर अधिक बल दिया है। कुल ४२ छंद हैं। हिन्दी के आदिकाल की कृतियों में इसकी गणना होनी ही चाहिए।

अनेकान्त, वर्ष १३, किरण ४ में, मैंने कविवर रइधू का 'सोऽहं' गीत देखा था। मेरी दृष्टि में वह प्राचीन हिन्दी की कृति है। डॉ० राजाराम जैन ने रइधू के 'जीवन और कृतित्व' पर एक शोध प्रवन्ध लिखा है। उसमें उन्होंने रइधू का रचना-काल वि० सं० १४६८–१५३० माना है। इस दृष्टि से वे १५वीं-१६वीं शताब्दी के कवि थे। डॉ० राजारामजी ने उन्हें अपभ्रंश का अन्तिम महान् कवि सिद्ध किया है। रइधू ने लगभग २३ कृतियों की रचना की। सभी अपभ्रंश भाषा में निवद्ध थीं। मेरी दृष्टि में १७वीं शती तक अपभ्रंश में कुछ-न-कुछ लिखा जाता रहा। अपभ्रंश-बहुल पुरानी हिन्दी भी साथ ही चली।

रइधू ने सोऽहं' में अपना परिचय देते हुए लिखा है कि—मैं न पुण्य हूँ, न पाप हूँ, न मान हूँ, न माया हूँ, मैं अलख निरञ्जन हूँ, सिद्ध हूँ, विसद्ध हूँ और परमानन्द हूँ। मैं न रूप हूँ, न स्पर्श, न गन्ध और न शब्द, न पुरुष हूँ, न नारी, न बालक हूँ, न बड़ा, न स्वामी हूँ, न दास, न धनी हूँ और न गरीब। जननी, जनक, पुत्र, मित्र और भार्या सहित सम्पूर्ण कुटुम्ब है, किन्तु कोई सहायता करने वाला दिखाई नहीं देता, सब कुछ मोह की विडम्बना है। मैं सम्पूर्ण संकल्प-विकल्पों से रहित, सहज रूप, परम अतीन्द्रिय, सुख-दुखों में सम और सब विभावों से हीन हूँ। निश्चयनय से विवेचित अपना यह रूप, भाषा की लय में बंधा एक समां उपस्थित कर देता है। पाठक विभोर हुये विना नहीं रहता। पूरा गीत इस प्रकार है—

"सोऽहं सोऽहं सोऽहं अण्णु न बीयउ कोई।
पापु न पुण्णु न माणु न माया अलख निरंजणु सोई।
सिद्धोऽहं सुविसुद्धोहं हो परमानन्द सहाउ।
देहा भिण्णइ णाणमओहं णिम्मलु सासय भाउ।
दंसण-णाणु चरित्त णिवासो फेडिय भव-भव पासो।
केवल णाण गुणेंहि अखंडो, लोयालोयपयासो।
रूपु ण फासु ण गंधु ण सद्दो चेयण लक्खणु णिच्चो।
पुरिसु ण णारि ण बालु ण बूढ़उ जम्मु ण जासु ण मिच्चो।
काय वसंतु वि काय विहीणउ भुंजंतो वि ण भुंजइ।
सामि ण किंकरु ईसु न रंको कम्मु वि एहु निओजइ।
जणणी जणणु जि पुत्तु जि मित्तू भामिणि सयल कुडंबो।
कोइ न दीसइ तुज्झ सहाई एहुजि मोह विडंबो।
हउं संकप्प - वियप्प - विवज्जउ सहज सरूप सलीणउ।
परम अतींदिय सम-सुख-मंदिरु सयल-विभाव-विहीणउ।
सिद्धहं मज्झिजि कोइम अंतरु णिच्छयणय जिय जाणी।
ववहारे बहुभाउ मुणिज्जइ इम मणि झावहु वाणी।
चित्तणिरोहउं इंदियनं तउ झावहि अंतरि अप्पा।
रइधू अक्खइ कम्मदलेप्पिणु जिमि तुहुं होहि परमप्पा॥"

अनेकान्त, वर्ष १३, किरण ४.

रइधू की भांति ही एक महात्मा आनन्दतिलक हुए। उन्होंने 'आणंदा' नाम की एक महत्त्वपूर्ण कृति की रचना की। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर

शास्त्र भण्डार, जयपुर में मौजूद है। दूसरी प्रति, मैंने दिल्ली के जैन पंचायती मन्दिर में देखी है। अब तो शायद उसका प्रकाशन भी किसी पत्र-पत्रिका में हो गया है। आणंदा में ४४ पद्य हैं। भाषा अपभ्रंश-बहुल होते हुए भी बोलचाल के शब्दों से गतिशील बनी है। निश्चित रूप से वह १४वीं शताब्दी की रचना है और रामसिंह की विचार-परम्परा का प्रतीक। आगे, कबीर आदि संत कवियों पर उसका प्रभाव देखा जा सकता है। मैंने ऐसा "जैन अपभ्रंश का हिन्दी के निर्गुण काव्य पर प्रभाव' में दिखाया भी है। यह एक सरस कृति है।

'थूलिभद्दफागु' आदिकालीन हिन्दी का गौरवपूर्ण काव्य है। जिनपद्मसूरि ने इसकी रचना वि० सं० १४ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में की थी। इसमें, कोशा (वेश्या) के मादक सौन्दर्य के परिप्रेक्ष्य में एक अडिग तपस्वी का चित्र है। वह भाषा की सहज तूलिका से और भी जीवन्त बना है। प्रत्येक पाठक किसी जाति और धर्म का हो, किसी देश और काल का हो, इसे पढ़कर विमुग्ध हो उठेगा, ऐसा मुझे विश्वास है। राजशेखर सूरि ने वि० सं० १४०५ में नेमिनाथ फागु की रचना की थी। यह भी एक सामर्थ्यवान रचना है। मैंने इसका विवेचन 'हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि' में किया है। इसकी प्रशंसा में डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन द्रष्टव्य है, "जिस प्रकार राधासुधानिधि में राधा की शोभा के वर्णन में कवित्व है और वह कवित्त्व उपास्यवुद्धि से चालित है, उसी प्रकार राजलदेवी की शोभा में कवि व है और वह उपास्यवुद्धि से चालित भी है। कौन कह सकता है कि इस शोभा वर्णन में केवल धार्मिक भावना होने के कारण कवित्त्व नहीं है।"[1]

इस प्रकार पं० रामचन्द्र शुक्ल के तथाकथित 'वीरगाथा काल' में वीर ही नहीं समरूप से शृंगार और शान्त रस भी प्रधान थे। अतः केवल 'वीरगाथा काल' नितान्त अनुपयुक्त नाम है। इस काल की भाषा, यद्यपि अपभ्रंश-बहुल थी, किन्तु तत्कालीन बोलियों के सम्मिश्रण से एक ऐसी सरस भाषा का जन्म हुआ, जिसमें विविध चरिउ, रास और फागु तथा मुक्तक गीतों की रचना सम्भव हो सकी। उनको केवल नोटिस-मात्र कहकर नहीं छोड़ा जा सकता।

इसी प्रकार अपभ्रंश के साहित्य निर्माण में भी जैन आचार्यों का महत्त्व-पूर्ण योग रहा है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। डॉ० माताप्रसाद गुप्त

---

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पटना, पृ० १२–१३।

का कथन है, "अपभ्रंश के साहित्य की श्रीवृद्धि में जैन कृतिकारों का योग असाधारण है। जब अपभ्रंश बोलचाल की भाषा नहीं रह गई थी और उसका स्थान आधुनिक आर्यभाषाओं ने ले लिया था, उसके बाद भी सात आठ शताब्दियों तक जैन कृतिकारों ने अपभ्रंश की जो सेवा की, वह भारतीय साहित्य के इतिहास में ध्यान देने की वस्तु है[1]।" जैनेतर कवियों ने भी अपभ्रंश में लिखा, किन्तु वह उपलब्ध कम ही होता है। बौद्ध सिद्धों की रचनाएँ तो प्राप्त भी हैं। इसके अतिरिक्त, 'प्राकृत पैंगल' में और अन्य जैन प्रबन्धों में अनेक ऐसे उद्धरण हैं, जो जैनेतर कवियों ने लिखे थे। अपभ्रंश का समृद्ध साहित्य था। वह प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाओं के मध्य, शताब्दियों तक प्रतिष्ठित बना रहा–पहले बोलचाल के रूप में, फिर साहित्यिक पद पर। इधर, जैन ग्रन्थ-भण्डारों में पर्याप्त अपभ्रंश साहित्य मिला है और मिल रहा है। उसके सम्पादित और प्रकाशित होने पर विद्वानों के अनेक भ्रमों का उन्मूलन होगा, ऐसी सम्भावना है।

प्राकृत व्याकरण लिखते समय पिशेल के पास अपभ्रंश की अत्यल्प सामग्री थी। उन्होंने अपने प्राकृत व्याकरण के परिशिष्ट रूप में उपलब्ध अपभ्रंश सामग्री को 'मातेरियाल्यन केन्त्रिस, त्सूर अपभ्रंश' के नाम से दिया। इसमें उन्होंने केवल–कालिदास के विक्रमोर्वशीय के कुछ अपभ्रंश पद्य, चंड के प्राकृत व्याकरण में आया एक अपभ्रंश पद्य, हेमचन्द्र शब्दानुशासन में उदाहृत अपभ्रंश के दोहे तथा दशरूपक, ध्वन्यालोक और सरस्वतीकण्ठाभरण में समाहृत अपभ्रंश पद्यों को ही आधार बना पाया था। इससे अधिक अपभ्रंश साहित्य, उस समय तक विदित ही नहीं हो सका था। यह कहा जाता था कि अपभ्रंश साहित्य लुप्त हो गया है। पिशेल ने इतनी अल्प सामग्री के आधार पर, अपभ्रंश के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा, वह आज भी अनुपम है।

जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० हरमन याकोबी, सन् १९१३–१४ में भारतवर्ष में आये। उन्हें जैन शास्त्रों के अध्ययन में ख्याति मिल चुकी थी। उन्होंने अहमदाबाद के जैन ग्रन्थ भण्डार को टटोला। उन्हें एक जैन साधु के पास धनपाल धक्कड़ की भविसयत्तकहा प्राप्त हुई। एक अन्य जैन साधु के पास उन्हें अपभ्रंश का 'नेमिनाथ चरित' भी मिला। वे इन दोनों ग्रन्थों को जर्मन

---

१. प्रद्युम्न चरित, पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ सम्पादित, जैन साहित्य शोध संस्थान, जयपुर, १९६०, प्राक्कथन, डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ४।

ले गये। सन् १६१८ में म्यूनिक की रायल एकेडेमिक सोसाइटी से 'भविसयत्त कहा' का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित हुआ। सन् १६२१ में नेमिनाथ चरित की एक अन्त:कथा—'सुदंसण चरिउ' भी वहाँ से ही प्रकाशित हुई।

बड़ौदा के महाराज सर सयाजीराव गायकवाड़ प्राचीन ग्रंथों की शोध-खोज में अधिक रुचि लेते थे। उनकी आज्ञा से श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण के जैन ग्रन्थ भण्डार का परीक्षण किया और अपभ्रंश के कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को खोज निकाला। उनमें सन्देशरासक, चच्चरी, भावनासार, परमात्मप्रकाश, भविसयत्तकहा और 'पउमचरिउ' जैसे प्रसिद्ध ग्रंथ भी थे। उन्होंने स्वयं भविसयत्तकहा का प्रामाणिक सम्पादन प्रारम्भ किया, किन्तु आकस्मिक मृत्यु के कारण डा० गुणे ने इस कार्य को सम्पन्न किया।

भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट की स्थापना सन् १६१८ में हुई। डकन कॉलिज में सुरक्षित प्रतियाँ यहाँ लाई गईं। मुनि जिनविजयजी ने जैन ग्रंथों का परीक्षण किया। उन्हें महत्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रन्थों का पता लगा। पुष्पदन्त का महापुराण उन्हीं की खोज है। उन्हें स्वयंम्भू के 'पउमचरिउ' और 'हरिवंशपुराण' भी प्राप्त हुये। उन्होंने 'सिंघी जैन ग्रंथमाला' के अन्तर्गत अनेक अपभ्रंश ग्रन्थों का सम्पादन किया और प्रकाशन करवाया। उनका समूचा कार्य ऊँची विद्वत्ता का प्रतीक है। वे एक साधक हैं और अब भी साधना में दत्तचित्त हैं।

डॉ० हीरालाल जैन ने बरार के कारंजा-स्थित जैन भण्डारों की शोध-खोज की और जोइंदु, रामसिंह तथा कनकामर के अपभ्रंश साहित्य को प्रकाश में लाये। स्वयं सम्पादन किया और खोजपूर्ण भूमिकाएँ लिखीं। अभी, उनके द्वारा सम्पादित 'मयणपराजयचरिउ', भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित हुआ है। डॉ० हीरालालजी ने शोध पत्रिकाओं में अपभ्रंश भाषा और साहित्य से सम्बन्धित अनेक शोध निबन्ध लिखे, जो आज भी अनुसन्धित्सुओं के मार्गदर्शक हैं। इसी समय के ख्याति-प्राप्त विद्वान् पं० नाथूराम प्रेमी ने अपने त्रैमासिक पत्र 'जैन साहित्य संशोधक' में 'पुष्पदन्त और उनका महापुराण'—जैसे एकाधिक शोध निबन्ध लिखे। उनका संकलन, उन्होंने 'जैन साहित्य का इतिहास' में किया है।

अपभ्रंश साहित्य की शोध-खोज के सन्दर्भ में डॉ० एन० उपाध्ये और डॉ० पी० एल० वैद्य ने भी साधना की है। उन्होंने क्रमशः जोइंदु के परमात्म

प्रकाश योगसार का तथा पुष्पदन्त के महापुराण का आदर्श सम्पादन किया। उनकी भूमिकाएँ तो शोध निबन्ध ही हैं। इतना परिश्रम आज के विद्वान् नहीं कर पाते। डॉ० उपाध्ये को मैंने सतत कार्यरत देखा है।

बौद्धों के अपभ्रंश साहित्य को प्रकाशित करने का श्रेय म० म० हरप्रसाद शास्त्री को है। उन्होंने 'बौद्धगान और दूहा' के द्वारा, बौद्धों को अपभ्रंश साहित्य का सर्वप्रथम परिचय कराया। डॉ० शहीदुल्ला और डॉ० बागची ने भी बौद्ध अपभ्रंश साहित्य के सम्पादन में रुचि दिखाई है।

इधर, राजस्थान के ग्रन्थ भण्डारों की तालिकाएँ डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल ने तैयार की हैं। उनका प्रकाशन भी महावीर भवन, जयपुर से हो गया है। उनमें अनेकानेक अपभ्रंश ग्रन्थों की सूचना है। पं० परमानन्द शास्त्री ने 'जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह' भाग २ में अपभ्रंश के प्रसिद्ध ग्रंथों की प्रशस्तियाँ और कवियों का परिचय दिया है। ग्रन्थ ठोस और महत्वपूर्ण है। नागौर के ग्रन्थ भण्डार को खोजने की महती आवश्यकता है। एक बार उसके भट्टारक जी से आगरा में भेंट हुई थी। उनके अनुसार इस भण्डार में अपभ्रंश की विविध कृतियाँ हैं। मैं डॉ० भोलाशंकर व्यास के इस कथन से पूर्ण सहमत हूँ कि "अपभ्रंश की असंख्य पुस्तकें आज भी जैन भण्डारों में भरी पड़ी हैं।"[1]

जैन अपभ्रंश साहित्य को प्रबन्ध काव्य, खण्ड काव्य, रूपक, रासा, मुक्तक, चर्चरी आदि कई भागों में बांटा जा सकता है। उसके पूर्ण परिचय के लिए एक पृथक् प्रामाणिक ग्रन्थ की आवश्यकता है। यह सच है कि कोई स्वतन्त्र नाटक अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। संस्कृत नाटकों में अपभ्रंश गद्य-पद्य के उद्धरण विखरे मिल जाते हैं। जैन अपभ्रंश का कोई स्वतन्त्र गद्य-ग्रंथ भी प्राप्त नहीं हुआ है। कुवलयमालाकहा (उद्योतन सूरि-रचित) में यत्र-तत्र अपभ्रंश गद्य मिल जाता है। इसके दो शिलालेख भी अपभ्रंश गद्य में हैं।[2]

विद्वान् अपभ्रंश साहित्य का प्रारम्भ वि० सं० ६०० से मानते हैं, जो मोटे तौर पर अबाध गति से १२०० तक चलता रहा। यद्यपि वि० सं० १००० से प्राचीन हिन्दी युग प्रारम्भ हो गया था, किन्तु वह रही अपभ्रंश-बहुल ही।

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्र० मा०, पृ० ३३८।

२. रायबहादुर हीरालाल का इन्सक्रप्शन, ना० प्र० प०, भाग ६, अङ्क ४, पृ० ५, दूसरा लेख बम्बई म्युंजियम में सुरक्षित है।

यह एक स्पष्ट ढलाव था, जो बोलियों के सम्मिश्रण से, प्रान्तीय भाषाओं का जन्मदाता बना। राजस्थानी, गुजराती, बंगला, हिन्दी आदि भाषाओं का इसी भांति जन्म हुआ। इनके साथ-साथ अपभ्रंश में भी रचनाएँ होती रहीं, किन्तु उनको बहुत अधिक नहीं कह सकते। यह कथन भ्रामक है कि अपभ्रंश जैनों की धार्मिक भाषा हो गई थी,[1] इसी कारण वे आधुनिक आर्यभाषाओं के जन्म के बाद भी उसमें लिखते रहे। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि आर्यभाषाओं का प्रारम्भिक साहित्य अधिकाधिक रूप में जैन कवियों और आचार्यों के द्वारा रचा गया। चाहे हिन्दी हो, गुजराती या राजस्थानी, उसका प्राचीन साहित्य जैन साहित्य है। यह एक ऐसा तथ्य है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यद्यपि अपभ्रंश साहित्य भी रचा गया, किन्तु अपेक्षाकृत कम। इसका एक कारण यह भी था कि प्राचीन हिन्दी और अपभ्रंश में कोई विशेष भेद नहीं था। एक ही कवि की, यदि दो कृतियों में अपभ्रंश का अधिक पुट होता था, तो चार में तत्कालीन बोली का अधिक सम्मिश्रण हो जाता था और वह हिन्दी या अन्य प्रांतीय भाषा का रूप ले लेती थी। कवि विद्यापति की 'कीर्तिलता' को अपभ्रंश में गिना जा सकता है तो पदावली को हिन्दी में।

अपभ्रंश लोकभाषा थी। उसमें आगे चल कर पर्याप्त साहित्य रचना हुई। 'कुवलयमाला कहा' के रचयिता उद्योतनसूरि ने उसकी प्रशंसा में लिखा, "ता किं अवहंस होहइ? हूँ तं पि णो जेण सक्कअ–पाय उभय सुद्धासुद्ध पयसमतरंग रंगंतवग्गिरं णव पाउस जलयपवाह पूर पव्वालिय गिरिणइ सरिसंसमं विसमं पणयकुवियपियपणइणी समुल्लावसरिसं मणोहरं॥"[2] इसका अर्थ है, "अपभ्रंश क्या होती है? जिसमें दोनों–संस्कृत और प्राकृत के शुद्धाशुद्ध रूप पदों का मिश्रित रूप पाया जाता है, जो नववर्षाकालीन मेघप्रवाह के पूर द्वारा प्लावित, गिरि-नदी के वेग समान, सम और विषम होता हुआ भी, प्रणयकोप से युक्त कामिनी के वार्त्तालाप की तरह मनोहर है।" स्वयम्भू ने भी 'पउम चरिउ' में लिखा है, "सक्कय-पायय-पुलिणां लंकिय देसी भासा उभय तडुज्जल। कवि दुक्कर-घण-सद्द-सिलायल॥"[3] अर्थात् अपभ्रंश एक नदी के समान है, जिसके संस्कृत और प्राकृत दो तट हैं, वह दोनों का स्पर्श करती हुई घनपद-संघटना की चट्टानों

---

१. प्रद्युम्न चरित्र, प्राक्कथन, डॉ० माताप्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ४।

२. देखिए 'कुवलयमाला काहा'।

३. देखिए स्वयम्भू का 'पउमचरिउ'।

से टकरा कर बहती है। आगे चल कर काव्यशास्त्र के आचार्यों-रुद्रट, राजशेखर, पुरुषोत्तम, नमि साधु, हेमचन्द्र आदि ने भी अपभ्रंश को मान्यता दी।

अपभ्रंश की परम्परा हिन्दी को मिली। केवल छन्द और अभिव्यञ्जना के रूप में ही नहीं, अपितु विषय-गत प्रवृत्तियों के रूप में भी। इस ग्रन्थ में निबद्ध मेरा निबन्ध 'जैन अपभ्रंश का हिन्दी के निर्गुण भक्ति काव्य पर प्रभाव' है। इसमें मैंने लिखा है कि कबीर आदि निर्गुनिए सन्तों ने जो कुछ कहा, ठीक वैसा ही, कहीं-कहीं हू-बहू जोइंदु के परमात्मप्रकाश-योगसार, देवसेन के सावयधम्मदोहा, मुनि रामसिंह के पाहुड़दोहा, मुनि महचन्द के दोहापाहुड़ और आनन्दतिलक के 'आणंदा' आदि दूहा साहित्य में बहुत पहले ही लिखा जा चुका था। यह साहित्य स्पष्ट रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है— एक तो वह, जिसमें वीर-शृंगार प्रमुख था और एक वह, जो अध्यात्म-प्रधान था। मैंने दूसरे को लिया है। डॉ० हीरालाल जैन और डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने इसको रहस्य वादी भी कहा है। डॉ० भोलाशंकर व्यास का अभिमत है, "योगीन्द्र तथा रामसिंह की रचनाओं को रहस्यवाद कहने के पहले हमें रहस्यवाद के अर्थ को परिवर्तित करना होगा। अच्छा हो हम उन्हें अध्यात्मवादी या अध्यात्म-परक काव्य ही कहें।"[1] मैं नहीं जानता कि डॉ० व्यास की रहस्यवाद की परिभाषा क्या है? वह उन्होंने दी नहीं। कबीर के रहस्यवाद की विशेषता थी-समरसी-भाव। आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को समरस कहते हैं। यह बात अपभ्रंश के दूहाकाव्य में पहले से है। यदि ब्रह्म की भावात्मक अभिव्यक्ति रहस्यवाद है तो वह जैन काव्यों में अवश्य ही उपलब्ध होती है। उसे यदि कोई केवल अध्यात्मवाद कहे, तो भी मुझे आपत्ति नहीं है। इस निबन्ध से मेरा तात्पर्य इतना ही है कि निर्गुण काव्यधारा के कबीर आदि सन्त कवियों में जो प्रवृत्तियाँ थीं, वे जैन अपभ्रंश काव्य में पहले से ही प्राप्त होती हैं।

कबीर को नाथ सम्प्रदाय की जो सीधी परम्परा मिली थी, उसमें जैनों के दो प्राचीन सम्प्रदाय 'पारस' और 'नेमि' अन्तर्भुक्त हुए थे, ऐसा डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'नाथ सम्प्रदाय' नाम के ग्रंथ में लिखा है। किसी समय नेमि सम्प्रदाय सौराष्ट्र-गिरिनार की तरफ फैला हुआ था। उस पर एक अनुसन्धित्सु काम कर रहा है। जहाँ तक 'परस' सम्प्रदाय का सम्बन्ध है मैं कतिपय प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इतना कह सकता हूँ कि कुछ पार्श्वापत्यीय साधु

---

१. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्र० भा०, काशी, पृ० ३४७।

भगवान महावीर के पंचयाम धर्म में दीक्षित नहीं हुए। क्यों? इसका उत्तर देते हुए श्री भगवानदास झावेरी ने अपने ग्रन्थ 'comparative and critical study of Mantra shastra' में लिखा है कि उन साधुओं ने अपने जीवन को जो आसान मोड़ दे लिया था, जो मनोनीत ढंग अपना लिया था, जो स्वतन्त्रता सहेज ली थी, उसे त्याग न सके। वे धार्मिक आवरण में प्रच्छन्न साधु, 'निमित्तों' और 'विद्याओं' की जानकारी के बल पर जनता में मान्यता प्राप्त करते रहे। वे लम्बा झगूला पहनते और हाथ में भिक्षा-पात्र लिये रहते थे।[1] मेरी दृष्टि में इन साधुओं ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ के चातुर्याम के एक मजबूत याम 'अपरिग्रह' को ठीक नहीं समझा। उसमें ब्रह्मचर्य शामिल था। उन्होंने उसको महत्त्व नहीं दिया। उसका मुक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं माना। जैनधर्म के मूल सिद्धान्त को विस्मरण कर, केवल मन्त्र-जन्त्र को सहेजे वे अस्तित्त्व-हीन से रह गये। फिर, ऐसे अनेकानेक लघु सम्प्रदायों ने मिल कर नाथ सम्प्रदाय को जन्म दिया।

कुछ विद्वानों का अनुमान है कि 'नाथ सम्प्रदाय' का 'नाथ' नाम जैनों के चौबीस तीर्थंकरों के नाम के अन्तिम पद से सम्बन्ध रखता है। आश्चर्यजनक रूप से प्रत्येक तीर्थंकर के नाम का अन्तिम पद 'नाथ' पर ही समाप्त होता है, जैसे ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ आदि। यदि यह मान भी लें तो भी नाथों में अश्लील प्रतीकों वाली बात बौद्ध सिद्ध साधुओं की देन है, ऐसा मैं समझ पाता हूँ। किन्तु, उन्हें भी कहाँ से मिली? एक प्रश्न सहज ही उठता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है, "पूरब में बुद्ध के पहले से ही कई अनार्य जातियाँ-किरात, यक्ष, गन्धर्व आदि रहती थीं, जो अत्यधिक विलासी थीं। ये जातियाँ कामदेव, वरुण और वृक्षों की उपासना करती थीं। इन्हीं के एक देवता वज्रपाणि थे। यही यक्ष-परम्परा भारतीय संस्कृति को प्रभावित कर एक ओर घुस पड़ी, दूसरी ओर उसने बौद्ध धर्म को प्रभावित किया।"[2] डा० द्विवेदी ने ही 'नाथ सम्प्रदाय' में लिखा है, ब्रजपाणि बोधिसत्व मान लिये गये। आगे जाकर इनके विलासमय जीवन, मदिरापान आदि ने बौद्ध धर्म को जन्म दिया, जिसमें मदिरापान और स्त्री-संग आवश्यक बन गया।"[3] इसी सन्दर्भ में डॉ० भोलाशंकर व्यास का कथन है, बौद्ध तांत्रिकों से होती हुई यह परम्परा शैव

'Comparative and Critical study of Mantra Shastra', भगवानदास झावेरी, अहमदाबाद, पृ० १५२।

२. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २२८–२३३।

३. नाथ सम्प्रदाय, डॉ० द्विवेदी, पृ० ८२–८३।

और शाक्त साधना के पंचमकार का रूप पल्लवित करने में समर्थ हुई। ईसा की सातवीं और आठवीं शती में बिहार-बंगाल बौद्ध तांत्रिकों के केन्द्र थे। एक ओर इस तांत्रिक साधना का प्रभाव बौद्ध सतों की रचनाओं में पाया जाता है, जहाँ उन्होंने अपनी रहस्यात्मक मान्यताओं को स्त्री-सग सम्बन्धी प्रतीकों से व्यक्त किया है, दूसरी ओर विद्वानों ने इस तरह की प्रतीक-रचना में यह भी कारण ढूँढा है कि वे ब्राह्मण धर्मानुयायी पण्डितों को चिढ़ाने के लिए ऐसी वस्तुओं को विहित घोषित करते हैं, जिन्हें ब्राह्मण धर्म निषिद्ध मानता था।"[1]

कबीर के प्रतीकों में यह अश्लीलता नाम-मात्र को भी नहीं है। उनका मुख्य स्वर बाह्याडम्बरों के विरोध, जाति-पांति की निन्दा, सहज साधना और दिल में बसे ब्रह्म से प्रेम में रम गया था। यह बात जैन धर्म के मूल में ही पाई जाती है—सिद्धान्त रूप से। सिद्ध संतों में भी कर्माडम्बरों का विरोध है, ग्रन्थ-गत ज्ञान का उपहास है, किन्तु उनका स्वर ब्राह्मण-प्रतिक्रिया का परिणाम था, उनके मूल में ऐसा न था।

जैनों के मन्त्र-तन्त्र के सम्प्रदाय, जो भगवान पार्श्वनाथ को आधार बना कर पनप उठे थे, कितने ही विकृत हुये हों, किन्तु उनमें बौद्ध तांत्रिकों – जैसी अश्लीलता कभी नहीं आई। आचार्य सुकुमारसेन के 'विद्यानुशासन' और मल्लि-षेण के 'भैरवपद्मावतीकल्प' तथा 'ज्वालामालिनीकल्प' – जैसे ग्रन्थों में भी यह बात नहीं है। इसके साथ ही, इन सम्प्रदायों में जैन तत्व किसी-न-किसी रूप में बना रहा। उन्होंने कर्मकाण्ड का खुला विरोध किया, अदृष्ट, अमूर्तिक, निरंजन, आत्मब्रह्म को ही मुख्य माना और शरीर के सम्बन्ध में उठी समूची मान्यताओं को धार्मिक मानने से इन्कार कर दिया। आगे चलकर 'नाथ सम्प्रदाय' के इसी तत्व ने हिन्दी के 'निर्गुनिए सन्तों' को प्रभावित किया।

जैन संत योगीन्दु, रामसिंह, देवसेन, लक्ष्मीचन्द, आनन्दतिलक आदि में भी यही तत्व प्रबल था। डॉ० भोलाशंकर व्यास ने एक स्थान पर लिखा है, "इन दोनों (योगीन्दु और रामसिंह) पर बौद्ध तांत्रिकों तथा शाक्त योगियों का स्पष्ट प्रभाव है।"[2] इसी सन्दर्भ में उन्होंने एक दूसरे स्थान पर लिखा, "यह दूसरी बात है कि जैन कवियों के इन दोहों में बौद्धों या नाथ सिद्धों जैसा विध्वंसात्मक

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्र० भा०, काशी, पृ० ३४९-५०।
२. देखिए वही, पृ० ३४८।

रूप नहीं पाया जाता।"[1] मैंने जहाँ तक उन्हें पढ़ा और समझा है, उनमें विध्वंसात्मकता नाम-मात्र को भी नहीं है। उन्होंने अपने विचारों को प्रस्तुत-भर किया है, कण्ह या सरह की तरह किसी को डांटा-डपटा या फटकारा नहीं है। केवल ग्रन्थ-ज्ञान मोक्ष नहीं दिला सकता, उसके लिए 'ॐ' का उच्चारण आवश्यक है, इसको प्रस्तुत करते हुए रामसिंह ने लिखा—

बहुवह पढियइं मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खरु पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण॥

पाहुड दोहा—९७

इसका अर्थ है—"अरे मूढ़! तूने बहुत पढ़ा, जिससे तेरा तालू सूख गया। अरे! तू उस अक्षर को क्यों नहीं पढ़ता, जिसके पढ़ने से जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है।" यह किसी को फटकारना नहीं, अपितु अपने को ही समझाना है।

जहाँ भक्ति है, वहाँ शान्त-रस अनिवार्य है, दोनों में अविनाभावी सम्वन्ध है। अजैन भक्ति-परक काव्यों में भी शान्त-रस ही प्रधान माना जाता है। जैन काव्य तो प्राय: अध्यात्म-मूला भक्ति के निदर्शन ही हैं। अत: उनमें शान्त-रस की जैसी रसधार देखने को मिलती है, अन्यत्र नहीं। जैनाचार्यों ने शान्त को रसों का नायक माना है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने और रसों को अहमियत नहीं दी। वीर, शृंगार, रौद्र आदि रस भी वहाँ यथाप्रसंग स्वाभाविक रूप से आये हैं, किन्तु प्रमुखता शान्त रस को ही है। वह उनके विषय के अनुकूल था। जहाँ अनन्त ज्ञान और दर्शन रूप आत्मा जीवन का लक्ष्य होगी, वहाँ शान्त ही रस-नायक होगा। मैंने अपने निवन्ध 'मध्यकालीन हिन्दी काव्य में शान्ता भक्ति' शीर्षक के अन्तर्गत, मध्ययुगीन हिन्दी के जैन भक्ति-परक काव्यों को आधार बनाकर भक्ति और शान्तरस का सम्वन्ध दिखाने का प्रयास किया है। पाठक उसका मूल्यांकन करेंगे।

बनारसीदास मध्यकालीन हिन्दी काव्य के सामर्थ्यवान कवि थे। उन पर डॉ० रवीन्द्रकुमार जैन ने एक शोध-प्रबन्ध लिखा है। अब यह पुस्तकाकार रूप में भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित हो गया है। किन्तु उसमें मुझे कहीं बनारसीदास की भक्ति-विवेचना प्राप्त नहीं हुई। बनारसीदास एक भक्त कवि

१. वही, पृ० ३४८।

थे, ऐसा मैं मानता आया हूँ। भले ही फिर वह भक्ति आध्यात्ममूलक हो, किन्तु थी भक्ति। 'अध्यातमियाँ सम्प्रदाय' का सदस्य होने के कारण वनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' और उस पर लिखे गये अमृतचन्द्राचार्य के कलशों तथा राजमल्ल की वालवोधिनी टीका का सूक्ष्म अध्ययन किया था। ये सव दर्शन के ग्रन्थ हैं, किन्तु वनारसीदास को जन्म से ही एक भावुक कवि का हृदय प्राप्त हुआ था। अल्पवय में ही एक सहस्र-पद्य प्रमाण की रचना इसका प्रमाण है। व्यापार में असफल होकर मधुमालती की कथा सुनाने वाला अवश्य ही सहृदय था। भक्ति और भाव का गहरा सम्बन्ध है। वनारसीदास दर्शन पढ़कर भी दार्शनिक न वन सके। उन्होंने समूचे आध्यात्मिक अध्ययन को भक्ति और भाव के सांचे में ढाल दिया। वे प्रथमतः भक्त थे, फिर और कुछ। अध्यात्म की आधार भूमि ने उनको अध्यात्ममूला वना दिया है। उसे हम ज्ञानमूला भी कह सकते हैं। मैंने 'कवि वनारसीदास की भक्ति साधना' में, यह सव कुछ विशद रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

'जैन समाधि और समाधिमरण' में जैन-बौद्ध और हिन्दू ग्रन्थों में वर्णित समाधियों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है। समाधिमरण और सल्लेखना जैनों का अपना एक विशेष तत्त्व है। इस पर कुछ अनजानकार लोग दोषारोपण करते रहते हैं कि वह आत्महत्या है। मैंने अपने निवन्ध में प्रमाण, तर्क और आगम के आधार पर इसका निराकरण किया है। अनेकानेक उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं। जिज्ञासु अवश्य ही समझ सकेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है।

'भगवान् महावीर और उनके समकालीन जैन साधक' निवन्ध को और अधिक विस्तृत करना चाहता था, किन्तु समयाभाव के कारण ऐसा न कर सका। फिर भी जितना है, उससे तत्कालीन युग का परिचय तो अवश्य ही मिल जाता है। सच यह है कि महावीर के पंचायम में बहुत से पार्श्वापत्यिक सम्मिलित हो गये और कुछ नहीं भी हुये। वे भी अपने को जैन साधक मानते रहे। इनका पूरा विवरण एक ग्रंथ की अपेक्षा रखता है।

अन्त में, इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि 'जैन शोध और समीक्षा' के रूप में मेरा यह प्रयत्न यदि पाठकों को भाया और रुचा तो मैं उसे कृतकृत्य समझूंगा। परम पूज्य १०८ मुनिश्री विद्यानन्दजी ने इस ग्रंथ के सभी शोध निवन्धों को आद्योपान्त देखा है। उन्हें रुचिकर हुए और उन्होंने हिन्दी भाषा-

भाषियों के लिए इस ग्रन्थ की उपादेयता स्वीकार की है, इसे मैं अपना पुण्य-कर्म मानता हूँ। उनके पावन चरणों में आभार तो नहीं श्रद्धा समर्पित करता हूँ। दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी के मंत्री श्री ज्ञानचन्दजी खिन्दूका तथा क्षेत्र की धर्म प्रचार एवं प्रकाशन समिति के संयोजक श्री केशरलालजी अजमेरा (स्वर्गीय) ने इसके प्रकाशन में जो तत्परता, जो सद्भाव दिखाया है, वह प्रत्येक प्रकाशक में नहीं मिलता, मैं उनके प्रति अतीव आभारी हूँ। डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल की देखभाल में इस ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ, वे मेरे मित्र हैं। उनके सहयोग के लिए क्या लिखूँ। वे अपने ही हैं।

दि० जैन कॉलिज, बड़ौत (मेरठ)
दिनांक ७ सितम्बर, १९६९

—**डॉ० प्रेमसागर जैन**

विषय-सूची

भगवान महावीर और उनके समकालीन जैन साधक

महावीर एक ऐतिहासिक पुरुष थे। उनका महात्मा गौतमबुद्ध से पृथकत्व प्रमाणित हो चुका है। कभी दोनों को एक ही समझ लिया गया था। यह भ्रम पाश्चात्य विद्वानों ने उत्पन्न किया था। निराकरण भी उन्हीं ने किया। सबसे प्रथम जैकोबी और डा० ल्युमान ने जैन आगम सूत्रों के आधार पर सिद्ध किया कि महावीर बुद्ध से पृथक ही नहीं अपितु उनसे कुछ वर्ष बड़े भी थे। डा० ल्युमान ने लिखा कि महावीर की तीर्थङ्कर संज्ञा वैसी ही निराली है, जैसी बुद्ध की तथागत।[1]

फिर भारतीय विद्वानों का प्रयास भी प्रारम्भ हुआ। डा० काशीप्रसाद जायसवाल ने खारवेल का शिलालेख १६ वर्ष में पढ़ा। उसमें लिखा है, "वधमान से स यो वे (व) नाभि विजयो", अर्थात् बचपन में खारवेल का सौन्दर्य महावीर जैसा था। खारवेल कलिङ्ग का राजा था और मगध से जिनमूर्ति जीतने के उपरान्त उसने यह शिलालेख उत्कीर्ण करवाया था। इसका समय ईसा से १७० वर्ष पूर्व माना जाता है। इससे भी पूर्व का एक और प्रमाण उपलब्ध हुआ है। वह है वडली (राजस्थान) से प्राप्त एक शिलालेख। उसमें लिखा है, "विराय् भगवत् ८४ चतुरासिति वस·········· ··झाये सालिमालिनीयर निविठ

---

१. बुद्ध अने महावीर, पूना, पृ० १२।

मज्झिमिके।" अर्थात् भगवान महावीर के लिए ८४ वें वर्ष में मध्यमिका में सालिमालिनि। डा० जायसवाल ने इसका उत्कीर्ण काल ३७४ ई० पूर्व माना है।[1] मथुरा के कंकाली टीले की खुदाइयों में अनेक ऐसे शिलापट्ट मिले हैं, जो ईस्वी पूर्व प्रथम शती के हैं। जहां तक मूर्तियों का सम्बन्ध है वह सबसे प्राचीन ५३ ई० पूर्व है, जो कनिष्क के राज्य काल में रची गई थी। यह मथुरा की खुदाइयों में प्राप्त हुई है। जैन स्तूप और मूर्तियाँ भगवान पार्श्वनाथ के समय में ही बनने लगी थीं।[2] मोहनजोदड़ो की खुदाइयों से तो अब मूर्तिकला का इतिहास बहुत पीछे तक चला जाता है। मोहनजोदड़ो की मूर्तियों में से एक पर डा० प्राणनाथ ने 'श्रीजिनाय नमः' पढ़ा है।

पुरातत्व के अतिरिक्त प्राचीन ग्रंथ भी महावीर के पुनीत अस्तित्व को प्रमाणित करने में सहायक हैं। ऋग्वेद और यजर्वेद में महावीर का उल्लेख है। मज्झिमनिकाय, न्यायबिन्दु, अंगुत्तरनिकाय, संयुक्तनिकाय, और समागम सुत्त आदि बौद्ध ग्रन्थों में महावीर की प्रशंसा की गई है। पट्खण्डागम सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, सूत्रकृतांग सूत्र, जयधवल और नन्दी सूत्र आदि प्राचीन जैन सूत्र ग्रंथों में महावीर की वन्दना में अनेक पद्यों का निर्माण हुआ है। महावीर की सबसे प्राचीन स्तुति दूसरे अंग सूत्रकृतांग में उपलब्ध है। इसके पश्चात् आचार्य समन्तभद्र की वीर स्तुति हृदयग्राही है। उसके बाद तो संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में रचा गया 'वीर' परक जैन साहित्य इतना अधिक है कि 'महावीर और उनकी भक्ति' लेकर एक शोध प्रबन्ध ही लिखा जा सकता है। महावीर केवल जैन समाज के ही नहीं, अपितु समूची भारतीय चेतना के प्रेरणा सूत्र रहे हैं। भारतीय संस्कृति की पावनता महावीर की देन है।

जैन आगम सूत्रों में महावीर का जीवन चरित्र बहुत कुछ सुरक्षित है। उनमें भी पंचमांग भगवती या 'विवाह प्रज्ञप्ति' अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। उसमें भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री संकलित है। विशेषता है कि गोशालक का वर्णन करते हुए भगवान ने अपने मुंह से अपनी आत्म कथा कही है।[3] इसी अंग में भगवान के समकालीन अनेक व्यक्तियों का वर्णन है।

---

१. जर्नल आफ दी बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १६ पृ० १६७
२. मदनमोहन नागर, मथुरा का जैन स्तूप और मूर्तियां, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २८०।
३. इसकी तुलना पव्वज्जा-सुत्त [सुत्तनिपात] में वर्णित बुद्ध की आत्मकथा से की जा सकती है।

इसी भाँति पहले अंग आचारांग में भगवान के साधक जीवन का विशद विवेचन है। अभी तक इन अंगों की खोज बीन कर महावीर के जीवन सूत्रों से कोई प्रामाणिक ग्रंथ नहीं लिखा गया, कैसे आश्चर्य की बात है। अब एक ग्रन्थ विजयेन्द्रसूरि का 'तीर्थङ्कर महावीर' यशोधर्म मन्दिर, बम्बई से प्रकाशित हुआ है। यह ग्रंथ का केवल प्रथम भाग है। अभी उसके अन्य भाग भी प्रकाशित होंगे। विद्वान लेखक ने साधना की है और उसका यह परिणाम है। इसके पूर्व भी अनेक प्रयास हुए हैं, किन्तु वे नगण्य ही हैं।

जीवन चरित्र

महावीर के समय को लेकर कोई विवाद नहीं है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही ग्रन्थों के अनुसार महावीर का जन्म ईस्वी पूर्व ५९८ में और निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ में हुआ था। निर्वाण को लेकर कल्पसूत्र और उत्तरपुराण में यत्किंचित् अन्तर है। कल्पसूत्र के अनुसार महावीर पूर्ण ७२ वर्ष जीवित रहे, जबकि उत्तरपुराण में उन्हें ७१ वर्ष और कुछ मास का लिखा है। इसका प्रामाणिक विवेचन इस लेख का विषय नहीं है। अन्य विद्वान उस पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे। इस विषय में धवलाटीका, तिलोयपण्णत्ति, त्रिलोक-सार, तपागच्छ और नन्दीसंघ की पट्टावली आदि दिगम्बर ग्रन्थों को भी पढ़ना होगा। इस विषय में बौद्ध ग्रन्थों का साहाय्य महत्वपूर्ण होगा। प्रस्तुत लेख के लिये तो इतना पर्याप्त है कि महावीर का जन्म ५९८ ई० पूर्व और निर्वाण ५२७ ई० पूर्व हुआ।

महावीर का जीवन चरित्र सभी ग्रंथों में समान रूप से वर्णित है। कहीं-कहीं थोड़ा बहुत भेद पाया जाता है, जो नगण्य-सा ही है। महावीर का जन्म क्षत्रिय कुण्ड ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम सिद्धार्थ और माता का नाम त्रिशला था। त्रिशला वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थी। चेटक की ही दूसरी पुत्री चेलना थी, जिसका परिणय मगध के सम्राट बिम्बसार के साथ हुआ था। क्षत्रिय कुण्ड ग्राम वैशाली का ही एक भाग था। महावीर को 'वैसालिय' कहा जाता है।[1] वे क्षात्रकुल में जन्मे थे। उन्हें 'नातपुत्त' कहते हैं। उनका जन्म 'निर्ग्रन्थ' परम्परा में हुआ था। उनके माता-पिता २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के धर्म को मानते थे। वे प्रति दिन एक पार्श्व चैत्य में वंदना के लिये भी जाया करते थे। पहले जैन साधुओं को निर्ग्रन्थ ही कहा जाता था। महावीर के लिये 'निगण्ठ' शब्द

---

१. 'अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए त्ति बेमि' सूत्रकृताङ्ग सूत्र, २/३।

का शताधिक वार प्रयोग हुआ है। गौतमवुद्ध उन्हें 'निगण्ठनातपुत्त' कहा करते थे।[1]

जैन पुराणों, चरित्रों, कथा-ग्रन्थों और स्तुति-स्तोत्रों में महावीर के पंच-कल्याणकों का भक्ति-परक विवेचन हुआ है। तीसरे तप-कल्याण के प्रारम्भ में जैन तीर्थंकर वैराग्य की ओर उन्मुख होता है। प्रत्येक तीर्थङ्कर का अपना एक विशेष संयोग है, जिससे उसकी मानस धारा वीतरागी दीक्षा की ओर मुड़ती है। सम्राट ऋषभदेव के दरवार में नीलांजना नाम की एक अप्सरा नृत्य करते-करते ही दिवंगत हो गई। जीवन की इस क्षण भंगुरता से युवा ऋषभदेव के हृदय में वैराग्य का संचार हुआ। दुल्हा के वेश में सजे नेमिनाथ दीन पशुओं की करुण पुकार से वीतरागता की ओर झुके। विश्व की अनिंद्य सुन्दरी राजीमती से विवाह नहीं किया। एक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में ये वाह्य प्रसंग एक व्यक्ति के जीवन को तभी परिवर्तित कर पाते हैं, जव उसमें 'असंयोजितप्रसंग' के अनुकूल प्रवल संस्कार रहा हो। भले ही जैन तीर्थंकरों का वाल और यौवन वैभव-सम्पन्न वातावरण में वीता हो, किन्तु वीतरागता उनके खून में व्याप्त थी। महावीर का वैराग्य किसी वाह्य-प्रसंग पर नहीं, अपितु उनके अपने अध्ययन और चिंतन पर आधारित था। उनके पूर्व जन्म की अनुभूतियां उभरीं और उन्होंने अपने माता-पिता से दीक्षा के लिए अनुमति चाही। दो वर्ष तक उनकी और उनके माता-पिता की इच्छा-शक्तियों में संघर्ष चलता रहा। जीत महावीर की हुई और वे सव की खुशियों के वीच तप करने चले गये। वे संसार से भागे नहीं, डरे नहीं। उन्होंने कुछ को छोड़ा सव को पाने के लिये। अपने को पाये विना सवको नहीं पाया जा सकता, अत: उन्होंने अपने को पाने का प्रयास किया। उनका प्रयास आध्यात्मिक था। आध्यात्मिक साधना का अर्थ है सत्य और अहिंसा। कोरा सत्य नहीं, कोरी अहिंसा नहीं। इनमें से एक पर किया गया आग्रह एकांकी हो सकता है, अत: महावीर ने समन्वयात्मक पथ का उद्योतन किया। गान्धी ने भी इस रहस्य को समझा था। अन्यथा उनके सत्याग्रह का रचनात्मक रूप अहिंसक कैसे होता। इस साधना से महावीर ने अपने को पाया और उसके साथ ही विश्व को। उनकी चेतना ने विश्व व्यापी रूप धारण किया।

---

१. धम्मपदट्ठ कथा, जिल्द तीसरी, पालिटैक्स्ट सोसाइटी, पृ० ४८६।

महावीर के हृदय में तप की सोई भावना जागृत हुई और उन्होंने वीतरागी दीक्षा धारण कर ली। वीतरागी दीक्षा परम्परा से चली आ रही थी। उसका एक प्रशस्त मार्ग था। महावीर के पूर्व २३ तीर्थंकर उसे धारण कर चुके थे। उन्होंने जिस मार्ग को अपनाया, उस पर उनका पूर्ण विश्वास था, श्रद्धा थी। इसलिए उनके कदम मजबूत थे। साधना भी मजबूत हुई। उन्होंने १२ वर्ष की सतत् साधना से ऋजुकूला नदी[1] के तट पर केवल-ज्ञान प्राप्त किया। इसी को उपनिषदों की भाषा में 'कैवल्यपद' कहते हैं।

केवलज्ञान का अर्थ है सर्वसत्व। वुद्ध ने महावीर के सर्वसत्व को स्वीकार किया था। मज्झिमनिकाय से ऐसा सिद्ध है।[2] सर्वसत्व सदैव महावीर के साथ रहता था। वह आत्मा की पूर्ण विशुद्ध दशा से उत्पन्न हुआ था। दूसरी ओर वोधि की व्याख्या करते हुए मिलिन्दपण्ह में लिखा है, "गौतम की सर्वसत्ता सदैव उनके पास नहीं रहती थी, अपितु उनके विचार करने पर अवलम्बित थी।"[3] कुछ भी हो महावीर के सर्वसत्व और उनकी दिव्यवाणी का वुद्ध की ख्याति पर प्रभाव पड़ा था। वुद्ध के जीवन की ५० वर्ष से ७० वर्ष तक की आयु की घटनाओं का उल्लेख नहीं मिलता। इसका एक मात्र कारण महावीर की वृद्धङ्गत ख्याति थी। यह कथन 'पासादिकसुतन्त' से और भी स्पष्ट हो जाता है। उसमें लिखा है कि वुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द को जव पावा के चण्ड के द्वारा महावीर के निर्वाण की सूचना मिली, तो उसने तुरन्त ही इस समाचार को तथागत के समक्ष उपस्थित करने योग्य समझा।

अहिंसा का जैसा समूचापन महावीर की दिव्यवाणी में प्रस्फुटित हुआ, वैसा कहीं देखने को नहीं मिलता। यद्यपि वौद्ध भिक्षु अहिंसा के अनुयायी थे पर वे आगे चल कर मांसाहार को उचित मानने लगे। मांसाहारी देशों में वौद्ध धर्म के द्रुतगति से फैलने का कारण भी यह ही था। महावीर ने अहिंसा को ही आध्यात्मिक

---

१. ऋजुकूला नदी का तट, जहाँ भगवान को केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई, आजकल विहार उड़ीसा के अन्तर्गत माना जाता है। कहा जाता है कि वाराकर नदी ऋजुकूला थी। खोज की आवश्यकता है।

२. देखिए चूल दुक्खक्खन्ध-सुत्तन्त (मज्झिम, १/२/४) तथा चूल सुकुलदायिसुत्तन्त (मज्झिम, २/३/६)।

३. मिलिन्दपण्ह (S. B. E.) भाग ३५ वां, पृ० १५४।

साधना माना। उन्होंने कोरे सत्य को कभी स्वीकार नहीं किया। उनकी दृष्टि के अनुसार अहिंसा की यत्किञ्चित् भी कमी सत्य को अहंकार से भर देती हैं। उन्होंने दोनों के समन्वय पर जोर दिया। महात्मा गान्धी ने इसको समझा था। इसी कारण उनके 'सत्याग्रह' में सत्य का आग्रह केवल शाब्दिक नहीं रहा, रचनात्मक रूप में सत्य के साथ अहिंसा को प्रमुखता मिली है। महावीर ने अपनी दिव्यवाणी में अहिंसा को प्रेम कहा है। वास्तव में उनकी आध्यात्मिक साधना प्रेम साधना ही थी। इसी आधार पर जैन आचार्य 'सत्वेषुमैत्री' वाला गीत गा सके। और इसी प्रेम रूप के सहारे भक्तों के दिल टिके रहे।

भक्ति-भावन

महावीर मोक्षगामी थे। वे संसार के कर्ता-धर्ता नहीं, अच्छे-बुरे के दाता-प्रदाता नहीं, फिर भी उनको लेकर असीम भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ। असंख्य मूर्तियां रची गईं, असंख्य मन्दिर और चैत्य बने। महावीर भले ही कुछ न करते हों, कुछ न देते हों, किन्तु उनका व्यक्तित्व प्रेम के ऐसे धागों से बुना गया था, जो मौन रहते हुए भी प्रेम को प्रेरणा देता रहा। भक्त भगवान को मुक्ति में जा बिराजने के लिये उपालम्भ भी देता रहा और प्रेरणा भी पाता रहा "तुम प्रभु कहियत दीन दयाल, आपन जाय मुकति में बैठे हम जु रुलत इह जग-जाल।" कहने वाला ही भक्त कवि, "मेंढक हीन किए अमरेसुर, दान सबै मन-वांछित पाए। द्यानत आज लौं ताही को मारग सारग है सुख होत सवाए।।" गा सका। जिसके दर्शन-मात्र से ही हीन मेंढक तर सका हो, वह भगवान अवश्य ही जीव-मात्र के लिये प्रेम का प्रतीक होगा। उसकी उदारता का विस्तार विश्व-व्यापी वन सका होगा। उसका अहं अहंकार नहीं, अपितु विश्व-अहं में परिणत हो सका होगा।

भावशुद्धि पर वल

महावीर ने सदैव भावशुद्धि पर वल दिया। नग्नता भावशुद्धि का एक आवश्यक साधन मात्र है, किन्तु नग्न होने से कोई समूचे रूप में शुद्ध ही हो जायेगा, यह अनिवार्य नहीं है। इसी कारण अनेक जीव मुनि-पद धारण करके भी भव समुद्र से तर न सके। उस समय दिगम्बरत्व साधु का चिन्ह था। इतिहास से सिद्ध है कि उस समय के आजीवक साधु भी नग्न रहते थे। महावीर भी नग्न वने। किन्तु उन्होंने गेरुआ वस्त्रों की भांति नग्नता को साधुत्व का 'फैशन' नहीं वनने दिया। 'फैशन' कैसा ही हो भावशुद्धि में वाधक वनता है। आगे चल

कर हिन्दी के सन्त कवियों ने जिन बाह्याडम्बरों का विरोध किया, उनसे सैकड़ों वर्ष पूर्व महावीर ने साधु के सभी वेशों का निराकरण करते हुए केवल भावों की पावनता को ही प्रमुखता दी थी। आगे चल कर दिगम्बर साधुओं के क्रिया-काण्ड भी इतने बढ़े कि उन पर मोटे-मोटे ग्रंथों की रचना हुई। महावीर के दिगम्बर जीवन में उनका कोई मूल्य नहीं था। महावीर को कई दिनों से आहार नहीं मिला था। उनकी प्रतिज्ञा थी कि कुँआरी, जंजीरों में जकड़ी और रोती हुई कन्या के हाथों आहार लेंगे। एक दिन उधर से निकले, जहां चन्दना को कैद करके रक्खा गया था। वह रो रही थी, उसके आगे कैदी का खाना रक्खा था। उसने जंजीरों से जकड़ी दशा में ही भगवान को भोजन के लिये आमंत्रित किया। उन्होंने स्वीकार किया और कैदखाने के सींकचों के बाहर, संकरी-सी गली में खड़े होकर वह कैदियों वाला भोजन ले लिया। महावीर सभी प्रकार के क्रियाकाण्डों से नितांत दूर थे।

महावीर से ढाई सौ वर्ष पूर्व २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म हुआ था। इतिहास ने उनके अस्तित्व को मान लिया है। उनका युग चला आ रहा था। उन्हीं के नाम पर वीतरागी साधु जैन दीक्षा ले रहे थे। इनमें मुनि पिहिताश्रव का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है। वे पार्श्वनाथाम्नायी थे। उन्हीं से बुद्ध ने दीक्षा ली थी। इन साधुओं में गोशालक का नाम मुख्य रूप से लिया जाता है। उसका पूरा नाम था मंखलिगोशाल। आचार्य देवसेन के दर्शनसार में मंखलि-गोशाल और पूरणकाश्यप का एक साथ उल्लेख हुआ है। दिगम्बर ग्रन्थ दोनों को एक मानते हैं। दोनों ही आजीविक मत के नेता थे। किन्तु बौद्ध ग्रन्थों से स्पष्ट है कि वे भिन्न दो व्यक्ति थे। अन्त में दोनों के मत-सादृश्य ने दोनों को एक कर दिया था। इसी कारण जैन परम्परा दोनों को एक मानती रही।

मंखलि गोशाल और पूरणकाश्यप महावीर से उम्र में बड़े थे। जैन साधु थे। उन्होंने जैन पूर्व ग्रन्थों के आधार पर जैन धर्म को समझने का प्रयास किया था। वे उसके मर्म को समझ न सके। मंत्र और ज्योतिष ने भी बाधा पहुँचायी। गोमट्टसार और सूत्रकृतांग सूत्र में उनके मत को अज्ञात मत कहा गया है। वैसे आजीविक नाम भी जैनत्व का द्योतक है। किसी भी प्रकार की जीविका से पृथक् रहने को आजीविक कहते हैं। इसे जैनों के त्याग और अपरिग्रह पर निर्भर रहना चाहिये था। किन्तु आजीविक साधु मन्त्र और ज्योतिष के बल पर जीविका भी कमाने लगे। इस धर्म के पतन का यह ही एक मात्र कारण है। आजीविक सम्प्रदाय पर डा० बरुआ ने 'आजीविस' नाम का एक ग्रन्थ लिखा था। उन्होंने भी ऐसी ही मान्यता अभिव्यक्त की है।

भगवान महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उनका समवसरण रचा गया। मंखलि गोशाल पहुँचा। वह समझता था कि एक पुराने जैन साधु होने के नाते उसे ही गणधर बनाया जायगा, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। इन्द्रभूति गौतम को गणधर बनाया गया। गोशाल रुष्ट और मन्त्राहत नाग की भाँति श्रावस्ती चला गया। वहाँ उसने अपने को सर्वज्ञ घोषित किया। सभी आजीविक उसे सर्वज्ञ मान उठे। जब महावीर का समवसरण श्रावस्ती पहुँचा, तो अधिकांश आजीविक महावीर के साथ हो गये। 'दर्शनसार' में ऐसे ही एक आजीविक शब्दाल-पुत्र का जिक्र आया है। वह कुम्हार था, भारत का प्रसिद्ध शिल्पी। उसने मिट्टी के बर्तनों से ही तीन करोड़ स्वर्णमुद्रायें कमाई थीं। एक दिन उसने सुना कि पलाशपुर में सर्वज्ञप्रभु आयेंगे, तो उसने समझा कि उसके गुरु गोशाल आयेंगे। आये महावीर। उनके धर्मोपदेश से वह वास्तविकता को समझ सका। उनके धर्म में दीक्षित हो गया। उसका दुर्द्धर्ष तप प्रसिद्ध है।

कुछ ऐसे जैन साधक थे जिनकी महावीर ने स्वयं प्रशंसा की है। उनमें धन्यकुमार का नाम सर्वोपरि है। वह काकन्दी का श्रेष्ठि-पुत्र था। घोर तप के कारण उसमें हड्डियाँ-भर अवशिष्ट रह गई थीं। मगध नरेश श्रेणिक ने भगवान से, उनके १४ हजार शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ साधक पूछा, तो उन्होंने 'धन्ना अणगार' का नाम लिया। दूसरा साधक, जिसकी प्रशंसा भगवान ने की 'कामदेव श्रावक' था। उसका उल्लेख 'दशांगसूत्र' में आया है। वह चम्पा निवासी था। एक बार भगवान का विहार चम्पा में हुआ। कामदेव ने श्रावक की दशा में ही भगवान के द्वारा उपदिष्ट साधना प्रारम्भ की। एक रात्रि को एक देव के द्वारा घोर उपसर्ग आने पर भी कामदेव विचलित न हुआ। भगवान ने अपने समवसरण में उसकी प्रशंसा करते हुए निर्ग्रन्थ श्रमणों से उपसर्ग सहन करने का उपदेश दिया। उन्होंने कामदेव श्रावक का उदाहरण उपस्थित किया। तीसरी थी साधिका सुलसा। वह एक गांव में रहकर गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए ही वीतरागी साधना में तल्लीन रहती थी। भगवान ने अम्वड श्रावक के द्वारा उसको धर्म-लाभ कहलवाया था। इससे स्पष्ट है कि भगवान उसके प्रशंसक थे।[1]

जीवंधर की गणना प्रसिद्ध जैन साधकों में थी। जीवंधर हेमांगद देश के सम्राट थे। उनकी राजधानी राजपुरी थी। हेमांगद अपनी स्वर्ण की खानों

---

१. देखिए अगरचन्द नाहटा का लेख महावीर द्वारा प्रशंसित तीन व्यक्ति' अहिंसावाणी, अप्रेल १९६६, पृ० १४०।

के लिए प्रसिद्ध था। बाल्यावस्था में जीवंधर ने आर्यनन्दि नाम के एक जैनाचार्य के पास शिक्षा प्राप्त की थी। आर्यनन्दि ने शस्त्र और शास्त्र दोनों की शिक्षा दी थी। जीवंधर के शस्त्र-कौशल ने उन्हें राज्य दिलवाया और शास्त्र नैपुण्य ने वीतरागी भावनाओं के अंकुर को पनपाया। एक दिन महावीर के पास जाकर दीक्षा ले ली। राजा श्रेणिक ने महावीर के समवसरण के बाहर परिणवृक्ष के नीचे जिस तेजस्वी मुनि को तप-निरत देखा था, वे मुनि जीवंधर ही थे। वे श्रुतज्ञान के धारी थे और महावीर के साथ ही उनका भी निर्वाण होना था। वे इतिहास में वीर श्रगण जीवंधर के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1]

भगवान महावीर का समवसरण प्रारम्भ हो चुका था, किन्तु देवगण विमानों में उड़ते हुए समवसरण में न आकर कहीं अन्यत्र चले जा रहे थे। यह एक आश्चर्य का विषय था। किसी ने भगवान से इसका कारण पूछा, तो उन्होंने कहा कि महाराज जितारि का निर्वाण हुआ है, ये उनका निर्वाणोत्सव मनाने जा रहे हैं।[2] महाराज जितारि या जितशत्रु कलिङ्ग के सम्राट् थे और रिश्ते में महावीर के फूफा लगते थे। उनका निर्वाण खण्डगिरि में हुआ था। तभी से खण्डगिरि सिद्धि क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध है। सम्राट खारवेल (ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी) के शिलालेख में इसको 'अर्हत्निषिद्या' कहा गया है। इस विषय में बाबू छोटेलालजी के अन्वेषण का एक उद्धरण देखिए, "अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के फूफा कलिंगाधिपति महाराज जितशत्रु या जितारि का निर्वाण मेरे अनुमान से खण्डगिरि में ही हुआ था। और उन्हीं के सम्बन्ध से यह सिद्धिक्षेत्र हो जाने के कारण सहस्रों निर्ग्रन्थ मुनियों ने इस स्थान को तपोभूमि बनाया था। ई० पूर्व द्वितीय शताब्दी में होने वाले कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल ने भी अपना अन्तिम साधु जीवन यहां ही व्यतीत किया था।"[3] सम्राट खारवेल ने अपना प्रसिद्ध शिलालेख इसी गुफा में क्यों उत्कीर्ण करवाया? इस पर बाबूजी का पुरातात्विक विवेचन इस प्रकार है, "मेरे अनुमान से उपर्युक्त श्री जितारि मुनि ने इसी हाथी गुफा में तपश्चरण करते हुए निर्वाण प्राप्त किया था और उसे तीर्थ बनाया था. जिससे वहां हजारों यात्री वन्दना के लिये और हजारों मुनि तपश्चरण के लिये सैकड़ों वर्षों से आते रहे हैं। अतः विशेष प्रचार

---

१. जीवंधर की कथा के लिए देखिए उत्तरपुराण।

२. देखिए हरिवंश पुराण।

३. बाबू छोटेलाल जी, खण्डगिरि-उदयगिरि-परिचय, अनेकान्त, वर्ष ११ किरण १, मार्च १९५२, पृ० ८१।

की दृष्टि से और शिलालेख की अपनी विशिष्टता के कारण उसे इस महत्वपूर्ण स्थान में अंकित किया गया है। अन्यथा महाराज खारवेल ने अपनी अग्रमहिषी के लिये उसी गुफा के निकट जो अतिसुन्दर समाश्रय रूप गुफा बनवाई थी, उसी में इस शिलालेख को भी स्थान दे देते। हाथी गुफा तीर्थस्थान के कारण ही अधिक मान्य और प्रतिष्ठित हो गई थी और महाराज खारवेल ने उसका अकृत्रिम भद्दा रूप अक्षुण्ण रखते हुए भी इसे इतना महत्व दिया था।"[1]

महावीर के नारी संघ में चन्दना सर्वोत्तम साधिका थी। अपने अनिन्द्य सौन्दर्य के कारण उसे असीम कष्ट भोगने पड़े, किन्तु उसने कहीं पर भी सतीत्व को त्यागा नहीं। वह आजन्म ब्रह्मचारिणी रही। महावीर की भक्ति उसके जीवन का सम्बल थी। जब महावीर को केवल ज्ञान हुआ, तब उसने दीक्षा ले ली। उसका कठोर तप नारियों के लिये ईर्ष्या का विषय बना। वह अपने सौन्दर्य में जैसे प्रसिद्ध थी, आगे चलकर उसकी आध्यात्मिक साधना भी वैसे ही ख्याति प्राप्त हुई। सुन्दरी चन्दना ने अपने जीवन से जिस आदर्श की रचना की थी, वह आज भी नारी जगत के लिये अनुकरणीय है।

---

१. देखिए वही, पृ० ८२।

जैन–समाधि और समाधिमरण

'समाधि' शब्द की व्युत्पत्ति

समाधीयते इति समाधि:। समाधीयते का अर्थ है—'सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स: समाधि:'।[1] अर्थात् विक्षेपों को छोड़कर मन जहां एकाग्र होता है, वह समाधि कहलाती है। 'विसुद्धिमग्ग में 'समाधान' को ही समाधि माना है, और 'समाधान का अर्थ किया है—'एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं संम्मा च आधानम्'—[2] अर्थात् एक आलम्बन में चित्त और चित्त की वृत्तियों का समान और सम्यक् आधान करना ही समाधान है। जैनों के 'अनेकार्थ–निघण्टु' में भी 'चेतसश्च समाधानं समाधिरिति गद्यते'[3] कहकर चित्त के समाधान को ही समाधि कहा है। 'सम्यक् आधीयते' और 'सम्यक् आधान' में प्रयोग की भिन्नता के अतिरिक्त कोई भेद नहीं हैं। दोनों

---

१. मिलाइये, पातञ्जल योगसूत्र, व्यास भाष्य १/३२, मेजर वी० डी० वसु-सम्पादित, इलाहाबाद, १९२४ ई०।

२. आचार्य वुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, कौसाम्बी जी की दीपिका के साथ, तृतीय परिच्छेद, पृष्ठ ५७, बनारस।

३. देखिये, धनञ्जयनाममाला, सभाष्य अनेकार्थ निघण्टु तथा एकाक्षरी कोश, १२४ वाँ श्लोक, पृ० १०५, पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी-सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२

एक ही धातु से बने हैं और दोनों का एक ही अर्थ है। चित्त का आलम्बन अथवा ध्येय में सम्यक् प्रकार से स्थित होना— दोनों ही व्युत्पत्तियों में अभीष्ट है।

ध्येय में चित्त की सुदृढ़ स्थिति निरन्तर अभ्यास और वैराग्य पर निर्भर करती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा, कि "हे महाबाहो ! सच है कि चञ्चल मन को वश में करना कठिन काम है। पर हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से वह वश में किया जा सकता है।"[1] योगसूत्र के अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः[2] के द्वारा भी यह तथ्य कि, 'चञ्चल मन का निरोध अभ्यास और वैराग्य से ही हो सकता है,' सिद्ध होता है। जहां तक बौद्ध धर्म का सम्बन्ध है, वह अभ्यास पर ही निर्भर है। [3] जैन धर्म में ध्यान के पांच कारणों में 'वैराग्य' को प्राथमिकता दी गई है।[4] वहां चित्त को वश में करने के लिए यद्यपि वायु-निरोध की बात को थोथा प्रमाणित किया गया है, तथापि प्राणायाम का अभ्यास कर, मन को रोक कर, चिद्रूप में लगाने की बात तो कही ही गई है, फिर भले ही मन और पवन स्वयमेव स्थिर हो जाते हों। जैन शास्त्रों के अनुसार शुभोपयोगी का मन जब तक एकदम आनन्दघन में अडोल अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता, तब तक मन को वश में करने के लिए पंच परमेष्ठी और ओंकारादि मंत्रों का ध्यान करना होता है, फिर शनैः शनैः मन शुद्ध आत्म-स्वरूप पर टिकने लगता है। चौदह गुणस्थानों पर क्रमशः चढ़ने की बात भी अभ्यास की ही कहानी है। शुद्ध अहिंसा तक पहुँचने के लिए सीढ़ियां बनी हुई हैं। इस भांति समूचा जैन सिद्धांत अभ्यास और वीतरागता की भावना पर ही निर्भर है।[5]

---

१. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
महात्मा गांधी, अनासक्तियोग, श्रीमद्भगवद्गीता भाषा-टीका, ६/३५ पृ० ९२, सस्ता साहित्य, मण्डल, नयी दिल्ली १९४९ ई०।

२. पातञ्जल योगसूत्र, १/१२।

३. भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० ९०६, बंगाल हिन्दी मंडल, वि० सं० २०११।

४. आचार्य योगीन्दु, परमात्म प्रकाश, १९२ वें दोहे की ब्रह्मदेवकृत संस्कृत-टीका, पृ० ३३१, डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित, परमश्रुत प्रभावक मंडल बम्बई १९३७ ई०।

५. परमात्म-प्रकाश, पं० जगदीशचन्द्र-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० ३०६।

समाधि को तुलनात्मक व्याख्या

ध्यान और समाधि

जैन शास्त्रों में अनेक स्थानों पर उत्कृष्ट ध्यान के अर्थ में ही 'समाधि' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'भावप्राभृत' की बहत्तरवीं गाथा में 'समाधि' शब्द उत्तम ध्यान का हो द्योतक है।[1] आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'स्वयम्भूस्तोत्र' के सतहत्तरवें, तिरासीवें और एकसौ दसवें श्लोकों में समाधि, सातिशयध्यान और शुक्ल ध्यान को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। आचार्य उमास्वाति ने 'धर्म्य ध्यान' और 'शुक्ल ध्यान' को मोक्ष का हेतु कहकर उनके समाधि रूप की घोषणा की है।[2] श्री योगीन्दु ने भी 'ध्यान' शब्द का प्रयोग 'समाधि' अर्थ में ही किया है।[3] पण्डित प्रवर आशाधर ने 'जिनसहस्रनाम' की स्वोपज्ञवृत्ति में 'समाधिराट्' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है—समाधिना शुक्लध्यानेन केवल ज्ञानलक्षणेन राजते शोभते।[4] अर्थात् केवलज्ञान है लक्षण जिसका, ऐसी शुक्ल ध्यान रूप समाधि से जो सुशोभित हैं, वे ही 'समाधिराट्' कहलाते हैं। पातञ्जल योगसूत्र में ध्यानमेव ध्येयाकारं निर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमेव यदा भवति ध्ययेस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते[5] के द्वारा ध्येयाकार निर्भासध्यान को ही 'समाधि' कहा गया है। यहां ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम ही समाधि है। समाधि, चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है। भगवान बुद्ध ने 'सम्बोधि-लाभ' करते समय चार ध्यानों की प्राप्ति की थी, 'मज्झिमनिकाय' में इनको समाधि संज्ञा से अभिहित किया गया है।[6] बौद्ध साधना पद्धति में 'ध्यान' का केंद्रीय स्थान है। शील के वाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (परम ज्ञान) की प्राप्ति होती है। शास्ता की यह वाणी—"भिक्षुओं, ध्यान करो। प्रमाद मत करो।" सहस्रों वर्षों तक ध्वनित होती रही है। यद्यपि बौद्धों में ध्यान-सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण नहीं मिलते, परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध के समय से ही अवश्य चली आ रही थी, ऐसी चीनी परम्परा के

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा ७२।

२. उमास्वाति, तत्वार्थसूत्र, ९/२९।

३. योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, दूहा १७२, १८७

४. पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति ६/७४, पृ० ९१ भारतीय ज्ञानपीठ काशी।

५. पातञ्जल योगसूत्र, व्यासभाष्य, ३/३ मेजर वी. डी. वसु-सम्पादित, इलाहाबाद, १९२४ ई०

६. देखिये—मज्झिमनिकाय, चूलहत्थि, पदोपमसुत्त

सालम्ब में मन को टिकने के लिए सहारा मिलता है, जबकि निरवलम्ब में उसे अनाधार में ही लटकना होता है। चंचल मन पहले तो किसी सहारे से ही टिकना सीखेगा, तब कहीं निराधार में भी ठहर सकने योग्य हो सकेगा। श्री योगीन्दु के मतानुसार चिन्ता का समूचा त्याग मोक्ष को देने वाला है, उसकी प्रथम अवस्था विकल्प-सहित होती है। उसमें विषय-कषायादि अशुभ ध्यान के निवारण के लिए और मोक्ष-मार्ग में परिणाम दृढ़ करने के लिए ज्ञानी जन जो भावना भाते हैं, वह इस प्रकार है—"चतुर्गति के दुःखों का क्षय हो, अष्टकर्मों का क्षय हो, ज्ञान का लाभ हो, पंचम गति में गमन हो, समाधि में मरण हो और जिनराज के गुणों की सम्पत्ति मुझको प्राप्त हो।" यह भावना चौथे, पांचवें और छठें गुणस्थान में ही की जाती है, आगे नहीं।[1] सालम्ब समाधि में मन को टिकाने के लिए तीन रूपों की कल्पना की गई है—पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ। शरीर युक्त आत्मा पिण्डस्थ, पंच परमेष्ठी और ओंकारादि मंत्र पदस्थ तथा अर्हन्त रूपस्थ कहे जाते हैं।[2] आचार्य देवसेन ने स्पष्ट कहा है कि सर्वसाधारण के लिए निरवलम्ब ध्यान सम्भव नहीं, अतः उसे सालम्ब ध्यान करना चाहिए।[3]

सालम्ब समाधि का प्रारम्भिक रूप सामायिक है। सामायिक का अर्थ अरिहंतादि का नाम लेना और किसी मन्त्र का जाप जपना-मात्र ही नहीं है, अपितु वह एक ध्यान है, जिसमें यह सोचना होता है कि यह संसार चतुर्गतियों में भ्रमण करने वाला है, अशरण, अशुभ, अनित्य और दुःख-रूप है। मुझे इससे मुक्त होना चाहिये।[4] सामायिक का लक्षण बताते हुए एक आचार्य ने कहा है :

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावना
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम् ॥

---

१. आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, पं० जगदीशचन्द्र-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० ३२७-२८।

२. आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा ४५६, ४६४, ४७२–४७५ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००६।

३. आचार्य देवसेन, भावसंग्रह, गाथा ३८२, ३८८; मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२१ ई०।

४. आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र, ५।१४, पृ० १४०; वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०।

अर्थात् जिस व्रत में सब प्राणियों में समता-भाव, इन्द्रिय-संयम, शुभ-भावना का विकास तथा आर्त्त और रौद्र ध्यानों का त्याग किया जाता है, वह सामायिक व्रत कहलाता है। सामायिक के पांच अतिचार हैं—मन-वचन-काय का असत्-प्रयोग, अनुत्साह और अनैकाग्रता।[1] इनसे सामायिक में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस भांति एकाग्रता सामायिक का गुण और अनैकाग्रता दोष है। इसी एकाग्रता का विकसित रूप समाधि का मूलाधार है। वास्तव में सामायिक गृहस्थ श्रावकों का एक व्रत है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे शिक्षा-व्रतों में गिना है।[2] स्वामी कीर्तिकेय ने अपने 'अनुप्रेक्षा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में गृहस्थ के बारह धर्मों में सामायिक को चौथा स्थान दिया है। आचार्य उमास्वाति, समन्तभद्र, जिनसेन, सोमदेव, देवसेन, अमितगति, अमृतचन्द्र, आचार्य वसुनन्दि और पंडित प्रवर आशाधर ने भी सामायिक के महत्व को स्वीकार किया है। उन्होंने यहां तक कहा है कि सामायिक में स्थित गृहस्थ सचेलक मुनि के समान होता है।[3] सामायिक कम से कम दो घड़ी या एक मुहूर्त्त (अड़तालीस मिनट) तक करनी चाहिए।[4]

निर्विकल्प समाधि में मन को टिकाने के लिए किसी आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। यहां तो 'रूपातीत' का ध्यान करना होता है। शरीर के जाल से पृथक् शुद्धात्मा अथवा भगवान सिद्ध ही 'रूपातीत' कहलाते हैं।[5] उन पर जब मन ठहर उठता है, तभी निर्विकल्प समाधि का प्रारम्भ समझना चाहिए। आचार्य योगीन्दु ने निर्विकल्प समाधि की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—सयलवियप्पहं जो विलउ परम समाहि मणंति। तेण सुहासुह भावड़ा मुणि

---

१. देखिये वही, ५।१५, पृ० १४२।

२. आचार्य कुन्दकुन्द, चरित्रपाहुड, गाथा २६।

३. आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र, ५।१२, पृ० १३६, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०।

४. वसुनन्दिश्रावकाचार की प्रस्तावना, पं० हीरालाल-कृत, पृ० ५५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

५. वण्णरस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसण सरूवो।
जंझाइज्जइ एवं तं झाणं रूव रहियं ति ॥ ४७६ ॥
—वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, पं० हीरालाल सम्पादित, पृ० २८०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

सयलवि मेल्लंति ।[1] अर्थात् सकल विकल्पों का विलीन होना ही परम समाधि है, इसमें मुनिजन शुभ और अशुभ भावों का परित्याग कर देते हैं। अपने इसी मत की पुष्टि करते हुए आचार्य ने एक-दूसरे स्थान पर कहा है कि "जब तक समस्त शुभाशुभ परिणाम दूर न हों, मिटे नहीं, तब तक रागादि विकल्प-रहित शुद्ध चित्त में सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप शुद्धोपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी परम समाधि इस जीव के नहीं हो सकती।"[2] उन्होंने यहां तक कहा कि" केवल विषय कषायों को जीतने से क्या होता है, मन के विकल्प मिटाने ही चाहिए, तभी वह परमात्मा का सच्चा आराधक कहा जायेगा।"[3] आचार्य कुन्दकुन्द ने 'षट्पाहुड' में लिखा है कि "जो रागादिक अन्तरंग परिग्रह से सहित हैं और जिन भावना रहित द्रव्य-लिंग को धार कर निर्ग्रन्थ बनते हैं, वे इस निर्मल जिन-शासन में समाधि और बोधि को नहीं पाते।"[4] इस भांति आचार्य कुन्दकुन्द ने रागादिक अन्तरंग परिग्रह के त्याग को समाधि के लिए आवश्यक बतलाया। बाह्य ज्ञान से शून्य निर्विकल्पक समाधि में विकल्पों का आधार भूत जो मन है वह अस्त हो जाता है, अर्थात् निज स्वभाव में मन की चंचलता नहीं रहती। जिन मुनीश्वरों का परम समाधि में निवास है, उनका मोह नाश को प्राप्त हो जाता है, मन मर जाता हैं, श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और कैवल्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[5] आचार्य समन्तभद्र ने यह स्वीकार किया है :

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम् ।
जगाद तत्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः ।।[6]

अर्थात् समाधि-तेज से अपने आत्म-दोषों के मूल कारण को निर्दयतापूर्वक भस्म कर यह जीव ब्रह्म-पदरूपी अमृत का स्वामी हो सकता है।

---

१. आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, दोहा १९०, पृ० ३२८, प्र० मंडल, बम्बई।
२. देखिये वही, दोहा १९४, पृ० ३३२।
३. देखिये वही, दोहा १९२, पृ० ३३१।
४. आचार्य कुन्दकुन्द, षट्पाहुड, भावपाहुड, ७२ वीं गाथा पृ० ७८, प्रकाशक बाबू सूरजभान वकील, देववंद।
५. आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, दोहा १६२, पृ० ३०६, बम्बई।
६. आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू-स्तोत्र, १।३, वीर-सेवा मन्दिर, सरसावा।

योगसूत्र में समाधि की परिभाषा लिखते हुए कहा गया है—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।[1] अर्थात् ध्येयाकार निर्भास ध्यान ही जब ध्येय स्वाभावावेश से अपने ज्ञानात्मक स्वभाव शून्य के समान होता है, तब उसे समाधि कहते हैं।[2] ध्यान करते-करते जब हम आत्म-विस्मृत हो जायें, जब केवल ध्येय-विषयक सत्ता की ही उपलब्धि होती रहे तथा अपनी सत्ता विस्मृत हो जाये, और ध्येय से अपना पृथक्त्व ज्ञानगोचर न हो, तब ध्येय विषय पर उस प्रकार का चित्तस्थैर्य ही समाधि है।[3] इसमें ध्येय की सत्ता प्रतिभासित होती है। अतः वह सालम्ब, सबीज और सविकल्पक समाधि कहलाती है। विषय-भेद से यह समाधि-रूपरसादिग्राह्य विषयक, अहङ्कारादिग्रहण विषयक, अहमत्वमात्रगृहीतृपदस्थविषयक तीन प्रकार की कही जाती है, जो जैनों के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ से मिलती-जुलती है। सब वृत्तियों के निरूद्ध होने पर संस्कार-शेष रूप-समाधि असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है।[4] इसका साधन परवैराग्य है; क्योंकि सालम्ब अभ्यास इसका साधन नहीं हो सकता। विराम का कारण परवैराग्य, वस्तुहीन आलम्बन के सहारे प्रवृत्त होता है। उसमें कुछ भी चिन्त्य पदार्थ नहीं रहता। वह अर्थ-शून्य है और उसका अभ्यासी चित्त निरालम्ब और अभावापन्न-सा होता है। इस प्रकार की निर्बीज समाधि ही असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है।[5] इसे ही जैन लोग निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। समाधि का यह द्विविध वर्गीकरण बौद्धों में 'उपचार' और 'अर्पणा' के नाम से स्वीकार किया गया है। 'विसुद्धिमग्ग' में उपचार-समाधि की परिभाषा लिखी है— कुसलचित्तेकग्गता समाधिः[6]; — कुशलचित्त में, अर्थात् शुद्ध आत्मा में, मन के एकाग्र होने को समाधि कहते हैं। इस सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट है कि यह सालम्ब समाधि है। व्याख्या इस प्रकार है— एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानं समाधानम्[7]; अर्थात् एक आलम्बन में

---

१. देखिये योगसूत्र, ३।३

२. योगसूत्र ३।३ का व्यास-भाष्य।

३. पातञ्चल योगदर्शन, भागीरथ मिश्र-सम्पादित, श्री मद् हरिहरानन्द-कृत हिन्दी-व्याख्या पृ० २१४, लखनऊ वि० वि०।

४. देखिये योगसूत्र, १।१८।

५. देखिये, योगसूत्र, १।१८ का व्यास-भाष्य।

६. आचार्य बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, कौसाम्बीजी की दीपिका के साथ, तृतीया परिच्छेद, पृ० ५७।

७. आचार्य बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, तृतीय परिच्छेद, पृ० ५७।

चित्त और चित्त की वृत्तियों का समान और सम्यक् स्थित होना समाधान है। —समाधानट्ठेन समाधि:; अर्थात् समाधानार्थ ही समाधि है। यहाँ 'एकारम्मणे' के द्वारा आलम्वन की वात स्पष्ट ही झलकती है। अर्पणा-समाधि वह है, जिसमें आलम्वन के मान की आवश्यकता नहीं होती और मन निरवलम्व में ही टिकता है।

जैन आचार्यों ने योगसूत्र की भाँति, निर्विकल्पक समाधि में आत्मविस्मृत हो जाने की वात स्वीकार नहीं की। वहाँ तो योगी सोता नहीं, अपितु जागरूक होता है। वह मोक्ष तक की इच्छा-कामनाओं को छोड़कर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। आत्म-विस्मृति गीता की 'समाधि' में भी नहीं होती। श्री अरविन्द ने लिखा है, समाधिस्थ मनुष्य का लक्षण यह नहीं है कि उसको विषयों, परिस्थितियों, मनोमय और अन्नमय पुरुष का होश ही नहीं रहता और शरीर को जलाने तथा पीड़ित करने पर भी इस चेतना में लौटाया नहीं जा सकता, जैसा कि साधारणतया लोग समझते हैं; इस प्रकार की समाधि तो चेतना की एक विशिष्ट प्रकार की प्रगाढता है; यह समाधि का मूल लक्षण नहीं। समाधि की कसौटी है— सव कामनाओं का वहिष्कार, किसी भी कामना का मन पर चढ़ाई न कर सकना; और यह वह आन्तरिक अवस्था है जिससे स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है। आत्मा का आनन्द अपने ही अन्दर जमा रहता है और मन सम, स्थिर तथा ऊपर की भूमिका में ही अवस्थित रहता हुआ आकर्षणों और विकर्षणों से तथा वाह्य जीवन के घड़ी-घड़ी वदलने वाले आलोक, अन्धकार, तूफानों तथा झंझटों से निर्लिप्त रहता है।[1] यौगिक समाधि से गीता की समाधि सर्वथा भिन्न है। गीता में कर्म सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचने का साधन है और मोक्ष-लाभ कर चुकने के वाद भी वह वना रहता है; जब कि राजयोग में सिद्धि के प्राप्त होते ही कर्म की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।[2]

पातञ्जल समाधि में पवन को वाञ्छापूर्वक अवरूद्ध करना पड़ता है; किन्तु जैनों के ध्यानी मुनियों को पवन रोकने का यत्न नहीं करना पड़ता। विना ही यत्न के पवन रुक जाता है और मन अचल हो जाता है-- ऐसा समाधि का प्रभाव है। 'पाञ्जल योग' में समाधि को शून्य-रूप कहा है, किन्तु जैन ऐसा नहीं मानते; क्योंकि जव विभावों की शून्यता हो जायेगी, तव वस्तु का ही अभाव हो

---

१. अरविन्द, गीता-प्रवन्ध, प्रथम भाग, पृ० १८७-१८८।

२. देखिये, वही, पृ० १३३।

जायेगा। योगसूत्र में अम्बर का अर्थ आकाश लिया गया है, तव जनों ने आत्म-स्वरूप को अम्वर, अर्थात् शून्य कहा है। "जैसे आकाश द्रव्य सव द्रव्यों से भरा हुआ है, परन्तु सवसे शून्य अपने स्वरूप में है, उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियों से रहित है, शून्य-रूप है, इसलिए आकाश शब्द का अर्थ शुद्ध आत्म-स्वरूप लेना चाहिए।"[1]

समाधि और भक्ति

योगसूत्र में ईश्वर-प्रणिधान को ही समाधि का कारण माना है।[2] ईश्वर का अर्थ है 'पुरुष-विशेष', जो पूर्वजों का भी गुरु है और जिसमें निरतिशय सर्वज्ञ के वीज सदैव प्रस्तुत रहते हैं। प्रणिधान का अर्थ है— भक्ति। ईश्वर की भक्ति से समाधि के मार्ग में आने वाली सभी वाधाएँ शान्त हो जाती हैं। प्रणव का जाप, मन्त्रोच्चारण और अर्थ-भावन इसी ईश्वर-भक्ति के द्योतक हैं।[3] गीता में भी भक्ति को योग की प्रेरणा-शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। गीता की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, यह योग उस सत्य की साधना है, जिसका ज्ञान दर्शन कराता है और इस साधना की प्रेरक शक्ति है— एक प्रकाशमान शक्ति, एक शान्त या उग्र आत्मसमर्पण का भाव–उस परमात्मा के प्रति, जिन्हें ज्ञान पुरुषोत्तम के रूप में देखता है।"[4] जैन शास्त्रों में धर्म्य ध्यान के चार भेद किये गए हैं, जिनमें सबसे पहला है 'आज्ञा-विचय'।[5] 'विवेक' और 'विचारणा' विचय के पर्यायवाची नाम हैं। आज्ञा-विचय का अर्थ है— भगवान जिन की आज्ञा में अटूट श्रद्धा करना। आज्ञा सर्वज्ञ-प्रणीत आगम को कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है, "तान्यथावादिनो जिनाः इति गहनपदार्थश्रद्धानाद वधारणमाज्ञाविचयः"।[6] अर्थात् भगवान् जिन अन्यथावादी नहीं होते; इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञा-विचय धर्म्य

---

१. आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, १६४वें दोहे का हिन्दी-भावार्थ, पृ० ३०८, वम्वई

२. पातञ्जल गोगदर्शन, १।२३, पृ० ४६

३. पातञ्जल योगदर्शन, १।२४-२८, पृ० ५०-६०

४. अरविन्द, गीता-प्रवन्ध, भाग १, पृ० १३४

५. आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम्।—तत्त्वार्थसूत्र ९।३६

६. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, पं० फूलचन्द शास्त्रि-सम्पादित, पृ० ४४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ध्यान है। आज्ञा-विचय के दूसरे अर्थ का उद्भावन करते हुए आचार्य ने कहा है, "भगवान् जिन के तत्व का समर्थन करने के लिए जो तर्क, नय और प्रमाण की योजना-रूप निरन्तर चिन्तन होता है, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा-विचय कहलाता है।"[1] प्रत्येक दशा में भगवान् जिन और उनकी आज्ञा पर पूर्ण श्रद्धा की बात है। इस भाँति धर्म्य ध्यान, जिसे मोक्ष-मार्ग का साक्षात् हेतु कहा गया है, भगवान जिन में श्रद्धा करने की बात कहता है। यह बात गीता के आत्म-समर्पण तथा पातञ्जल योग के ईश्वर-प्रणिधान से किसी दशा में कम नहीं है। तीनों ही भक्ति और समाधि के स्थायी सम्बन्ध की घोषणा करते हैं।

सालम्ब समाधि के प्रकरण में रूपस्थ ध्यान की बात कहीं जा चुकी है। समवशरण में विराजित भगवान अर्हन्त ही रूपस्थ हैं। रूपस्थ इसलिए हैं कि उनके रूप है और आकार है। रूपस्थ ध्यान में ऐसे 'रूपस्थ' पर मन को टिकाना होता है। किन्तु इसके पूर्व मन का उधर झुकना अनिवार्य है, और मन श्रद्धा के बिना नहीं झुक सकता, अतः मन की एकाग्रता के पूर्व श्रद्धा का होना अनिवार्य है। अर्हन्त की पूजा, स्तुति और प्रार्थना आदि में लगी हुई एकाग्रता और इस ध्यान वाली एकाग्रता में बाह्य रूप से कुछ भी अन्तर हो; किन्तु दोनों ही के मूल में अगाध श्रद्धा की भूमिका है। श्रद्धा भक्ति-रस का स्थायी भाव है। पदस्थ ध्यान में एक अक्षर को आदि लेकर अनेक मन्त्रों का उच्चारण करते हुए 'पंच परमेष्ठी' का ध्यान किया जाता है। मन्त्रों के उच्चारण की एकतानता में आराध्य के प्रति मन की जो एकाग्रता पुष्ट होती है, वह ध्यान वाली एकाग्रता से कम नहीं है। मन्त्रोच्चारण, स्तुति-स्तवन, पूजा-अर्चा और ध्यान आदि सभी भक्ति की विभिन्न शैलियाँ हैं, जो श्रद्धा के प्रेरणा-स्रोत से ही सदैव सञ्चालित होती हैं।

सामायिक भी एक प्रकार का ध्यान है, जिसका निर्देशन उन गृहस्थ श्रावकों के लिए हुआ है, जो साधु नहीं हो सके हैं। श्रावक के शिक्षाव्रतों में इसका प्रथम स्थान है। सामायिक के स्वरूप से स्पष्ट है कि वह भक्ति का ही एक अंग-मात्र है। सामायिक में भी, गृहस्थ श्रावक को अपना मन 'पंच परमेष्ठी

---

१. 'तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपर: स्मृतिसमन्वाहार: सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञा-विचयः इत्युच्यते।'

—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ९।३६ का भाष्य, पृ० ४४९

पर केन्द्रित करना पड़ता है। 'चरित्तपाहुड' की छब्बीसवीं गाथा का हिन्दी अनुवाद करते हुए पं० जयचन्द छाबड़ा ने लिखा है, "सामायिक अर्थात् राग-द्वेष को त्याग कर, गृहारम्भ-सम्बन्धी सर्व प्रकार की पाप-क्रिया से निवृत्त होकर, एकान्त स्थान में बैठकर अपने आत्मिक स्वरूप का चिन्तवन करना व 'पंच परमेष्ठी' का भक्ति-पाठ पढ़ना, उनकी वन्दना करना, यह प्रथम शिक्षा-व्रत है।"[१] इस प्रकार आचार्य वसुनन्दि ने जिन धर्म और जिन-वन्दना[२] को सामायिक कहा है और आचार्य श्रुतसागर ने समता के चिन्तवन को सामायिक कहा है।[३] आचार्य अमितगति सूरि के 'सामायिक-पाठ' में निबद्ध श्लोक भक्ति के ही निदर्शक हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "जैसे अन्धकार-समूह सूर्य को छू भी नहीं पाते, वैसे ही कर्म कलंक जिसके पास फटक भी नहीं सकते, ऐसे नित्य और निरञ्जन भगवान् की शरण में मैं जाता हूँ।"[४] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने भगवान् को हृदय में स्थापित करने की भावना भाते हुए लिखा है, "बड़े-बड़े मुनियों के समूह जिसका स्मरण करते हैं, सब नर नारी और देवताओं के इन्द्र जिसकी स्तुति करते हैं, तथा वेद और पुराण शास्त्र जिसके गीतों को गाते हुए नहीं रुकते, ऐसे देवों के देव भगवान् हमारे हृदय में विराजमान हों।"[५]

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द, षट्पाहुड में चरित्तपाहुड, २६वीं गाथा का हिन्दी-अनुवाद, प्रकाशक सूरजभान वकील, देववंद।

२. आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा २७४-७५, पृ० १०७ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

३. देववन्दनायां निःसंक्लेशं सर्वप्राणिसमताचिन्तनं सामायिकमित्यर्थः।

—आचार्य श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति, ७।२१ का भाष्य, पृ० २४५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी.

४. न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदाषैः, यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनम् नित्यमनेकमेकम्, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥

—अमितगतिसूरि, सामायिक पाठ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जैन-सम्पादित, १८वां श्लोक, पृ० १७ धर्मपुरा, देहली।

५. यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः, यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गोयते वेदपुराणशास्त्रैः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥

—देखिये वही, १२वां श्लोक, पृ० १४.

समाधिमरण और उसके भेद

समाधिमरण दो शब्दों-समाधि और मरण से मिलकर बना है। इसका अर्थ है— समाधिपूर्वक मरना। शुद्ध आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते हुए प्राणों का विसर्जन समाधिमरण कहलाता है। सभी धर्मों के आचार्यों ने जीव के अन्त-काल को अत्यधिक महत्त्व दिया है। जैन आचार्यों ने तो यहाँ तक लिखा है कि जीवन-भर की तपस्या व्यर्थ हो जाती है, यदि अन्त समय में राग-द्वेष को छोड़कर समाधि धारण न की। आचार्य समन्तभद्र का कथन है— अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते। तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।[६] अर्थात् तप का फल अन्तक्रिया के आधार पर अवलम्बित है, ऐसा सर्वदर्शी सर्वज्ञ देव ने कहा है। इसलिए यथासामर्थ्य समाधिमरण में प्रयत्नशील होना चाहिए। श्री शिवार्यकोटि ने 'भगवती-आराधना' में लिखा है— सुचिरमिवणिरदिवारं विहरित्ता णाणदंसणचरित्ते। मरणे विराधयित्ता अनंत-संसारिओ दिट्ठो।[७] अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चरित्र-रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य भी यदि मरण के समय उस धर्म की विराधना कर बैठता है, तो वह संसार में अनन्त काल तक घूम सकता है। समाधिमरण का विधान सभी के लिये है।

समाधिमरण के पाँच भेद हैं— पण्डितपण्डित, पण्डित, बालपण्डित, बाल और बाल-बाल। इनमें से प्रथम तीन अच्छे और अवशिष्ट दो बुरे हैं। बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि जीवों के, बाल-मरण अविरत सम्यग्दृष्टियो के, बाल-पण्डित मरण देशव्रतियों (श्रावकों) के, पण्डित-मरण सकल संयमी साधुओं के और पण्डित पण्डित-मरण क्षीणकषाय केवलियों के होता है। पण्डितमरण के भी तीन भेद हैं— पहला 'भक्त-प्रत्याख्यान' कहलाता है। भक्त नाम भोजन का है, उसे शनैः-शनैः छोड़ कर जो शरीर का त्याग किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यानं मरण कहते हैं। भक्त-प्रत्याख्यान करने वाला साधु अपने शरीर की सेवा-टहल या वैय्यावृत्य स्वयं अपने हाथ से भी करता है, और यदि दूसरा करे, तो उसे भी स्वीकार कर लेता है। दूसरा 'इंगिनीमरण' है; जिसमें और तो सब 'भक्त-प्रत्याख्यान' के समान ही होता है, किन्तु दूसरे के द्वारा वैय्यावृत्य स्वीकार नहीं

---

६. आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र, ६।१२, पृ० १६३, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली

शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, गाथा १५, मुनि अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई.

की जाती। तीसरा 'पादोपगमन मरण' है। इसे धारण करने वाले के लिए किसी प्रकार की वैय्यावृत्य का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें तो मरण-पर्यन्त प्रतिमा के समान किसी शिला पर तदवस्थ रहना होता है।[1]

सल्लेखना की व्याख्या

'समाधि-मरण' के अर्थ में ही 'सल्लेखना' का प्रयोग होता है। सल्लेखना पद 'सत्' और 'लेखना' दो शब्दों से मिलकर बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और लेखना का अर्थ है कृश करना; अर्थात् सम्यक् प्रकार से कृश करना। बुरे को ही क्षीण करने का प्रयास किया जाता है, अच्छे को नहीं। जैन सिद्धान्त में काय और कषाय को अत्यधिक बुरा कहा गया है, अतः उन्हें कृश करना ही सल्लेखना है। आचार्य पूज्यपाद ने 'सम्यक्कायकषायलेखना'[2] को और आचार्य श्रुतसागर ने 'सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं'[3] को सल्लेखना कहा है।

मरण-काल के उपस्थित होने पर ही सल्लेखना धारण की जाती है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा है— "मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता;'[4] अर्थात् मरण-काल आने पर गृहस्थ को प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करनी चाहिए। श्री उमास्वाति के इस सूत्र पर आचार्य पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि', भट्टाकलंक की 'राजवार्त्तिक' और श्रुतसागर सूरि की 'तत्वार्थवृत्ति' भाष्य-रूप में देखी जा सकती है। वहाँ इस सूत्र के प्रत्येक पद की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है। सभी ने 'जोषिता' का प्रतिपादन प्रीतिपूर्वक धारण करने के अर्थ में ही किया है। आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में लिखा है— उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।[5] अर्थात्, प्रतिकार-रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा तथा रोग की

---

१. समाधिमरण के भेदों के लिए देखिये, वट्टकेरि-कृत मूलाचार और शिवार्यकोटि-कृत भगवती-आराधना।

२. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ७।२२ का भाष्य, पृ० ३६३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

३. आचार्य श्रुतसागर, तत्वार्थवृत्ति, ७।२२ का भाष्य, पृ० २४६, भारतीय ज्ञानपाठी, काशी।

४. आचार्य उमास्वाति, तत्वार्थसूत्र, पं० कैलाशचन्द सम्पादित, ७।२२, पृ० १६८, चौरासी, मथुरा।

५. आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र, ६।१, पृ० १६०।

दशा में और ऐसे दूसरे किसी कारण के उपस्थित होने पर जो धर्मार्थ देह का संत्याग है, उसे सल्लेखना कहते हैं।

काय और कषाय को क्षीण करने के कारण सल्लेखना दो प्रकार की होती है— काय-सल्लेखना, जिसे बाह्य सल्लेखना भी कहते हैं; और कषाय-सल्लेखना, जिसे आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। श्री शिवार्यकोटि ने 'भगवती-आराधना' में लिखा है— एवं कदपरिकम्मो अब्भंतर वाहिरम्मि सल्लिहणे। संसार मोक्खबुद्धी, सव्ववरिल्लं तवं कुणदि। अर्थात् "ऐसे आभ्यन्तर सल्लेखना और बाह्य सल्लेखना ताके विषय वंध्या है परिकर जाकैं, अर संसार तैं छूटने की है बुद्धि जाकी, ऐसा साधु सो सर्वोत्कृष्ट तप कूँ करै है।"[1] इन्हीं दो भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य पूज्यपाद का कथन है—कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापनक्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना[2]; अर्थात्, बाहरी शरीर और भीतरी कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को शनैः-शनैः घटाते हुए, उनको भले प्रकार कृश करना सल्लेखना है। आचार्य श्रुतसागर ने तो स्पष्ट ही कहा है– कायस्य लेखना बाह्यसल्लेखना। कषायाणां सल्लेखना अभ्यन्तरा सल्लेखना[3] अर्थात् काय की सल्लेखना बाह्य सल्लेखना और कषायों की सल्लेखना आभ्यन्तर सल्लेखना कही जाती है। काय बाह्य है और कषाय आन्तरिक।

आचार्य कुन्दकुन्द ने शिक्षाव्रतों के चार भेद माने हैं, जिनमें चौथी सल्लेखना है।[4] श्री शिवार्य कोटि, देवसेनाचार्य, जिनसेनाचार्य और वसुनन्दि सैद्धान्तिक ने भी सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में ही शामिल किया है। दूसरी ओर, आचार्य उमास्वाति ने सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में तो क्या, श्रावक के बारह व्रतों में भी नहीं गिना और एक पृथक् धर्म के रूप में ही उसका प्रतिपादन किया। आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्दी सोमदेवसूरि, अमितगति और स्वामी कार्तिकेय आदि ने आचार्य उमास्वाति के शासन को स्वीकार किया

---

१. शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, हिन्दी-अनुवाद सहित, गाथा ७५, पृ० ४०, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई।

२. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ७।२२, पृ० ३६३

३. आचार्य श्रुतसागर, तत्वार्थवृत्ति, ७।२२ का भाष्य, पृ० २४४

४. सामाइयं च पढयं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
वइयं अतिहि पुज्जं चउत्थ संलेहणा अन्ते ॥

—चरित्तपाहुड, गाथा २६, पृ० २८

है। इन आचार्यों का कथन है कि 'शिक्षा' अभ्यास को कहते हैं और सल्लेखना मरण-समय उपस्थित होने पर धारण की जाती है, अतः उसमें अभ्यास का समय ही नहीं रहता; फिर शिक्षा-व्रतों में उसकी गणना क्यों कर सम्भव हो सकती है? इसके अतिरिक्त, यदि सल्लेखना को श्रावक के बारह व्रतों में गिना जाय तो श्रावक को आगे की प्रतिमाएँ धारण करने के लिए जीवनावकाश ही न मिल सकेगा। सम्भवतः इसी कारण श्री उमास्वाति आदि आचार्यों ने सल्लेखना को श्रावक-व्रतों से पृथक् धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है।[1]

सल्लेखना और समाधिमरण

जैन शास्त्रों के अनुसार सल्लेखना और समाधिमरण पर्यायवाची शब्द हैं। दोनों की क्रिया-प्रक्रिया और नियम-उपनियम एक से हैं। आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के छठे अध्याय की पहली कारिका में सल्लेखना का लक्षण लिखा, और दूसरी कारिका में उसी के लिए समाधिमरण का प्रयोग किया। श्री शिवार्यकोटि की 'भगवती-अराधना' में, अनेकों स्थानों पर सल्लेखना और समाधिमरण का प्रायः एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक और मुनि, दोनों ही के लिए सल्लेखना का प्रतिपादन कर, मानों सल्लेखना और समाधिमरण का भेद ही मिटा दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरण साधु के लिए और सल्लेखना गृहस्थ के लिए मानते थे। यह सच है कि 'मृत्यु' समय एक साधु शुद्ध आत्मस्वरूप पर, अपने मन को जितना एकाग्र कर सकता है, उतना गृहस्थ नहीं। इस समय तक साधु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा समाधि धारण करने में निपुण हो चुकता है। समाधि में एकाग्रता अधिक है, सल्लेखना में नहीं।

समाधिमरण और आत्म-वध

भारत के कुछ विद्वान, जैन मुनि के समाधिमरण को आत्म-घात मानते हैं। आत्म-घात का शाब्दिक अर्थ है आत्मा का घात, किन्तु जैन दर्शन ने आत्मा को शाश्वत सिद्ध किया है। "आत्मा एक रूप से त्रिकाल में रह सकने वाला नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थ की उत्पत्ति किसी भी संयोग से न हो सकती हो, वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी भी संयोग से उत्पन्न हो सकती है, ऐसा मालूम नहीं होता; क्योंकि जड़ के चाहे कितने भी संयोग क्यों न करो, तो भी

---

१. पं० जुगलकिशोर मुख्तार, जैनाचार्यों का शासन-भेद, पृ० ४३ से ५७ तक

उसमें चेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।"[1] भावलिङ्गी मुनि सदैव विचार करता है, "मेरी आत्मा एक है, शाश्वत है और ज्ञान-दर्शन ही उसका लक्षण है । अन्य समस्त भाव वाह्य हैं ।"[2] इस भांति नित्य आत्मा का घात किसी भी दशा में सम्भव नहीं है ।

आत्मघात का प्रचलित अर्थ है—राग, द्वेष या मोह के कारण, विष, शस्त्र या अन्य किसी उपाय से, अपने इस जीवन को समाप्त कर लेना ।[3] किन्तु जैन मुनि की समाधि न तो राग-द्वेष का परिणाम है, और न मोह का भावावेश । जैन आचार्यों ने समाधिमरण धारण करने वाले से स्पष्ट कहा है—यदि रोगादि कष्टों से घवड़ाकर शीघ्र ही समाप्त होने की इच्छा करोगे अथवा समाधि के द्वारा इन्द्रादि पदों की अभिवाञ्छा करोगे, तो तुम्हारी समाधि विकृत है ।[4] इससे लक्ष्य तक न पहुँच सकोगे । मृत्यु-समय समाधि धारण करने वाले जीव का भाव अपने को समाप्त करना नहीं, अपितु शुद्ध आत्म-चैतन्य को उपलब्ध करना होता है । वह मृत्यु को वुलाने का प्रयास नहीं करता, अपितु वह स्वयं आती है । उसका 'समाधिमरण', आने वाले के स्वागत की तैयारी-मात्र है ।

समाधिमरण में चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए शरीर के मोह को छोड़ना होता है । किन्तु शरीर का मोहत्याग और आत्मघात दोनों एक ही वात नहीं है । पहिले में संसार की वास्तविकता को समझ कर शरीर से ममत्व हटाने की वात है; और दूसरे में संसार से घवड़ाकर शरीर को समाप्त करने का प्रयास है । पहले में सात्विकता है, तो दूसरे में तामसिकता । एक में ज्ञान का प्रकाश है, तो दूसरे में अज्ञान का अन्धकार । मोह त्याग में संयम है, तो आत्मघात में असंयम । समाधिमरण का उद्देश्य मोह-त्याग भी नहीं, अपितु आत्मानन्द प्राप्त करना है । आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते ही मोह तो स्वयं ही दूर हो

---

१. श्रीमद् राजचन्द्र, डा० जगदीशचन्द्र जैन-सम्पादित, पृ० ३०७

२. एगो से सास्सदो अप्पा णाण दंसण लक्खणो ।
सेसा मे वाहिराभावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
—आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा ५९।

३. रागद्वेषमोहाविष्टस्यहि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति ।
—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, पृ० ३६३

४. जीवितमरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध निदानानि ।
—तत्त्वार्थ-सूत्र ७।३७

जाता है।[1] उसे नष्ट करने का प्रयास नहीं करना पड़ता। परम समाधि में तो सभी इच्छाएं विलीन हो जाती हैं, यहां तक कि आत्मा के साक्षात्कार की अभिलाषा भी नहीं रहती। इसके अतिरिक्त जैन आगमों में आयु-कर्म को वहुत प्रबल माना गया है। चार घातिया कर्मों को जीतने वाले अर्हन्त को भी आयु-कर्म को बिल्कुल क्षीण होने तक इस संसार में रुकना पड़ता है। इस तथ्य को जानने वाला जैन मुनि आत्म-घात का प्रयत्न नहीं कर सकता। तीर्थंकर का स्पष्ट निर्देश है कि आत्मघात करने वाला नरकगामी होता है।

जैन शास्त्रों में समाधिमरण का उल्लेख

प्राकृत भाषा के 'दिगम्बर प्रतिक्रमण-सूत्र' में 'पण्डितमरण' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहां उसके तीन भेदों का भी विशद वर्णन है। यह 'प्रतिक्रमण सूत्र' गौतम गणधर द्वारा रचित माना जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी सभी प्राकृत भक्तियों के अन्त में भगवान् जिनेन्द्र से—"दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुण सम्पत्ति होउ मज्झं" के द्वारा समाधिमरण की याञ्चा की है। अनगारों की वन्दना करते हुए उन्होंने लिखा है, एवं मएऽमित्थुया अणयारा रागदोसपरिमुद्धा संघस्स वरसमाहिं मज्झवि-दुक्खक्खयं दितु।[2] वट्टकेरस्वामीकृत 'मूलाचार' में भी अनेकों स्थानों पर समाधिमरण का प्रयोग हुआ है।

श्री यतिवृषभाचार्य ने 'तिलोयपण्णति' के चउत्थमहाधिकार' में कत्तिय बहुल्लसंते सादीसु दिणयरम्मि उग्गमिए। कियसण्णा सा सव्वे पावंति समाहि-मरणं हि[3] गाथा की रचना की है, इससे समाधिमरण प्राप्त करने की अभिलाषा स्पष्ट है।

श्री शिवार्यकोटि की 'भगवती-आराधना' समाधिमरण का ही ग्रन्थ है। इसमें समाधिमरण-सम्बन्धी नियम-उपनियमों और भेद-प्रभेदों का विस्तार के

---

१. परमात्मप्रकाश, दोहा, पृ० ३२८

२. देखिये आचार्य कुन्दकुन्द-कृत योगिभक्ति, गाथा २३, दश-भक्तिः, आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत-टीका और पं० जिनदास पार्श्वनाथ के मराठी-अनुवाद सहित, पृ० १८६, शोलापुर, १६२१ ई०

३. आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, चउत्थ महा-धिकार, १५३१ वीं गाथा, पृ० २४५, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १६४३ ई०

साथ वर्णन हुआ है। इस विषय का ऐसा असाधारण ग्रन्थ दूसरा नहीं है। इसमें शौरसेनी प्राकृत की इक्कीस सो सत्तर गाथाएँ है। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है—"भक्ति से वर्णन की गई यह भगवती आराधना संघ को तथा मुझको उत्तम समाधि का वर प्रदान करे। अर्थात्, इसके प्रसाद से मेरा तथा संघ के सभी प्राणियों का समाधिपूर्वक मरण होवे।"[1]

'चेइयवंदणमहाभासं' में 'दुक्खक्खओ की कई गाथाओं की व्याख्या की गई है। 'समाहिमरण' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है— भन्नइ समाहिमरणं, रागद्दोसेहिं विप्पमुक्काणं। देहस्सपरिच्चाओ भवंतकारी चरित्तीणं[2]—अर्थात् राग-द्वेष से विनिर्मुक्त चरित्रधारियों का भवान्तकारी देह का परित्याग समाधि-मरण कहा जाता है। 'चेइयवंदणमहाभासं' प्राचीन प्राकृत गाथाओं का एक संकलन-ग्रन्थ है।

आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्[3] के द्वारा समाधिमरण का प्रतिपादन किया है। आचार्य पूज्यपाद ने स्व-रचित संस्कृत-भक्तियों में समाधि-भक्ति पर भी लिखा है। आचार्य जिनसेन ने अपने आदि-पुराण में लिखा है—"स्वयंप्रभा नामक देवी सौमनस वन की पूर्व दिशा के जिन मन्दिर में चैत्य वृक्ष के नीचे पंच परमेष्ठी का भले प्रकार स्मरण करते हुए, समाधिमरण पूर्वक प्राण-त्याग कर स्वर्ग से च्युत हो गई।"[4] उन्होंने ही एक दूसरे स्थान पर लिखा है, "जीवन के अन्त समय में परिग्रह-रहित दिगम्बर-दीक्षा को प्राप्त हुए सुविधि महाराज ने विधि-पूर्वक उत्कृष्ट मोक्ष-मार्ग की आराधना कर समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़ा, जिससे अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए।"[5]

---

१. आराहणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती।
संघस्स सिवज्जस्स च समाहिवरमुत्तमं देउ॥
—शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, गाथा २१६८।

२. चेइयवंदणमहाभासं, श्री शांतिसूरि संकलित, मुनि श्री चतुरविजय और पं० बेचरदास-सम्पादित, गाथा ८६३, पृ० १५३, श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, वि० सं० १९७७

३. आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार ६।२, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

४. भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, प्रथम भाग पं० पन्नालाल साहित्याचार्य-सम्पादित और अनूदित, ६।५६-५७, पृ० १२४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

५. देखिये वही; १०।१६-१७०, पृ० २२२

श्री हरिषेणाचार्य बृहत्कथाकोश में 'जयसेन नृपति कथानकम्' के-"जिनेन्द्र-दीक्षया शुद्धः सर्वं त्यागं विधाय च । स्मरन् पञ्चनमस्कारं धर्मध्यानपरायणः ।। स्वीयमुदरं हत्वा करवाल्याऽतितीक्ष्णया । समाधिमरणं प्राप्य सूरिरेष दिवं ययौ ।।"[1] द्वारा और 'शकटाल मुनिकथानकम्' के "तद्वृत्तान्तमिदं ज्ञात्वा कृत्वा स्वालोचनाविधिम् । शरीरादिकमुज्झित्वा जपन् पञ्चनमस्कृतिम् ।। आदाय क्षुरिकां शान्तां पाटयित्वा निजोदरं । समाधिमरणं प्राप्य शकटालो दिवं ययौ ।"[2] द्वारा प्रमाणित है कि नृपति जयसेन और मुनि शकटाल दोनों ही ने अन्त समय में समाधिमरण धारण किया था ।

श्री योगीन्दु ने 'परमात्मप्रकाश' में लिखा है कि मोक्ष-मार्ग में परिणाम दृढ़ करने के लिए ज्ञानी जन समाधिमरण की भावना भाते हैं ।[3] इस प्रकार महाकवि पुष्पदन्त के 'णायकुमारचरिउ' में, इसी मोक्खगामी, तुमं मज्झ सामी । फुडं देहि बोही विसुद्धा समाही ।[4] तथा 'त्रिभुवनलिक' में, 'णं समाहि णं सरसइ णं दय, णं खम पुरिसवेस विहिणा कय' ।[5] आदि उल्लेख मिलते हैं ।

जैन पुरातत्व में समाधिमरण के चिह्न

श्रवणबेल्गोल के शिलालेख क्र० १ से प्रमाणित हो गया है कि श्री भद्रबाहु स्वामी संघ को आगे बढ़ने की आज्ञा देकर आप प्रभाचन्द्र नामक एक शिष्य-सहित कटवप्र पर ठहर गए और उन्होंने वहीं समाधिमरण किया ।[6] प्रभाचन्द्र चन्द्रगुप्त का ही नामान्तर या दीक्षा-नाम था । श्रवण वेल्गोल के ही शिलालेख क्र० १७-१८, ४०, ५४ तथा १०८ से भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनों का चन्द्रगिरि से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है ।[7] राजगिरि पर सप्तपर्णी और सोनभद्र नाम की

---

१. हरिषेणाचार्य, बृहत्कथाकोश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित १५६।३९-४०, पृ० ३४९, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

२. देखिये वही, १५७।१३९-४०, पृ० ३५४

३. देखिये परमात्मप्रकाश, पृ० ३२८

४. आचार्य पुष्पदन्त, णायकुमारचरिउ, डॉ० हीरालाल जैन-सम्पादित, द्वितीय परिच्छेद, ३।२०, पृ० १६, जैन पब्लिशिंग सोसाइटी, कारंजा, १९३३ ई०

५. देखिये वही, ९-वां परिच्छेद, ४।५, पृ० ९५

६. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, डॉ० हीरालाल जैन-सम्पादित, पृ० १-२, माणिक-चन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई ।

७. देखिये वही, पृ० क्रमशः ६, २४, १०१, २१०

दो गुफाएँ हैं, जो वैभारगिरि के उत्तर में एक जैन मन्दिर के नीचे हैं। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने वैभारगिरि पर निर्ग्रन्थ साधुओं को देखा था। इनमें से एक गुफा पर अङ्कित शिलालेख से स्पष्ट है कि मुनि वैरदेव के समय में वहाँ साधु समाधिमरणपूर्वक निर्वाण प्राप्त करते थे।[1] सितन्नवासल्ल पड्डुक्कोटा से वायव्यकोण में नवें मील पर अवस्थित है। यहाँ पर पाषाण के टीलों की गहराई में जैन गुफाएं उत्कीर्णित हैं। प्रत्येक की लम्बाई ६-४ फुट है। गुफा का क्षेत्रफल १००×५० फुट है।[2] समाधि-शिलाएँ वे स्थान हैं, जिन पर वैठ कर मुनियों ने समाधिमरण-पूर्वक मृत्यु को वरण किया था, महा नवमी-मण्डप के लेख क्र० १२(६६) में आचार्य नयकीर्ति के समाधि-मरण का सम्वाद है, जो सन् ११७६ में हुआ था।[3]

समाधिमरणपूर्वक मरने वाले साधु के अन्तिम संस्कार-स्थल को 'नसियाँजी' कहते हैं। यह जैन परम्परा का अपना शब्द है, जो अन्य किसी परम्परा में सुनने को नहीं मिलता। प्राकृत 'णिसीहिया' का अपभ्रंश 'निसीहिया हुआ, और वह कालान्तर में नसिया होकर आजकल नशियाँ के रूप में व्यवहृत' होने लगा है। सस्कृत में उसके 'निषीधिका', 'निषिद्धिका' आदि अनेक रूप प्रचलित हैं। 'वृहत्कल्पसूत्रनियुंक्ति' की गाथा क्र० ५५११-४२ में 'निसीहिया' शब्द का प्रयोग हुआ है, तात्पर्य उस स्थान से है, जहाँ क्षपक साधु का समाधि-मरण पूर्वक दाह-संस्कार किया जाता है। 'भगवती-आराधना' की टीका में वतलाया गया है, "जिस स्थान पर समाधिमरण करने वाले क्षपक के शरीर का विसर्जन या अन्तिम संस्कार किया जाता है, उसे निषीधिका कहते हैं।"[4]

निसीदिया का सवसे पुराना उल्लेख सम्राट् खारवेल के हाथी-गुफा वाले शिलालेख में हुआ है। इस शिलालेख की १४ वीं पंक्ति में.........कुमारी पवते अरहते परवीण-संसतेहिकाय-निसीदयाय.........' और १५ वीं पंक्ति में......

---

१. प्राचीन जैन स्मारक, पृ० ११

२. मुनि कान्तिसागर खँडहरों का वैभव, पृ० ६५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३. डा० हीरालाल जैन, श्रवणवेलगोलस्मारक, जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग में निवद्ध पृ० १३।

४. यथा निषीधिका आराधक शरीर-स्थापनास्थानम्।

—मूलाराधना टीका, गाथा १९६७

अरहत निसीदिया समीपे पाभारे.........' पाठ आया है।[1] इससे निषीधिका की प्राचीनता सिद्ध होती है। उससे समाधिमरण की प्राचीनता तो स्वमेव प्रमाणित है। वास्तव में ये निषीधिकाएँ जैन मुनियों और साधुओं की स्मारक हैं। वे स्तूप भी इसके पर्यायवाची हैं, जो समाधिमरण करने वाले किसी महापुरुष की स्मृति में निर्मित हुए थे। आचार्य स्थूलभद्र ने वी० नि० सं० २१९ और ईसा-पूर्व ३११ में शरीर-त्याग किया। आज भी उनका समाधि-स्थान एक स्तूप के रूप में पटना में गुलजार बाग स्टेशन के पिछले भाग में स्थित है। प्रसिद्ध यात्री श्युआनचुआंग ने इसे देखा था।[2] श्रवण वेल्गोल के जो लेख प्रकाशित हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वहाँ समाधिमरण से सम्बन्ध रखने वाले मुनि, अजिकाओं व श्रावक-श्राविकाओं के लेखयुक्त कई स्मारक हैं, जिनमें सर्वप्राचीन समाधिमरण का लेख शक० सं० ५७२ का है।

समाधिमरण की भावना

जैन परम्परा में आज भी 'दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाधिमरणं च बोहिलाहो वि। मम होउ तिजगबन्धव तव जिणवर चरण सरणेण' की भावना पाई जाती है। समाधिमरण धारण करने वाले का यह आकुल भाव भिन्न-भिन्न युगों, स्थानों और भाषा-उपभाषाओं में व्यक्त होता रहा है। यहाँ आचार्य पूज्यपाद की समाधि-भक्ति[3] के कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया जा रहा है। संस्कृत-साहित्य के सभी भक्त-कवियों ने कुछ कम-बढ़ रूप में इसी भाव को स्पष्ट किया है :

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रिय-हितवचो भावना चात्मतत्वे
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥२॥

हे भगवन्! मैं भव-भव में शास्त्राभ्यास, भगवान् जिनेन्द्र की विनती, सदा आर्यों के साथ संगति, अच्छे चरित्र वालों के गुणों का कथन, दूसरों के दोषों के

---

१. जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण २, पृ० १३५-३६
२. मुनि कान्तिसागर, खोज की पगडण्डियाँ, पृ० २४४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।
३. आचार्य पूज्यपाद, समाधि-भक्ति, संस्कृत भाषा में है, यह शोलापुर से मुद्रित समाधि भक्ति में प्रकाशित हो चुकी है।

विषय में मौन, सबके लिए प्रिय और हितकारी वचन और शुद्धात्मतत्व में मन लगाता रहूँ, ऐसी प्रार्थना है ।

आबाल्याज्जिनदेवदेव भवतः श्रीपादयोः सेवया,
सेवासक्त विनेय-कल्पलतया कालोऽद्य यावद्गतः ।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे,
त्वन्नाम प्रतिबद्धवर्णपठने कण्टोऽस्त्वकुण्ठो मम ।।६।।

हे भगवन् जिनदेव ! मेरा बचपन से लेकर आज तक का समय आपके चरणों की सेवा और विनय करते-करते ही व्यतीत हुआ है । इसके उपलक्ष में आपसे मैं वही वर चाहता हूँ कि आज इस समय, जबकि हमारे प्राणों के प्रयाण की वेला आ उपस्थित हुई है, आपके नाम से जटित स्तुति के उच्चारण में मेरा कण्ठ अकुण्ठित न हो ।

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वय लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्तिः ।।७।।

हे जिनेन्द्र ! जब तक मैं निर्वाण प्राप्त करूँ, तब तक आपके चरण-युगल मेरे हृदय में और मेरा हृदय आपके दोनों चरणों में लीन बना रहे ।

अनन्तानन्त-संसार-संततिच्छेदकारणम् ।
जिनराज-पदाम्भोज-स्मरणं शरणं मम ।।१४।।
अन्यथाशरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ।।१५।।

भगवान् जिनेन्द्र के चरणकमलों का वह स्मरण, जो अनन्तानन्त संसार-परम्पराओं को काटने में समर्थ है, मुझ दुःखी को शरण देने वाला है । मुझे आपके सिवा और कोई शरण देने वाला नहीं है, इसलिए हे भगवान् ! कारुण्य भाव से मेरी रक्षा करो ।

नहि त्राता नहि त्राता नहि त्राता जगत्त्रये ।
वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ।।१६।।
जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने ।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे ।।१७।।

याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविन्दयोर्भक्तिम् ।
याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव ॥१८॥

तीनों लोकों में भगवान् वीतराग के अतिरिक्त कोई रक्षा करने वाला नहीं है। ऐसा देव न कभी भूत में हुआ और न भविष्यत् में होगा। भक्त का भगवान् से निवेदन है कि, प्रतिदिन भव-भव में मुझे भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति उपलब्ध हो। हे जिनेन्द्र ! मैं वारम्वार यही प्रार्थना करता हूँ कि आपके चरणारविन्द की भक्ति सदैव प्राप्त होती रहे। मैं पुनः-पुनः उसी की याचना करता हूँ।

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगाः ।
विषो निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥१६॥

भगवान् जिनेन्द्र की स्तुति करने से विघ्नों के समूह-रूप शाकिनी, भूत और पन्नग सभी विलीन हो जाते हैं और विष निर्विषता को प्राप्त हो जाता है।

जैन भक्ति-काव्य

यद्यपि हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, भक्तिरसायन, नारद भक्तिसूत्र और शाण्डिल्य सूत्रों की भांति जैन परम्परा में किसी भक्तिसूत्र का निर्माण नहीं हुआ, किन्तु अनेक जैन सैद्धान्तिक ग्रन्थों में भक्ति संवधी विवेचन उपलब्ध होता है। आचार्य कुन्द-कुन्द (ईसा की प्रारंभिक शताब्दियां) ने सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, चरित्र-भक्ति, योग-भक्ति, आचार्य-भक्ति और निर्वाण-भक्ति पर प्राकृत भाषा में लिखा था। ये भक्तियां प्रभाचन्द्र की संस्कृत टीका और पं० जिनदास पार्श्वनाथ के मराठी अनुवाद सहित 'दशभक्ति' नाम की पुस्तक में, शोलापुर से सन् १६२१ में प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्द-कुन्द के वोध पाहुड और मोक्षपाहुड में भी भक्तिपरक तत्वों की व्याख्या की गयी है।

आचार्य उमास्वाति (वि० सं० दूसरी शताब्दी) के तत्वार्थसूत्र में श्रद्धा, विनय और वैयावृत्य के सम्वन्ध में अनेक सूत्रों का निर्माण हुआ है। उन्होंने एक सूत्र के द्वारा तीर्थङ्करत्व नाम कर्म के उदय में भक्ति को कारण कहा है। आचार्य उमास्वाति के इस सूत्र पर आगे के काल में अनेकानेक भाष्य और वृत्तियों की रचना हुई। इनमें आचार्य पूज्यपाद (वि० सं० पांचवीं शताब्दी) के 'सर्वार्थसिद्धि', आचार्य अकलंक (वि०सं० सातवीं शताब्दी) के 'तत्वार्थराजवार्तिक' और आचार्य श्रुतसागर (वि० सं० १६वीं शताब्दी) के 'तत्वार्थवृत्ति' नाम के ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। इनमें उपर्युक्त भक्ति संवंधी सूत्रों की विशद व्याख्या

की गयी है। इन भाष्यकारों ने यथास्थान मौलिक तथा नवीन बातों का भी समावेश किया है।

उमास्वाति के पश्चात् आचार्य समंतभद्र के 'समीचीन धर्म शास्त्र' में श्रद्धा, विनय वैयावृत्य, जिनेन्द्र और गुरु भक्ति पर तात्विक रूप से विचार किया गया है। वे अपनी परीक्षा की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही जिनेन्द्र के परम-भक्त वने थे। उन्होंने अपनी श्रद्धा को सुश्रद्धा कहा है। उस समय का भारतीय वातावरण उनके तर्क और पांडित्य का लोहा मानता था।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि के अतिरिक्त दश–भक्तियाँ भी संस्कृत में लिखी हैं। ये सव 'दशभक्तिः' नाम की पुस्तक में प्रकाशित हो चुकी हैं। इन्हीं आचार्य के 'समाधितंत्र और इष्टोपदेश' में भी समाधि और गुरुभक्ति से सम्बन्धित अनेक प्रकरण विखरे पड़े हैं। विक्रम की पांचवीं शताब्दी के ही आचार्य सिद्धसेन के 'द्वात्रिंशिका स्तोत्र' में भी भक्ति के विषय में बहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है।

आचार्य योगीन्दु (छठी शताब्दी ईसवी) ने 'परमात्मप्रकाश–योगसार' की रचना की थी। यह अपभ्रंश भाषा का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसका प्रकाशन परमश्रुतप्रभावकमण्डल, वम्वई, से हो चुका है। इसमें भगवान सिद्ध और आत्मा की एकरूपता दिखाते हुए उनकी भक्ति का निरूपण किया गया है। डा० ए० एन० उपाध्याय ने इस ग्रंथ को रहस्यवादी कहा है।

आचार्य यतिवृषभ (वि० सं० छठी शताब्दी) की तिलोयपण्णत्ति (प्राकृत) में जिनेन्द्र के पंचकल्याणक और तत्सम्बन्धी भक्ति का विस्तृत वर्णन किया गया है। उन्होंने अकृत्रिम मन्दिरों, देवमूर्तियों, देवियों और देवों की भक्ति के विषय में पर्याप्त लिखा है। भक्ति के प्रमुख अंग वंदना का विचार, उत्तराध्यनसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति और वृहत्कल्पभाष्य में सभी दृष्टियों से किया गया है।

आचार्य शिवार्यकोटि (वि० सं० सातवीं शताब्दी) के 'भगवती आराधना' ग्रन्थ में जैन भक्ति पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। उन्होंने जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों के आधार से भक्ति का विवेचन किया है। इस विशालकाय ग्रन्थ में अनेक स्थलों पर पंच–परमेष्ठी की श्रद्धा, सेवा, नियम वैयावृत्य और अनुराग परक भक्ति की सार्थकता सिद्ध की गयी है। श्री जिनदास गणी (वि० सं० सातवीं-आठवीं शताब्दी] की निशीथचूर्णि में "सेवा जा सा भत्ति," कहकर जिनेन्द्र सेवा पर वहुत कुछ लिखा हुआ मिलता है। श्री देवसेन [११वीं शती

ईसवी] ने अपने 'भाव संग्रह' में पंच परमेष्ठी के ध्यान का वर्णन अनेक दोहों में किया है। आचार्य सोमदेव के 'यशस्तिलक' (वि० सं० १०१६) और आचार्य वसुनन्दि के 'वसुनन्दि श्रावकाचार (वि० सं० १२वीं शताब्दी) में भक्ति के अनेक अंग-उपांगो की व्याख्या प्राप्त होती है।

जैन मंत्र-ग्रन्थ देव देवियों की भक्ति से सम्बन्धित हैं। इनमें आचार्य मल्लिषेण का 'भैरव पद्मावतीकल्प' अत्यधिक प्रसिद्ध है। इसमें देवी पद्मावती की साधना के लिए विविध मंत्रों का निर्माण किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र की 'अभिधान चिन्तामणि' में भी देवियों की साधना से सम्बन्धित सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है।

जैन भक्ति का स्वरूप

आचार्य देवनन्दि पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' में लिखा है 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः'। इसका तात्पर्य है कि अर्हन्त, आचार्य, और प्रवचन में भाव विशुद्धि-युक्त होकर अनुराग करना भक्ति है। आचार्य सोमदेव ने भी 'यशस्तिलक' में, "जिने जिनागमे सूरौ तपःश्रुतपरायणे। सद्भावविशुद्धिसम्पन्नोऽनुरागो भक्तिरुच्यते ॥" लिखा है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि उस वीतराग भगवान् में जो स्वयं राग रहित हैं और जो राग त्यागने का उपदेश देता है, अनुराग कैसे सम्भव है? राग कैसा ही हो कर्मों के बन्ध का कारण है।

आचार्य कुन्द-कुन्द के कथनानुसार वीतराग भगवान में किया गया अनुराग पाप के बन्ध का यत्किंचित् भी कारण नहीं है। उनकी दृष्टि से पंचपरमेष्ठी में राग करने वाला सम्यग्दृष्टि हो जाता है। आचार्य योगीन्दु का कथन है कि 'पर' में होने वाला राग ही बन्ध का हेतु है, 'स्व' में होनेवाला नहीं। वीतरागी परमात्मा 'पर' नहीं, अपितु 'स्व' आत्मा ही है। अतः जिनेन्द्र में राग करना अपनी आत्मा में ही प्रेम करना है। 'स्व' में राग करने वाला मोक्षगामी होता है।

इसके अतिरिक्त वह ही राग बन्ध का कारण है, जो सांसारिक स्वार्थ से प्रेरित होकर किया गया हो। निष्काम अनुराग में कर्मों को बांधने की शक्ति नहीं होती। वीतराग में किया गया अनुराग निष्काम ही है। वीतराग पर रीझकर ही भक्त ने वीतराग में अनुराग किया है। इसके उपलक्ष्य में यदि वीतराग भगवान अपने भक्त में अनुराग करने लगे, तो भक्त का रीझना ही समाप्त हो जायगा। वह भगवान से अपने ऊपर न दया चाहता है, न अनुग्रह और न प्रेम।

आचार्य हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में श्रद्धा को ही भक्ति कहा गया है। 'पाइप-सद्द-महाण्णवो' में भी भक्ति के पर्यायवाचियों में सेवा के साथ श्रद्धा की भी गणना है। आचार्य समन्तभद्र ने समीचीन धर्मशात्र में श्रद्धान और भक्ति का एक ही अभिप्राय माना है। वे आप्तादि के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। आचार्य उमास्वाति ने 'सम्यग्दर्शन' के 'दर्शन' शव्द का अर्थ श्रद्धान ही लिया है। उन्होंने तत्वज्ञान के पहले तत्वश्रद्धान को इष्ट माना है। उनकी दृष्टि से तत्वज्ञान तत्वश्रद्धान के विना नहीं हो सकता। आचार्य कुन्द-कुन्द ने लिखा है कि आत्म-दर्शन ही सम्यग्दर्शन है, किन्तु अकलंकदेव का मत है कि आत्मा का दर्शन तव तक नहीं हो सकता, जव तक वैसा करने की श्रद्धा जन्म न ले।

श्रावक शव्द के 'श्रा' का अर्थ भी श्रद्धा ही लिया गया है। अभिधान राजेन्द्रकोश में लिखा है, "श्रन्ति पचन्ति तत्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्तीति श्राः।" श्रावक श्रद्धा के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार का फल पा जाता है। वह अपनी आत्मा को देखने का प्रयास नहीं करता, किन्तु जिनेन्द्र में श्रद्धा करता है। जिनेन्द्र और आत्मा का स्वभाव एक ही है। अतः वह जिनेन्द्र की श्रद्धा से अपनी शुद्ध आत्मा को जान जाता है किन्तु यह श्रद्धा सम्यक् श्रद्धा होनी चाहिए, अन्ध श्रद्धा का यत्किंचित् मूल्य भी जैन शास्त्रों में नहीं आंका गया। अपनी सुश्रद्धा के कारण ही आचार्य समन्तभद्र जिनेन्द्र के दृढ़ भक्त वन सके थे। इसका अर्थ है कि जैन आचार्यों ने सुश्रद्धा के प्रगाढ़ रूप को ही भक्ति कहा है।

निशीथचूर्णि में, "अब्भुट्ठाणदंडग्गहण-पाय-पुच्छणासणप्पदाण-गहणादीहिं सेवा ना सा भत्ति" लिखा है। इसका अर्थ है—आचार्य के सम्मान में खड़े हो जाना, दण्ड ग्रहण करना, पांव पोछना, आसन देना आदि जो सेवा है, वह ही भक्ति है। राजेन्द्रकोश में, "सेवायां भक्तिर्विनयः", कह कर भक्ति का अर्थ सेवा तो लिया ही है, सेवा का अर्थ भी विनय किया है। आचार्य उमास्वाति ने एक सूत्र में विनय के 'ज्ञान-दर्शन चरित्रोपचारः" रूप में चार भेद माने हैं। इनमें उपचार विनय का सेवा से सीधा संबंध है। आचार्य पूज्यपाद ने उपचार विनय आचार्यों के पीछे-पीछे चलने, सामने आने पर खड़े हो जाने, अंजलिबद्ध होकर नमस्कार करने को कहा है।

इस भांति यह सिद्ध हुआ कि जिनेन्द्र के अनुराग, श्रद्धा और सेवा करने को भक्ति कहते हैं। किन्तु प्रश्न तो यह है कि जैन सिद्धान्त के अनुसार जिनेन्द्र न कर्त्ता है और न भोक्ता, फिर भक्त अपनी स्तुतियों में उसको कर्त्ता क्यों कहता है? इसका उत्तर देते हुए आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है—वीतराग भगवान

को पूजा वन्दना से कोई तात्पर्य नहीं है, क्योंकि वे सभी रागों से रहित हैं। निन्दा से भी उनका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उनमें से वैरभाव निकल चुका है। फिर भी उनके पुण्य गुणों का स्मरण भक्त के चित्त को पाप मलों से पवित्र करता है। भगवान् को भक्त के इस स्मरण का भान भी नहीं होता, किन्तु उन्हीं के गुणों के स्मरण से भक्त का चित्त पवित्र बना और पाप-मल धुले। अतः वह तो उन्हें कर्त्ता कहता ही है। इसी दृष्टि को लेकर जैन भक्त अपनी रचनाओं में जिनेन्द्र से कभी याचना करता है, कभी प्रार्थना और कभी विनती।

प्राचीन भक्ति-परक काव्य

स्तुति-स्तोत्र, स्तव-स्तवन, वंदना, पूजा और मंगलाचरण के रूप में जैनों का प्राचीन भक्ति-काव्य बहुत अधिक है। यह साहित्य प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश तीनों ही भाषाओं में लिखा गया था। प्राकृत का 'जयतिहुअण स्तोत्त' सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। बृहद्द्रव्यसंग्रह' की ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका के आधार पर सिद्ध है कि इसके रचियता भगवान् महावीर के प्रमुख गणधर गौतम थे। भगवान महावीर के समवशरण में प्रविष्ट होते ही गौतम ने इसी स्तोत्र से उनको नमस्कार किया था। भद्रबाहु स्वामी का 'उवसग्गहर स्तोत्र' भी बहुत प्राचीन है। उसमें भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से सम्बन्धित पाँच पद्यों की रचना हुई है। भद्रबाहु भगवान महावीर के निर्वाण के १७०वें वर्ष मोक्ष गये थे। आचार्य कुन्द-कुन्द ने भक्ति परक अनेक स्तुतियों का निर्माण प्राकृत भाषा में ही किया था। उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'तित्थ–परथुति' की भी रचना की थी। इसमें आठ गाथाएं हैं, जिनमें चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति की गयी है। इसे 'लोगस्ससूत्त', भी कहते हैं। मानतुंगसूरि (तीसरी सदी ई०) का २१ पद्यात्मक 'भयहर स्तोत्त' भी प्राकृत भाषा का मनोहारी काव्य है।

संस्कृत भाषा में तो उत्तमोत्तम जैन स्तुति-स्तोत्रों की रचना हुई। आचार्य समन्तभद्र के स्वयम्भू–स्तोत्र तथा स्तुति–विद्या समूचे भारतीय भक्ति साहित्य के जगमगाते रत्न हैं। हृदय की भक्ति परक ऐसी कोई धड़कन नहीं जो इनमें सफलता के साथ अभिव्यक्त न हुई हो। भाव और कला का ऐसा अनूठा समन्वय भारत के किसी अन्य स्तोत्र में दृष्टिगोचर नहीं होता। शंकराचार्य के 'भज गोविन्द' और जयदेव के 'गीत गोविन्द' में स्वरलहरी भले ही मनमोहक हो, किन्तु उनकी भावधारा में 'स्वयम्भू स्तोत्र' जैसा अजस्र प्रवाह नहीं है। आचार्य सिद्धसेन (वि० सं० पांचवीं शताब्दी) के 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र', विद्यानन्दि

पात्रकेशरी (ईसा की पांचवीं-छठी शताब्दी) के 'वृहत्पंचनमस्कार स्तोत्र' मानतुंगाचार्य (वि०सं०सातवीं शताब्दी-मुनि चतुर विजय) के 'भक्तामर स्तोत्र', भट्टाकलंक (वि० सं० सातवीं शताब्दी) के अकलंक स्तोत्र, वप्पभट्टि (ई० ७४३-८३८) के 'चतुर्विंशति जिन स्तोत्र', धनंजय (वि० सं० आठवीं-नवीं शताब्दी) के 'विषापहार स्तोत्र' और आचार्य हेमचन्द्र (जन्म सं० ११४५, मृत्यु सं० १२२९) के 'वीतराग स्तोत्र' में भक्ति रस चरम आनन्द की सीमा तक पहुँच गया है। इनमें भी 'भक्तामर स्तोत्र' की ख्याति सबसे अधिक है। इसमें ४८ पद्य हैं। सादृश्य विधायक उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों के प्रयोग से विम्ब-प्रतिबिम्ब भाव की ऐसी सफल अभिव्यक्ति कम स्तोत्रों में देखी जाती है। भक्त मर स्तोत्र का पढ़ने वाला आज भी भाव विभोर और तन्मय हुए बिना नहीं रहता।

कुछ विद्वानों का कथन है कि अपभ्रंश में स्तुति स्तोत्रों का निर्माण नहीं हुआ। इसी आधार पर वे हिन्दी के भक्ति-काव्य को अपभ्रंश से प्रभावित नहीं मानते। किन्तु जैन भण्डारों की खोज के अधार पर सिद्ध हो चुका है कि संस्कृत और प्राकृत की भांति ही अपभ्रंश में भी स्तोत्र और स्तवनों की रचना हुई थी। कवि धनपाल (वि० सं० ११ वीं शताब्दी) ने 'सत्यपुरीय महावीर उत्साह,' जिनदत्त सूरि (जन्म ११३२, मृत्यु १२११ वि० सं०) ने 'चर्चरी' और 'नवकार-फलकुलक' तथा देवसूरि (जन्म ११५३, मृत्यु १२११ वि० सं०) ने 'मुनिचंद्रसूरि स्तुति' का निर्माण अपभ्रंश में ही किया था। एक श्री जिनप्रभसूरि हुए हैं, जिनको डा० विण्टरनित्स ने सुलतान फीरोज (वि० सं० १२२०-१२९६) का समकालीन वतलाया है। ये जिनप्रभसूरि, विविध तीर्थकल्प के रचियता जिनप्रभसूरि से भिन्न थे। उन्होंने जिनजन्माभिषेक:, जिनमहिमा और मुनिसुव्रत स्तोत्रम् की रचना की थी। श्री धर्मघोषसूरि (वि० सं० १३०२-१३५७) ने भी महावीर-कलश का निर्माण अपभ्रंश में ही किया था। पाटण के जैन भण्डार में अपभ्रंश का भक्ति-साहित्य इतना अधिक है कि उस पर पृथक खोज की आवश्यकता है। जैनों में अनेक कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने एक स्तोत्र में छः भाषाओं का प्रयोग किया है। उनमें सोमसुन्दर सूरि (वि० सं० १४३०-१४९९) का 'षडभाषामय स्त्रोत्राणि' प्रसिद्ध है। यह जैन-स्तोत्र समुच्चय में प्रकाशित हो चुका है।

जैन देवियों की भक्ति में अनेक स्तुति स्तोत्रों की रचना हुई थी। मैंने पी० एच० डी० के लिये प्रस्तुत किये गये अपने शोध निबन्ध में देवी पद्मावती, अम्बिका, चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, सरस्वती, सच्चियाय और कुरुकुल्ला के

पुरातात्विक, ऐतिहासिक और सैद्धांतिक विवेचन के साथ-साथ भक्ति परक स्तुति-स्तोत्रों का भी निरूपण किया है। मल्लिषेणसूरि (वि० सं० ११वीं-१२ वीं शताब्दी) ने 'भैरव पद्मावतीकल्प' की रचना की जो देवी पद्मावती से सम्बन्धित महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके १० अध्यायों में ४०० श्लोक निबद्ध हुए हैं। इसका तीसरा अध्याय 'भगवती अराधना' के नाम से गूंथा गया है। यह ग्रंथ अहमदाबाद और सूरत से प्रकाशित हो चुका हैं। अहमदाबाद वाले प्रकाशन में जिनप्रभसूरि (१३ वीं शताब्दी ईसवी) की 'पद्मावति चतुष्पदिका' भी छप चुकी है। इसमें ३७ पद्य हैं। इन्हीं सूरिजी ने प्राकृत भाषा में भी 'पद्मावती चतुष्पदी' की रचना की थी, जिसमें ४६ गाथाएं हैं। जैन स्तोत्र संदोह के "घ" परिशिष्ट में एक 'पद्मावत्यष्टक' दिया है, जिसकी वृत्ति के रचियता श्री पार्श्वदेवगणी (वि० सं० ११७१)थे। सूरत वाले भैरव पद्मावतीकल्प में 'पद्मावती सहस्रनाम,' 'पद्मावतीकवचं' और 'पद्मावती-स्तोत्र' दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त श्री वप्पभट्टसूरि (आठवीं सदी ईसवी) ने 'सरस्वती स्तोत्र,' श्री देवसूरि ने 'कुरुकुल्ला देवी स्तवनम्', जिनेश्वरसूरि(१२ वीं शताब्दी वि० सं०)ने 'अम्विका स्तुति' और जिनदत्तसूरि ने 'चक्रेश्वरी स्तोत्र' का निर्माण किया था। इनसे स्पष्ट है कि जैन देवियों की भक्ति जिनेन्द्र के भक्तों की भक्ति है। जैन देवियाँ, हिन्दू देवियों की भांति स्वतंत्र नहीं थीं। उनको जिनेन्द्र की शासनदेवी कहा जाता है। उन पर तांत्रिक युग का प्रभाव है, किन्तु उनमें मांस-भक्षण, जन-रुधिर का पान और व्यभिचारादि जैसी प्रवृत्तियों का कभी जन्म नहीं हुआ।

उपर्युक्त स्तुति-स्तोत्रों की भाँति ही पूजा, वन्दना और मंगलाचरणों के रूप में जैन भक्ति की विविध प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन हुआ है। इन सब में मंगलाचरण का महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य यतिवृषभ की तिलोयपण्णत्ति और आचार्य विद्यानन्दि की आप्तपरीक्षा में मंगल का तात्विक विवेचन किया गया है। जैनों का सबसे प्राचीन मंगलाचरण "णमो अरहंताणं" वाला मंत्र है। वैसे तो इस मंत्र को अनादि निधन कहा जाता है, किन्तु उपलब्ध साहित्य में, भगवत् पुष्पदन्त भूतवलि के षट्खण्डागम का प्रारम्भ इसी मंगलाचरण से हुआ है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के सभी जैन ग्रंथों का प्रारम्भ किसी न किसी मंगलाचरण से हुआ है। ये मंगलाचरण जैन भक्ति के सर्वोत्तम निदर्शन हैं। इनमें सबसे बड़ी विशेषता है कि इनके नाम पर विलासिता को थोड़ा भी प्रश्रय नहीं दिया गया, जब कि शैव भक्ति में लिखे गये अनेक मंगलाचरण वैसी भावनाओं का नियंत्रण नहीं कर सके।

वन्दना भी जैन भक्ति का मुख्य अंग है। 'वन्दनक सूत्र' पर लिखी गई 'भद्रबाहुनिर्युक्ति' में, उत्तराध्ययन सूत्र और आवश्यक सूत्रों में, हरिभद्रसूरि के 'वन्दनापंचाशक' में तथा वट्टकेरकृत 'मूलाचार' में वन्दना का सैद्धान्तिक निरूपण किया गया है। अरहन्तवन्दन और चैत्यवन्दन पर अनेक स्तुतिस्तोत्र उपलब्ध हैं। श्री जिनदत्तसूरि के चैत्यवन्दनकुलक में २८ गाथाएँ हैं। जिनप्रभसूरि के 'वन्दन स्थान विवरण' में १५० प्राकृत की गाथाएँ हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने देवाधिदेव जिनेन्द्र के चरणों की परिचर्या अर्थात् सेवा करने को ही पूजा कहा है। अष्टद्रव्यरूप पूजा का उल्लेख सर्व प्रथम, आचार्य यतिवृषभ की 'तिलोयपण्णत्ति' में उपलब्ध होता है। इसके उपरान्त पंचपरमेष्ठी, विविधतीर्थक्षेत्र, नन्दीश्वर द्वीप, कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयों की भक्ति में अधिकाधिक पूजाओं का निर्माण हुआ। ये पूजायें बहुत कुछ संस्कृत और हिन्दी में ही रची गईं। इनके अंत में लिखित जयमालाएँ भक्ति-साहित्य का मूल्यवान अंश हैं। इन पूजाओं के अनेक संकलन प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें भारतीय ज्ञानपीठ-पूजांजलि महत्वपूर्ण है। हिन्दी में द्यानतराय की पूजाएँ, संगीत, लय, भाव और भाषा सभी दृष्टियों से उत्तम हैं। जैन और अजैन पूजा साहित्य के तुलनात्मक विवेचन से अनेक नई बातें ज्ञात हो सकती हैं।

हिन्दी का जैन भक्ति-कव्य

हिन्दी का भक्ति-काव्य अपनी ही उपर्युक्त पूर्व परम्परा से अनुप्राणित है। उसका विभाजन-निष्कल भक्तिधारा और सकल भक्तिधारा के रूप में किया जा सकता है। निष्कल ब्रह्म 'सिद्ध' को कहते हैं। सिद्ध अदृश्य हैं और स्थूल आकार से रहित हैं। वे मोक्ष में विराजमान हैं। उनमें सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सूक्ष्मता, अवगाहन, अगुरुलघु और अव्याबाध नाम के आठ गुण होते हैं। आचार्य योगीन्दु ने 'सिद्ध' और 'शुद्ध आत्मा' का एक ही रूप माना है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि आठ कर्मों के नाश से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उसे ही सिद्धि कहते हैं और ऐसी सिद्धि करने वाला ही सिद्ध कहलाता है। पं० आशाधर ने 'सिद्ध' की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है "सिद्धिःस्वात्मोपलब्धिः संजाता यस्य इति सिद्धिः।" आत्मा भी निराकार है अदृश्य है। हिन्दी के जैन कवियों ने अपने मुक्तक पदों में सिद्ध और आत्मा दोनों ही को सम्बोधन करके अपना भाव प्रकट किया है।

सकल ब्रह्म अरहन्त को कहते हैं। चार घातिया कर्मों का क्षय करने से अर्हत्पद मिलता है। अर्हन्त को चार अघातिया कर्मों के नाश होने तक संसार में

रुकना होता है। वे समवशरण में बैठकर संसार को उपदेश देते हैं। उनके शरीर होता है, वे दिखाई देते हैं। हिन्दी के भक्त कवियों ने अर्हन्त की भक्ति में बहुत कुछ लिखा है। इसी सकल भक्ति-धारा में आचार्य, उपाध्याय, साधु, देव-देवियों, चैत्य, मूर्ति, मन्दिर और तीर्थ क्षेत्रों को लिया जा सकता है। ये सब सशरीर हैं और दिखाई देते हैं। किन्तु जैन हिन्दी के भक्त कवियों को निष्कल और सकल भक्ति धाराओं में पृथक-पृथक नहीं बांटा जा सकता, जैसा कि पं० रामचन्द्रशुक्ल ने निगुण और सगुण भक्ति धाराओं के रूप में स्पष्ट विभाजन किया है। हिन्दी का ऐसा कोई जैन कवि नहीं है, जिसे हम केवल सिद्ध या अर्हन्त का ही भक्त कह सकें। प्रत्येक जैन कवि ने यदि एक ओर सिद्ध और आत्मा की भक्ति में अपने भाव अभिव्यक्त किये, तो दूसरी ओर अर्हन्त, आचार्य या किसी देव-देवी के चरणों में भी अपनी श्रद्धा के पुष्प बिखेरे हैं।

वीरगाथा काल में जैन भक्ति कवि

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथनानुसार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जिस काल को वीरगाथा काल नाम दिया है, उसमें वीरगाथाओं की अपेक्षा धार्मिक कृतियाँ अधिक थीं। पं० शुक्ल ने उन कृतियों को सूचना मात्र कह के छोड़ दिया था। इन कृतियों में जैन भक्ति सम्बन्धी रचनायें हैं। उनमें धार्मिकता है, तो साहित्यिकता भी। धार्मिक होने मात्र से ही कोई रचना असाहित्यिक नही हो जाती। मूल प्रवृत्तियों का भावोन्मेष ही साहित्य है, फिर भले ही उसका मुख्य स्वर धर्म अथवा अन्य किसी विषय से सम्बन्धित हो। इसी कारण कबीर ग्रन्थावली और रामचरितमानस साहित्य के ग्रन्थ माने जाते हैं।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में वीरगाथा काल, वि० सं० १०५० (सन् ९९३) से वि० सं० १३७५ (सन् १३१८) तक निर्धारित किया गया है। इसके पूर्व बहुत पहले ही, प्राकृत और अपभ्रंश के अतिरिक्त देश भाषा का जन्म हो चुका था। धर्मशास्त्री नारद ने लिखा है कि "संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैः शिष्य-मनुरूपतः। देशभाषाद्युपायैश्च बोधयेत् स गुरुः स्मृतः।।" डा० काशीप्रसाद जायसवाल का कथन है कि आचार्य देवसेन (वि० सं० ९९०) के पहले ही 'देश भाषा' प्रचलित हो चुकी थी। आचार्य देवसेन ने अपने श्रावकाचार में जिन दोहों का उपयोग किया है, वे देश भाषा के ही हैं। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति कारंजा के सेनगण मन्दिर के पुस्तक भंडार में मौजूद है। इसमें श्रावकों के लिये

जिनेन्द्र और पंचगुरु भक्ति का अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है। एक दोहा इस प्रकार है :—

"जो जिणसासण भासियउ सो भइ कहियउ सारु।
जो पाले सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु ॥"

इसमें प्रयुक्त शब्द रूप, विभक्ति और धातुरूप प्राय: सभी देश-भाषा के हैं। देश-भाषा को ही प्राचीन हिन्दी कहते हैं। यह भाषा ही आगे चलकर विकसित हिन्दी के रूपमें परिणत हुई। आचार्य हेमचन्द्र ने अपभ्रंश और देश-भाषा में अन्तर स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अपभ्रंश, देश-भाषा अथवा प्राचीन हिन्दी नहीं है। इसी कारण स्वयंम्भू (वि० सं० ६ वीं शताब्दी) के 'पउमचरिउ' और पुष्पदन्त (वि० सं० १०२६) के 'महापुराण' को हिन्दी के ग्रन्थों में नहीं गिना जा सकता। इनमें विखरे हुए कुछ स्थल देश-भाषा के हैं, किन्तु वे अल्प ही हैं। पुष्पदन्त से ४० वर्ष उपरान्त हुए श्रीचन्द का कथाकोष देश-भाषा में लिखा गया है। इसकी अधिकांश कथायें जिनेन्द्र-भक्ति से सन्बंधित हैं। ईसा की ११वीं सदी के धनपाल की 'श्रुत पंचमीकथा' में भी देश-भाषा का ही प्रयोग हुआ है। 'श्रुत पंचमी' का मूलस्वर जिन-भक्ति से युक्त है। तेहरवीं शताब्दी के प्रारम्भ के कवि विनयचन्द्र सूरि ने "नेमिनाथचउपई" का निर्माण किया था। नेमिनाथ के वैराग्य लेने पर, उनके वियोग में राजीमती विलाप करती है। इस "चउपई" में उनका वियोग वर्णन दिखलाया गया है। एक दृष्टांत देखिये :—

"मणइ सखी राजल मन रोई,
नीठुरु नेमि न अप्पणु होई।
सांचेउ सखि वरि गिरि भिज्जंति,
किमइ न भिज्जइ सामलकंति ॥"

विनयचन्द्र सूरि के समकालीन शालिभद्रसूरि के 'वाहुबलि रास' में अपभ्रंश का प्रयोग हुआ है। श्री जिनदत्तसूरि (वि० सं० १२७४) के "उपदेश-रसायनरास" में गुरुभक्ति के अनेक दृष्टांत हैं, किन्तु उसकी भाषा देश-भाषा नहीं है, वह दुरुह अपभ्रंश का निदर्शन है। श्री जिनपद्मसूरि का "थूलिभद्दफाग" आचार्य स्थूलभद्र की भक्ति में लिखा गया है। आचार्य स्थूलिभद्र भद्रबाहु स्वामी के समकालीन थे। उनका निर्वाणस्थल, गुलजारबाग, पटना स्टेशन के सामने कमल-दह में बना हुआ है। यह रचना भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से उत्तम है। भाषा हिन्दी के प्रारम्भिक रूप को लिए हुए है। ऐसे सरस फागों की

अक्षुण्ण परंपरा वि०सं० की अठारहवीं शताब्दी तक उपलब्ध होती है। प्रस्तुत फाग के पावस वर्णन का एक पद्य इस प्रकार है—

"सीयल कोमल सुरहि वाय जिम जिम वायंते।
माण-मडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचंते ॥
जिम जिम जलधर भरिय मेह गयणंगणि मिलिया।
तिम तिम कामीतणा नयण नीरहि झलहलिया ॥"

नेमिचन्द्र भंडारी, खरतगच्छीय जिनेश्वर सूरि के पिता थे। वि० सं० १२५६ के लगभग 'जिनवल्लभसूरि गुणवर्णन' के नाम से एक स्तुति लिखी थी, जो ऐतिहासिक काव्यसंग्रह में प्रकाशित हो चुकी है। यह स्तुति आचार्य-भक्ति का दृष्टांत है। महेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मसूरि ने वि० सं० १२६६ में जम्बू-स्वामीचरित और स्थूलिभद्ररास की रचना की। दोनों में क्रमश: ५२ एवं ४७ पद्य हैं। भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरान्त केवल तीन केवली हुए, जिनमें जम्बूस्वामी अन्तिम थे। स्थूलभद्र के विषय में लिखा ही जा चुका है। शाहरयण (वि० सं० १२७८) ने 'जिनपतिसूरिधवलगीत' लिखा था। यह 'जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह' में छप चुका है। मंत्रीवर वस्तुपाल के धर्माचार्य श्री विजयसेनसूरि ने वि० सं० १२८८ में 'रेवंतगिरि रासो' का निर्माण किया था। यह प्राचीन 'गुर्जरकाव्य संग्रह' में प्रकाशित हुआ है। इन सबकी भाषा हिन्दी है। नेमिचन्द्र भंडारी का एक पद्य देखिये :—

"पणमवि सामि वीर जिणु, गणहर गोयम सामि।
सधरम सामिय तुलनि सरणु, जुग प्रधान सिवगामि ॥"

विक्रम संवत् की चौदहवीं शती में अनेक जैन कवि हुए हैं। उनकी भाषा हिन्दी थी। उनकी कविताओं का मूल स्वर भक्तिपूर्ण था। खरतरगच्छीय जिनपतीसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने वि० सं० १३३१ के लगभग अनेक ऐसी स्तुतियों की रचना की, जो गुरु, आचार्य और जिनेन्द्र की भक्ति से सम्बन्धित थी। जिनेश्वर सूरि के शिष्य श्री अभयतिलक ने, वि० सं० १३०७ में, महावीर रास का निर्माण किया था, जिसमें केवल दस पद्य हैं। यह रास श्री अगरचंदजी नाहटा के निजी संग्रह में मौजूद है। लक्ष्मीतिलक का 'शांतिनाथरास' और सोममूर्ति का 'जिनेशरसूरि संयमश्रीविवाहवर्णनरास' प्रसिद्ध कृतियां हैं।

यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति-काल वि० सं० १४०० से १७०० तक माना है, किन्तु जैन हिन्दी भक्ति काव्य की दृष्टि से उसको वि. सं. १८०० तक मानना चाहिए, क्योंकि जैन हिन्दी के भक्ति काव्य की प्रौढ़ रचना वि० सं० १७०० से १८०० के मध्य हुई।

राजशेखर सूरि (वि. सं. १४०५) का जन्म प्रश्नवाहन कुल में हुआ था। वे तिलकसूरि के शिष्य थे। उनका सम्बन्ध कोटिक गण की मध्यम शाखा के हर्षपुरीगच्छ से था उन्होंने हिन्दी में 'नेमिनाथफाग' की रचना की थी। यह २७ पद्यों का एक छोटा सा खण्डकाव्य है। इसमें नेमिनाथ और राजुल की कथा है। राजशेखर एक सफल कवि थे। भावों और दृश्यों को चित्रित करने में उन्होंने अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। विवाह के लिए सजी राजुल के पूरे चित्र की कतिपय पंक्तियां देखिये :—

"किम किम राजुलदेवि तरगउ सिरणगारु भरणेवउ।
चंपइ गोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
सीमंतइ सिंदूररेह मोतिसरि सारी॥"

विनयप्रभ उपाध्याय (वि० सं० १४१२) खरतरगच्छ के जैन साधु थे। उनके गुरु का नाम दादा जिनकुशलसूरि था। उनकी प्रमुख रचना का नाम "गौतमरासा" है। यह कृति भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम की भक्ति से सम्बन्धित है। इसमें स्थान स्थान पर उत्प्रेक्षाओं के सहारे गौतम की शोभा का चित्र अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त विनयप्रभ उपाध्याय की कृतियों में ५ स्तुतियां और हैं। उनमें विविध तीर्थंकरों के गुणों का काव्यमय विवेचन है। प्रत्येक में १६–२६ के लगभग पद्य हैं। इनमें 'सीमन्धर स्वामिस्तवन', एन्शियंट जैनहिम्स' में प्रकाशित हो चुका है। सीमन्धर स्वामी पूर्व विदेह के विहरमारण वीस तीर्थंकरों में एक हैं। उनका शासन अभी चल रहा है। यह २१ पद्यों का एक मनोरम स्तवन है। कवि ने लिखा है कि मेरुगिरि के उत्तुंग शिखर, गगन के टिमटिमाते तारागण और समुद्र की तरंगमालिका, सीमंधर स्वामी का स्तवन करते ही रहते हैं।

मेरुनन्दन उपाध्याय के दीक्षागुरु का नाम जिनोदयसूरि था। उन्होंने वि० सं० १४१५ के उपरान्त दीक्षा ली थी। मेरुनन्दन उपाध्याय की तीन रचनाएं

उपलब्ध हैं— जिनोदयसूरि विवाहलउ, अजितशान्तिस्तवनम् और सीमन्धर स्वामी स्तवनम् तीनों ही भक्ति से सम्बन्धित हैं। पहले में गुरु भक्ति और अवशिष्ट दो में तीर्थंकर भक्ति है। जिनोदयसूरि विवाहलउ में आचार्य जिनोदय का दीक्षाकुमारी के साथ विवाह हुआ है। यह एक रूपक काव्य है। अजितशांतिस्तवनम् में सीमन्धर स्वामी की स्तुति की गयी है। ये दोनों ही स्तवन 'जैन-स्तोत्र संदोह' के प्रथम भाग में प्रकाशित हो चुके हैं।

भट्टारक सकलकीर्ति अपने समय के एक प्रसिद्ध विद्वान थे। उनका संस्कृत भाषा पर एकाधिपत्य था। उन्होंने संस्कृत में १७ ग्रन्थों की रचना की थी। प्रत्येक उत्तमकोटि का ग्रन्थ है। भट्टारक सकलकीर्ति प्रतिष्ठाचार्य भी थे। उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियों में तत्कालीन इतिहास की अनेक बातें अंकित हैं। उनका समय १५ वीं शती का उत्तरार्द्ध माना जाता है। वे वि०सं० १४४४ में ईडर की भट्टारकीय गद्दी पर आसीन हुए और वि० सं०१४९९ में महसाना (गुजरात) में उनका स्वर्गवास हुआ। वे हिंदी के सफल कवि थे। राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों में उनकी हिंदी में लिखी हुई अनेक कृतियां उपलब्ध हुई हैं, जिनमें आराधना प्रतिबोधसार, णमोकारफलगीत और नेमीश्वर गीत का भक्ति से सम्बन्ध है।

वि० सं० की १६ वीं शती, जैन हिन्दी भक्ति काव्य की मुक्तक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है। मुनि चरित्रसेन (वि० सं० १६ वीं शती पूर्वार्द्ध) की 'समाधि' नाम की रचना में समाधि और समाधि लगाने वालों के प्रति भक्तिभाव प्रकट किया गया है। यह कृति दिल्ली के मस्जिद खजूर के जैन पंचायती मन्दिर के शात्र भण्डार में मौजूद है। इन्हीं के समकालीन आनन्द तिलक हुए हैं। उन्होंने 'आणंदा' का निर्माण किया था। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र-भण्डार में रक्खी है। इस रचना में ४३ पद्य हैं। यह परमात्म प्रकाश और पाहुड़ दोहा की परम्परा में गिनी जा सकती है। संत कवियों की भांति ही मुनि महानन्दिदेव ने जिनेन्द्र का निवास देह में माना, वैसे ही जैसे कुसुम में परिमल रहता है। देह के भीतर रहने वाले उस चिदानन्दरूप जिनेन्द्र की जो पूजा करता है, भी वह स्वयं भी आनन्द-मण्डल के भीतर स्थिर हो जाता है। अर्थात उसको चिरन्तन आनन्द की प्राप्ति होती है। उन्होंने तीर्थ भ्रमण को व्यर्थ प्रमाणित करते हुए लिखा है-आनन्द तीर्थों में नहीं, अपितु आत्मा में है, और वह आत्मा प्रत्येक के पास होती है। जो वस्तु अपने पास है, उसकी ओर न देखकर बाहर भटकना मूर्खता है। मुनि जी ने कबीर की भांति ही कहा

कि चित्त में भरा पाप-मल बाह्य स्नान से नहीं, अपितु जिनेन्द्र के ध्यान रूपी तालाव में नहाने से गलेगा। तीर्थ क्षेत्र की व्यर्थता सम्बन्धी एक दृष्टान्त इस भांति है:—

"अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढा मरहि भमंतु ।
अप्पा विंदु न जाणहीं आनन्दा घट महिं देउ अणंतु ।।"

कवि चतरूमल का जन्म श्रीमाल वंश में हुआ था। उनके पिता का नाम जसवंत था। चतरूमल ने जैन पुराणों का अध्ययन किया और उनका मन नेमीश्वर के चरित्र में विशेष रूप से रमा। उन्होंने वि० सं १५७१ में 'नेमीश्वर गीत' की रचना की थी। यह एक गीतकाव्य है। भट्टारक ज्ञानभूषण मूलसंघ के सरस्वती गच्छ के बलात्कारगण की परम्परा में हुए हैं। 'जैन धातु प्रतिमालेख संग्रह' से स्पष्ट है कि वे वि० सं० १५३२ से १५५७ तक भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित रहे। वे संस्कृत, गुजराती और हिन्दी के विद्वान् थे। हिंदी में लिखी हुई उनकी दो रचनाएं उपलब्ध हैं—आदीश्वरफागु और पोसहरास। आदीश्वर फाग एक उत्तम कृति है। भट्टारक शुभचन्द्र पद्मनन्दि की परम्परा से संबंधित है। उनका रचना काल वि. सं. १५७३ से १६१३ तक माना जाता है। वे अपने समय के गणमान्य विद्वान् थे। उनका संस्कृत भाषा पर अधिकार था। वे 'षट्भाषा कवि चक्रवर्ती' कहलाते थे। उन्होंने हिन्दी में तत्वसारदूहा की रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रति जयपुर में ठोलियों के जैन मन्दिर में मौजूद है। इस रचना में संत काव्य की ही भांति वर्ण और जाति के भेद को कृत्रिम माना गया है, गुरु की महिमा का उल्लेख है और चिदानन्दरूप आत्मा के चिन्तवन से मोक्ष का मिलना कहा गया है। इन्हीं की रची हुई एक दूसरी हिन्दी की कृति 'चतुर्विंशति स्तुति' अभी प्राप्त हुई है।

विनयचन्द्रमुनि इसी शती के एक सामर्थ्यवान कवि थे। वे माथुरसंघीय भट्टारक बालचन्द्र के शिष्य थे। वे विनयचन्द्र सूरि से स्पष्टतया पृथक हैं। विनयचन्द्र सूरि चौदहवीं शती के रत्नसिंह सूरि के शिष्य थे। मुनि विनयचन्द्र गिरिपुरी के राजा अजेय नरेश के राज्यकाल में हुए हैं। उनका समय वि० सं० १५७६ माना जाता है। उनकी तीन कृतियां उपलब्ध हैं—चूनड़ी, निर्झर पंचमी कथा, पंचकल्याणकरासु। चूनड़ी एक रूपक काव्य है। इसमें कुल ३१ पद्य हैं। इसमें एक पत्नी ने पंचगुरु से प्रार्थना की है कि उसका पति ऐसी चूनड़ी लावे, जिसके सहारे वह भव समुद्र के पार हो सके। निर्झर पंचमी कथा में, भगवान जिनेन्द्र के परम भक्त भविष्यदत्त का चरित्र दिया हुआ है। कथा का मूल स्वर

भक्ति से सम्वन्धित है। 'पंचकल्याणक रासु में जैन तीर्थंकरों के पंचकल्याणकों के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित किया गया है।

कवि ठक्करसी (वि० सं० १५७८) खण्डेलवाल जाति में उत्पन्न हुए थे। उनका गोत्र पहाड्या था। उनके पिता का नाम होल्ह था, जो एक कवि थे। उनकी माता धर्मनिष्ठ थीं। ठक्करसी की प्रसिद्ध रचना "कृपण चरित्र" पहिले से ही विदित है। इस काव्य का मुख्य अंश कृपण की कृपणता से संबंधित होते हुए भी भक्ति से युक्त है। इसके अतिरिक्त इनकी नवीन कृतियां मेघमालाव्रतकथा, पंचेन्द्रिय बेलि, नेमिसुर की वेल, पार्श्वसकुन सत्ता वत्तीसी, गुणवेल, चिन्तामणि, जयमाल और सीमान्धर स्वामी स्तवन, विविधशास्त्र भण्डारों से प्राप्त हुई हैं। इनमें काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से पंचेन्द्रिय बेल, नेमिसुर की वेल और गुणवेल उत्तम हैं।

सत्रहवीं शती के जैन हिन्दी कवियों का भक्ति परक काव्य भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से प्रौढ़ है। इसी शती के जैन कवि महाकवि हैं। उनकी गणना यदि एक ओर कबीर और जायसी की कोटि में होनी चाहिये, तो दूसरी ओर वे सूर और तुलसी की पंक्ति में बैठने योग्य हैं। कुमुदचन्द्र इसी शती के आरम्भ में हुए थे। उनकी रचनाओं में ऋषभ-विवाहला और भरत वाहुवलि-छंद उत्तम हैं। ब्रह्मरायमल्ल (वि० सं १६१५) ने अनेकानेक हिन्दी काव्यों की रचना की। इनकी भाषा सरस है और प्रसाद गुण से युक्त है। ये रायमल्ल, १६वीं शती के प्रसिद्ध पंडित राजमल्ल से पृथक हैं। इनका जन्म हूँबड़ वंश में हुआ था, उनके पिता का नाम मह्य और माता का नाम चम्पा था। उनकी माता जिनेन्द्र भक्त थीं, अतः वे भी 'जिनपादकंजमधुप' बन सके। इनके गुरु का नाम अनन्तकीर्ति था। नेमीश्वररास, हनुवंतकथा, प्रद्युम्नचरित, सुदर्शनरास, श्रीपालरास और भविष्यदत्त कथा, ब्रह्मरायमल्ल की हिन्दी की कृतियां हैं। इनमें नेमीश्वर रास और हनुवंतकथा की विशेष ख्याति है। हनुवंतकथा में बालक हनुमान के ओजस्वीरूप का चित्र खींचा गया है। यह रूप बालक के उदात्तता-परक पक्ष को पुष्ट करता है। एक पद्य देखिए:—

"वालक जव रवि उदय कराय।
अंधकार सब जाय पलाय॥

बालक सिंह होय अति सूरो।
दन्तिघात करे चकचूरो॥

सघन वृक्ष बन अति विस्तारो।
रत्ती अग्नि करे दह छारो।।
जो बालक क्षत्रिय को होय ।
सूर स्वभाव न छोड़े कोय ।।"

कुशललाभ जैसलमेर के रावल हरराज के आश्रित कवि थे। रावल हरराज का समय सत्रहवीं शती का प्रथम पाद माना जाता है। कुशल-लाभ का रचनाकाल भी यही था। अनेक विद्वानों को विदित है कि कुशल-लाभ ने राजस्थानी के आदि काव्य 'ढोला मारू रा दूहा' के बीच में अपनी चौपाइयां मिलाकर प्रबन्धात्मक उत्पन्न करने का प्रयास किया था। कुशललाभ खरतरगच्छ के समर्थगुरु अभयदेव उपाध्याय के शिष्य थे। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उन्हें कवित्व शक्ति जन्म से ही मिली है। उन्होंने भक्ति, श्रृंगार और वीर जैसे रसों पर अधिकार पूर्वक लिखा। उनकी रचनाओं में श्रीपूज्यवाहणगीत, स्थूलिभद्र स्तम्भन पार्श्वनाथ स्तवनम्, गौड़ी पार्श्वनाथस्तवनम् और नवकारछन्द, भक्ति से संबंधित हैं। श्री'पूज्यवाहणगीत' की विशेषता है कि उसमें गुरु के विरह से उत्पन्न हुई अनुभूतियों का सरस वर्णन किया गया है। गुरु की महत्ता उद्घोषित करने वाले दोहों से हिन्दी साहित्य भरा पड़ा है। किन्तु गुरु–विरह के ऐसे सरस भाव अन्यत्र देखने को नहीं मिलते।

साधुकीर्ति (वि० सं० १६१८) खरतरगच्छीय अमरमाणिक्य के शिष्य थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर जिनचन्द्रसूरि का स्मरण किया है। साधुकीर्ति भक्त कवि थे, उन्होंने अनेक स्तुतियों की रचना की है। उनकी कृतियों में पद्य–संग्रह, चूनड़ी, शत्रुञ्जयस्तवन ,विमलसिरिस्तवन, आदिनाथस्तवन, सुमतिनाथ-स्तवन, नेमिस्तवन और नेमिगीत मुख्य हैं। साधुकीर्ति मुक्तक काव्यों के रचने में सिद्धहस्त थे। उदयराज जती ने भी अनेक भक्तिपरक काव्यों का निर्माण किया है। उनका रचनाकाल वि० सं० १६६७ के आसपास माना जाता है। वे जोधपुर के समीप किसी स्थान के रहने वाले थे। उनके गुरु खरतरगच्छीय भद्रसार थे। उन्होंने भजन छत्तीसी, गुण बावनी, चौबीस जिन सवैया, मन: प्रशंसा दोहा और वैद्यविरहिणी प्रवन्ध रचना की थी। इनमें 'वैद्यविरहिणी प्रबन्ध' एक रूपक काव्य है। हीरानन्द मुकीम आगरा के ख्याति प्राप्त जौहरी थे। शाहजादा सलीम से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन्होंने सम्मेद शिखर जी की यात्रा के लिए संघ निकाला था। शाह हीरानन्द कवि भी थे। उनकी अध्यात्म-बावनी एक कृति है। उसका मूल स्वर रहस्यवाद से सम्बन्धित है। हेम विजय

सूरि (वि० सं० १६७०) वृद्ध शाखा के आचार्य विजयसेन सूरि के शिष्य थे। सम्राट् अकबर ने विजयसेन सूरि को आगरे में बुलाया था और उन्हें सवाई हरिविजय की उपाधि से सुशोभित किया था। हेमविजय अन्धे थे। उन्होंने हरिविजय और विजयसेन सूरि की भक्ति में छोटे-छोटे अनेक पद्य बनाये हैं। उन्होंने तीर्थंकरों का भी स्तवन, छोटी-छोटी स्तुतियों से किया है। 'नेमिनाथ के पद' उनकी सफल रचना है। जब नेमीश्वर राजुल के विवाह द्वार से दीन पशुओं की करुण पुकार सुनकर, गिरिनार पर तप करने चले गये, उस समय राजुल की बेचैनी का एक चित्र देखिये। गिरिनार की ओर भागती हुई राजुल को सखियों ने पकड़ लिया है। वह उनको सम्बोधन करके कहती हैं–

"कहि राजमति सुमति सखियान कूं, एक खिनेक खरी रहुरे।
सखिरि सगिरि अंगुरी मुही बाहि करति बहुत इसे निहुरे ।।
अबही तबही कबही जबही, यदुराय कूं जाय इसी कहुरे।
मुनिहेम के साहिब नेम जी हो, अब तोरन तें तुम्ह क्यूं बहुरे ।।"

जैन कवि सुन्दरदास, हिन्दी के संत कवि सुन्दरदास से पृथक थे। जैन कवि बागड़ प्रान्त के रहने वाले थे। बादशाह शाहजहां ने उनको पहले 'कविराय' और फिर 'महाकविराय' की पदवी प्रदान की थी। उन्होंने सुन्दर श्रृंगार, पाखंड पंचासिका, सुन्दर सतसई और सुन्दर विलास का निर्माण किया था। इनकी प्रवृत्तियां हिन्दी के कबीर दादू, सुन्दरदास आदि संत कवियों से मिलती जुलती हैं। उनका समय वि० सं० १६७५ के आस-पास माना जाता है। पांडे रूपचन्द संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् थे। उन्होंने बनारस में शिक्षा प्राप्त की थी। प्रसिद्ध कवि कबीरदास ने इन्हीं से गोम्मटसार-जीवकांड पढ़ा था। इसका उल्लेख 'अर्द्ध कथानक' में हुआ है। पांडे रूपचन्द एक प्रतिभा सम्पन्न कवि भी थे। विद्वत्ता और कवित्व शक्ति का ऐसा समन्वय अन्यत्र कम ही देखने को मिलता है। उनके गीत काव्यों पर आध्यात्मिकता की छाप है। परमार्थी दोहा शतक, गीतपरमार्थी मंगलगीत प्रबन्ध, नेमिनाथ रासा, खटोलनागीत और अध्यात्म सवैया उनकी प्रसिद्ध कृतियां हैं। इसके अतिरिक्त जयपुर के शास्त्र भण्डारों से उनकी दो रचनाएं सोलहस्वप्नफल तथा जिनस्तुति और प्राप्त हुई हैं । अर्धकथानक के अनुसार उनका देहावसान वि० सं० १६९४ में हुआ।

हर्षकीर्ति (वि० सं० १६८३) की मुक्तक रचनाओं में अध्यात्म और भक्तिरस की अधिकता है। उन्होंने पंचगति बेल, नेमिनाथ राजुल गीत, नेमीश्वर-

गीत, वीस तीर्थंकर जखड़ी, चतुर्गतिबेल, भजन व पदों का निर्माण किया था। कनककीर्ति भी इन्हीं के समकालीन थे। उनकी हिन्दी कृतियों में गीत अधिक हैं। उनका सम्वन्ध किसी तीर्थ या ऋषि मुनि की भक्ति से है। उनकी कृतियां मेघकुमार गीत, जिनराजस्तुति, विनती, श्रीपाल स्तुति और पद हैं।

कवि बनारसीदास जैन हिन्दी साहित्याकाश के जगमगाते सूर्य हैं। उन्होंने नाममाला, नाटक समयसार, वनारसी विलास, अर्धकथानक, मोहविवेक युद्ध, मांझा और स्फुट पदों का निर्माण किया था। उन्होंने १४ वर्ष की अवस्था (वि० सं० १६५७) में "एक नवरस" नाम का ग्रन्थ भी लिखा था। उसमें एक हजार दोहा चौपाई थे, किन्तु बाद में उसे अत्यधिक अश्लील मानकर उन्होंने गोमती में वहा दिया था। नाममाला एक कोष ग्रन्थ है। उसकी रचना वि० सं० १६७० में हुई थी। नाटक समयसार वनारसीदास की सर्वोत्कृष्ट कृति है। यद्यपि इसका मुख्य अधार आचार्य कुंद-कुंद का 'समयपाहुड़' और उस पर लिखी गयी अमृतचन्द्राचार्य की 'आत्मख्याति' टीका है, किन्तु उसमें मौलिकता भी पर्याप्त है। सबसे बड़ा अन्तर यह है कि नाटक समयसार में कवि की भावुकता प्रमुख है। जबकि समयसारपाहुड़ में दार्शनिक पांडित्य। मैंने अपने शोध निबंध में 'नाटक समयसार' की परीक्षा भक्ति-परक दृष्टि से की है। मुझे उसमें निर्गुण और सगुण दोनों ही भक्ति का समन्वय दिखाई दिया है। 'वनारसी विलास' में वनारसीदास की ५० मुक्तक रचनाएं संग्रहीत हैं। इनका संकलन आगरे के दीवान जगजीवन ने वि० सं० १७०१ में किया था। बनारसी विलास बहुत पहले ही पं० नाथूराम प्रेमी के सम्पादन में वम्बई से प्रकाशित हो चुका है। 'अर्ध कथानक' की रचना वि० सं० १६९८ में हुई थी। इसमें बनारसीदास के ५५ वर्ष के जीवन की आत्मकथा है। पं० वनारसीदास चतुर्वेदी डा० माता प्रसाद गुप्त आदि बड़े-बड़े विद्वानों ने भी इसकी प्रशंसा की है। इसमें ६७५ दोहा-चौपाइयां हैं। इसमें तत्कालीन भारतीय समाज का यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। मोह विवेक युद्ध, मांझा और कतिपय पद नयी खोज में उपलब्ध हुए हैं। वनारसीदास के अध्यात्म-परक गीत में दाम्पत्य भाव की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने आत्मा को पति और सुमति को पत्नी बनाया है। पत्नी, पति के वियोग में तड़फते हुए दर्शनाभिलाषा प्रकट करती है :—

"मैं विरहिन पिय के आधीन।
यों तलफों ज्यों जल विन मीन॥

होहुं मगन मैं दरशन पाय ।
ज्यों दरिया में बूंद समाय ।।
पिय को मिलों अपनपो खोय ।
ओला गल पाणी ज्यों होय ।।"

इसी शती में मनराम, कुंवरपाल, यशोविजय उपाध्याय और महात्मा आनन्दघन प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। मनराम का 'मनराम विलास', कुँअरपाल के 'पद', यशोविजयजी का 'जस-विलास' और आनन्दघन की 'आनन्दघन बहत्तरी', प्रौढ़ कृतियां हैं। सभी का सम्बन्ध या तो निराकार आत्मा और सिद्ध अथवा अरहंत की भक्ति से है। पांडे हेमराज (वि० सं० १७०३-१७३०) एक प्रसिद्ध कवि माने जाते हैं। उनकी सितपट चौरासी बोल, हिन्दी भक्तामर और गुरुपूजा नाम की कृतियां पहले से ही ज्ञात थीं। किन्तु अब हितोपदेश दोहाशतक, उपदेश दोहाबावनी और नेमिराजीमती जखड़ी भी प्राप्त हुई हैं। इन्हें संत काव्य की परम्परा में गिनना चाहिये।

जिनहर्ष (वि० सं० १७१३-१७३८) अट्ठारहवीं शती के एक सामर्थ्य-शाली कवि थे। इनके गुरु का नाम वाचक शान्तिहर्ष था। जिनहर्ष ने उन्हीं से शिक्षा प्राप्त की थी। जिनहर्ष एक जन्मजात कवि थे। उन्होंने पचासों स्तुति-स्तवन, रास और छप्पयों की रचना की है। वे मूलत: गुजराती लेखक थे। किन्तु इनका हिन्दी पर अधिकार था। उन्होंने हिंदी में जसराजबावनी, उपदेशछत्तीसी, चौबीसी, नेमि-राजीमती बारहमास सवैया, नेमि बारहमासा, महावीर छंद, सिद्धचक्रस्तवन और मंगलगीत का निर्माण किया था। जिनरंगसूरि (वि० सं० १७३१) का जन्म श्रीमाल जाति के सिन्धुणवंश में हुआ था। उन्होंने जैसलमेर में वि० सं० १६७८ फालगुन कृष्ण ७ को जिनराजसूरि से दीक्षा ली थी। शाहजहां के पुत्र दारा ने उन्हें 'युग-प्रधान' के पद से विभूषित किया था। उनकी रचनाओं में प्रबोधबावनी, रंगबहत्तरी, चतुर्विंशति जिन-स्तोत्र, चिंतामणि, पार्श्वनाथ-स्तवन प्रसिद्ध हैं। प्रथम दो में निष्फल और अन्तिम दो में सकल ब्रह्म की भक्ति है।

इस समूची शती में भैया भगवतीदास अपनी ओजस्वी कविता के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने भक्ति के क्षेत्र में भी ओज को प्रमुखता दी है। भैया भगवती-दास आगरा के रहने वाले थे। उस समय औरंगजेब का राज्य था। उन्होंने उसके राज्य की प्रशंसा की है। 'भैया' का प्राकृत और संस्कृत पर अधिकार था। उनकी हिन्दी, गुजराती और बंगला में विशेष गति थी और वे उर्दू तथा फारसी

के भी जानकार थे। उनकी ६७ रचनाओं का संकलन 'ब्रह्म-विलास' नाम से सन् १९०३ में हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। 'भैया' की सभी कृतियां निर्गुण अथवा सगुण भक्ति से सम्बन्धित हैं। एक भक्त भगवान जिनेन्द्र की पुष्पों से पूजा करता हुआ कहता है कि हे भगवन्! इस कामदेव ने समूचे विश्व को जीत लिया है। उसे इसका घमण्ड भी बहुत है। मुझे विश्वास है कि आपके चरणों की शरण में जाने से प्रबल कामदेव की निर्दयता का शिकार मैं न हो पाऊँगा :—

"जगत के जीव जिन्हें जीत के गुमानी भयो।
ऐसो कामदेव एक जोधा जो कहायो है॥
ताके शर जानियत फलनि के वृन्द बहु।
केतकी कमल कुंद केवरा सुहायो है॥
मालती सुगंध चारू बेलि की अनेक जाति।
चंपक गुलाव जिन चरण चढ़ायो है॥
तेरी ही शरण जिन जारे न बसाय याको।
सुमत सौ पूजे तोहि मोहि ऐसौ भायो है॥"

द्यानतराय एक प्रमुख कवि थे। इनका जन्म वि० सं० १७३३ में आगरे में हुआ था। उनकी शिक्षा विधिवत् हुई। उन्हें उर्दू फारसी का ज्ञान कराया गया, तो संस्कृत के माध्यम से धार्मिक शिक्षा भी दी गई। उनका गृहस्थ जीवन दुःखी रहा। वे वि० सं० १७८० में दिल्ली में आकर रहने लगे थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'धर्म-विलास' यहां पर ही पूरी हुई। इसमें पदों की संख्या ३२३ है, कुछ पूजायें हैं। ग्रन्थ के साथ विस्तृत प्रशस्ति भी निबद्ध है, जिससे आगरे की सामाजिक परिस्थिति का अच्छा परिचय मिलता है। इसके पदों में भक्ति-रस तो साक्षात् ही बह उठा है। द्यानतराय ने पूजा और आरतियों का निर्माण करके, जैन भक्ति की परम्परा में जैसा सरस योगदान किया है, वैसा उस समय तक अन्य कोई नहीं कर सका था। उनकी 'देव-शास्त्र-गुरु पूजा का तो प्रत्येक जैन मन्दिर में प्रतिदिन पाठ होता है। इसके अतिरिक्त बीसतीर्थङ्कर, पंचमेरु, दशलक्षण, सोलहकारण, रत्नत्रय, निर्वाणक्षेत्र, नन्दीश्वरद्वीप, सिद्धचक्र और सरस्वती पूजायें भी उन्हीं की कृतियाँ हैं। उन्होंने पांच आरतियों का भी निर्माण किया था। उनका प्रारम्भ क्रमशः 'इह विधि मंगल आरति कीजै, 'आरति श्री जिनराज तिहारी', 'आरति कीजै श्री मुनिराज की', 'करो आरती वर्द्धमान की', और 'मंगल आरती आतमरामा' से होता है। उनके स्वयम्भू, पार्श्वनाथ और एकीभावस्तोत्रों में 'पार्श्वनाथ स्तोत्र' मौलिक है। इनके अतिरिक्त समाधिमरण

धर्मपचीसी, अध्यात्मपंचासिका, १०८ नामों की गुणमाला, दशस्थानचौबीसी और छहढाला (सद्यः प्राप्त) भी उन्हीं की रचनायें हैं। उनका समूचा साहित्य भाव और भाषा दोनों ही दृष्टियों से खरा है।

द्रोणपुरी के शास्त्र भंडार में कवि विद्यासागर के हस्तलिखित ग्रन्थों का पता लगा है। विद्यासागर कारंजा के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम राखू साह था। वे बघेरवाल जाति में उत्पन्न हुए थे। उनकी रचनाएं भक्त-हृदय की प्रतीक हैं। उन्होंने सोलह स्वप्न-छप्पय, जिन-जन्म-महोत्सव पट्पद, सप्तव्यसन सवैया, दर्शनाष्टक, विपापहार छप्पय और भूपाल स्तोत्र छप्पय का निर्माण किया था। विनयविजय साधु थे। उनके गुरु का नाम कीर्तिविजय उपाध्याय था। विनय विजय यशोविजय के समकालीन थे। दोनों ने साथ रहकर ही काशी में विद्याध्ययन किया था। गुजराती साहित्य को इनकी देन बहुत बड़ी है। हिन्दी में लिखा हुआ उनका 'विनयविलास' उपलब्ध है। उसके पद संत-काव्यधारा के प्रतीक हैं। लक्ष्मीवल्लभ (वि० सं० १८वीं शती का दूसरा पद) उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। वे बनारस के रहने वाले थे। वे विद्वान थे और कवि भी। उनकी हिन्दी कृतियों के नाम ये हैं—चौबीस स्तवन, महावीर गौतम स्वामी छंद, दूहा बावनी, सवैया बावनी, नेमि राजुल बारहमासा, भावना विलास, चेतना बत्तीसी, उपदेश बत्तीसी और छप्पय बावनी। सभी जैन भक्ति से सम्बन्धित हैं।

विनोदीलाल (वि० सं० १७५०) शाहजहाँपुर के रहनेवाले थे। उनका जन्म अग्रवाल वंश और गर्ग गोत्र में हुआ था। वे अपनी सरस और प्रसादगुण युक्त रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। उन्होंने चौबीस तीर्थङ्करों की भक्ति में अनेक सवैयों का निर्माण किया है। वे नेमीश्वर के परमभक्त थे। विवाह द्वार से लौटते नेमीश्वर और विलाप करती राजुल, उन्हें बहुत ही पसन्द हैं। उनका लिखा हुआ नेमि-राजुलबारहमासा, विरहकाव्य परम्परा की एक अमर कृति है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने नेमि व्याह, राजुल पच्चीसी, नेमजी रेखता, प्रभात-जयमाल, चतुर्विशंति जिन स्तवन सवैया और फूलमाल पच्चीसी की रचना की थी। विवाह के लिए सजे हुए नेमीश्वर का एक चित्र देखिये:—

"मौर धरो सिर दूलह के कर कंकरण बांध दई कस डोरी।
कुण्डल कानन में झलके अति भाल में लाल विराजत रोरी॥
मोतिन की लड़ शोभित है छवि देखि लजैं बनिता सब गोरी।
लाल विनोदी के साहिब के मुख देखन कों दुनियां उठि दौरी॥"

भूधरदास (वि० सं० १७८१) एक प्रतिभासम्पन्न कवि थे। उनकी रचनाएं अपने प्रसाद, गुण और भाव-लालित्य के लिये प्रसिद्ध हैं। जैनशतक, भूधरविलास, पदसंग्रह, जखड़ी, विनतियाँ, बारह भावनाएं, बाईस परीषह और स्तोत्र उनकी मुक्तक कृतियां हैं। उन्होंने पार्श्वपुराण नाम के एक महाकाव्य का भी निर्माण किया था। यह एक उच्चकोटि का मौलिक काव्य है। इसमें महाकाव्य के सभी गुण सन्निहित हैं। इसकी रचना वि० सं० १७८१ में हुई थी। कवि भवानीदास (वि० सं० १७९१) के लिखे हुए १८ मुक्तक काव्यों का पता चला है। इन रचनाओं के आधार पर सिद्ध है कि वे आगरे के रहने वाले थे, और उनका जन्म श्वेताम्वर जाति में हुआ था। इन कृतियों में चौबीस जिनबोल, चौबीसी के कवित्त, नेमि-हिण्डोलना और नेमिनाथ-राजमति गीत प्रसिद्ध हैं।

अजयराज पाटणी (वि० सं० १७९२-१७९४) आमेर के रहने वाले थे। उनकी जाति खण्डेलवाल और गौत्र पाटणी था। उन्होंने पार्श्वनाथ-सालेहा की रचना वि० सं० १७९३ में की थी। वे रूपक काव्यों के लिखने में सिद्धहस्त थे। उनके लिखे हुए चरखा-चउपई, शिवरमणी का विवाह और जिन जी की रसोई ऐसे ही गीत हैं।

जैन अपभ्रंश का हिन्दी के निर्गुण भक्ति-काव्य पर प्रभाव

जिस भांति संस्कृत में 'श्लोक' और प्राकृत में 'गाथा' छन्द के लिए प्रसिद्ध हैं, ठीक वैसे ही अप्रभ्रंश में 'दूहा' का सवसे अधिक प्रयोग किया गया। अपभ्रंश का तात्पर्य है-दूहा-साहित्य। यह दो भागों में वाँटा जा सकता है—एक तो भाटों के द्वारा रचा गया जिसमें शृंगार, वीर आदि रसों की भावात्मक अभिव्यक्ति है। इसके प्रचुर उदाहरण 'आचार्य हेमचन्द्र' के 'सिद्धहेमशव्दानुशासन'[1] में मौजूद हैं। दूसरा वह, जिसके रचयिता वौद्ध सिद्ध और जैन साधक थे। तिलोप्पाद, सरहपाद, कण्हपाद आदि का दूहा-साहित्य 'दोहाकोश' में प्रकाशित हो चुका है। जैन साधकों का साहित्य एक संकलित रूप में तो नहीं, किन्तु पृथक्-पृथक् पुस्तकाकार या पत्रिका में प्रकाशित होता रहा है। कुछ ऐसा है, जो हस्तलिखित रूप में उपलव्ध है।

परमात्मप्रकाश अपभ्रंश का सामर्थ्यवान् ग्रन्थ है। इसके रचयिता आचार्य योगीन्दु एक प्रसिद्ध कवि थे। उनका समय ईसा की छठी शती माना जाता

---

१. सिद्धहेमशव्दानुशासन, डॉ० पी० एल० वैद्य— सम्पादित तथा भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट से सन् १९३६ ई० में प्रकाशित। संशोधित संस्करण सन् १९५८ ई० में पुनः छपा है।

है।[1] उन्होंने इस ग्रन्थ का निर्माण, अपने शिष्य प्रभाकर भट्ट को अध्यात्म-विषय समझाने के लिए किया था अतः उसमें एक अध्यापक की सरलता, मधुरता और पुनरावृत्तिवाली बात मौजूद है। योगीन्दु ने स्वयं स्वीकार किया है कि शिष्य को समझाने के लिए शब्दों को बार-बार दुहराना पड़ा है। इसी उद्देश्य से उपमा और रूपकों का भी प्रयोग किया गया है। उनके पद्य कोमलता और माधुर्य से युक्त हैं। उनकी भाषा जनसाधारण की भाषा थी, अतः उसमें गेय-परकता अधिक है। उद्योतनसूरि (७७८ ई०) का यह कथन कि 'अपभ्रंश का प्रभाव बरसाती पहाड़ी नदियों की भाँति बेरोक होता है और प्रणयकुपिता नायिका की भाँति यह शीघ्र ही मनुष्यों के मन को वश में कर लेती है,[2] परमात्मप्रकाश पर पूर्णरूप से घटित होता है। जहाँ तक भावधारा का सम्बन्ध है, उसमें भी योगीन्दु की उदारता स्पष्ट परिलक्षित होती है। वे किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म-विशेष की संकुचित सीमाओं में आबद्ध नहीं हुए। उन्होंने मुक्त आत्मा की भांति ही उन्मुक्तता का परिचय दिया। उनका 'जिन' शिव और बुद्ध भी बन सका। उनके द्वारा निरूपित परमात्मा की परिभाषा में केवल जैन ही नहीं अपितु वेदांती, मीमांसक और बौद्ध भी समा सके। उन्होंने अजैन शब्दावली का भी प्रयोग किया। परमात्मप्रकाश अध्यात्म का ग्रन्थ है, जैन या बौद्ध नहीं। इसके दो अधिकारों में १२६ और २१६ दोहे हैं। इस पर ब्रह्मदेव की संस्कृत टीका और पं० दौलतराम की हिन्दी टीका महत्वपूर्ण है।[3] यह ग्रन्थ डा० ए० एन० उपाध्ये के सम्पादन में बम्बई से प्रकाशित हो चुका है।

योगसार नामक ग्रन्थ के रचयिता भी योगीन्दु ही थे। इसमें १०८ दोहे हैं। इसका विषय परमात्मप्रकाश से मिलता-जुलता है किन्तु, इसमें वैसी सरसता नहीं है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने इसका भी सम्पादन किया है। इसका प्रकाशन 'परमात्मप्रकाश' के साथ बम्बई में हुआ था।

सावयधम्मदोहा के रचयिता को लेकर दो भिन्न मत हैं। डॉ० ए० एन० उपाध्ये इसे लक्ष्मीचन्द की रचना बतलाते हैं और डॉ० हीरालाल जैन देवसेन की। इस समय देवसेनवाला मत ही प्रचलित है। डॉ० हीरालाल का सबसे बड़ा

---

१. परमात्मप्रकाश, डॉ० ए० एन० उपाध्ये-लिखित प्रस्तावना, पृ० ६७।

२. वही, प्रस्तावना, पृ० १०६ और अपभ्रंशकाव्यत्रयी, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा, श्री एल० बी० गांधी-लिखित प्रस्तावना, पृ० ६७-६८।

३. श्री ब्रह्मदेव ईसा की तेरहवीं शती और पं० दौलतराम अठारहवीं शती में हुए।

तर्क यह है कि 'सावयधम्मदोहा' देवसेन के भावसंग्रह[1] से विलकुल मिलता-जुलता है। देवसेन मालवा-प्रान्त की धारा-नगरी के निवासी थे। उन्होंने वहाँ ही सन् ९३३ ई० में 'सावयधम्मदोहा' का निर्माण किया था। अव यह 'दोहक' डा० हीरालाल जैन के सम्पादन में कारंजा से प्रकाशित हो चुका है। इसका दूसरा नाम 'श्रावकाचारदोहक' भी है। इसमें श्रावकधर्म होने पर भी कवि की उन्मुक्तता स्पष्ट है।

दोहापाहुड़ मध्यकालीन संतकाव्य की एक शक्तिशाली कृति है। इसके रचयिता मुनि रामसिंह के विषय में केवल इतना विदित है कि वे राजस्थान के निवासी थे। डॉ० रामकुमार वर्मा ने उनका समय वि० सं० ९९० से ११५७ के मध्य निर्धारित किया है।[2] डॉ० हीरालाल जैन इन्हें सन् १००० के लगभग मानते हैं।[3] इस ग्रन्थ में केवल २२२ दोहे हैं। डॉ० हीरालाल जैन के सम्पादन और विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ यह ग्रन्थ कारंजा से प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ में एक ओर आत्मसाक्षात्कार के विना वाह्य आडम्वर नितांत हेय और व्यर्थ वताये गये हैं, तो दूसरी ओर जीव के परमात्मा से प्रेम करने की वात कही गई है। वहां आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से उत्पन्न हुए समरस भाव के अनुपम चित्र पाये जाते हैं। दोहापाहुड़ एक रहस्यवादी कृति है। हिन्दी के भक्तिकालीन रहस्यवाद पर उसका स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

वैराग्यसार के रचयिता सुप्रभाचार्य हैं। कई दोहों में उनका नाम आया है। यह काव्य सवसे पहले डॉ० वेलणकर द्वारा संपादित होकर 'एनल्स आव भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट' से प्रकाशित हुआ था। यह संस्कृत टीका के साथ जैनसिद्धान्तभास्कर, भाग १६, किरण, दिसम्वर, १९४९ ई० में भी छप चुका है। कवि ने संसार की क्रूरता और व्यर्थता दिखाकर जीव को आत्मदर्शन की ओर उन्मुख किया है। इस काव्य में धन की सार्थकता जिनेन्द्र की भक्ति में स्वीकार की गई है। काव्य में सरसता और आकर्षण की कमी नहीं है।

---

१. यह ग्रन्थ माणिकचन्द-दिगम्वर जैन ग्रन्थमाला से पन्नालाल सोनी के सम्पादन में, विक्रमाव्द १९७८ में प्रकाशित हो चुका है।

२. 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' : डॉ० रामकुमार वर्मा, पृ० ८३।

३. पाहुड़दोहा, भूमिका, डॉ० हीरालाल जैन-लिखित, पृ० ३३।

मुनि रामसिंह के 'दोहापाहुड़' के अतिरिक्त एक और दोहापाहुड़ उपलब्ध हुआ है। उसकी हस्तलिखित प्रति आमेर-शास्त्रभण्डार, जयपुर में मौजूद है। उसमें ३३३ दोहे हैं। इसके रचयिता कोई महचन्द्र नाम के कवि हैं। इससे स्पष्ट है कि ये महीचन्द्र नाम के तीनों जैन भट्टारकों से पृथक हैं। उन्होंने एक स्थान पर 'जोइंद' का स्मरण किया है।[1] उनका काव्य 'परमात्मप्रकाश' से प्रभावित है। उसमें 'परमात्मप्रकाश' की भांति ही 'निष्कल ब्रह्म' के ध्यान से अनंत सुख की प्राप्ति की बात कही गई है। उसकी अन्य प्रवृत्तियाँ भी 'परमात्मप्रकाश' से हू-ब-हू मिलती-जुलती हैं। यह भी रहस्यवाद का उत्तम निदर्शन है।

महात्मा आनन्द तिलक ने 'आणंदा' नाम की एक मुक्तक रचना का निर्माण किया था। इसकी हस्तलिखित प्रति आमेर-शास्त्र भण्डार, जयपुर में मौजूद है। इसके रचना-काल पर मतभेद हैं, किन्तु भाषा की दृष्टि से वह चौदहवीं शती की प्रतीत होती है। इतना निश्चित है कि इसका निर्माण कबीर आदि निर्गुणवादी संतों के पूर्व हुआ था। इसमें ४४ पद्य हैं। यह रचना आध्यात्मिक भक्ति का सरस उदाहरण है। इसमें 'अप्पा' को चिदानंदु, णिरंजणु, परमसिउ आदि विशेषणों से युक्त किया गया है। इसमें लिखा है कि साधुजन तीर्थों में भ्रमण न करके, कुदेवों को न पूजकर अपने हृदय में भरे अमृत-सरोवर में स्नान करें और हृदय में ही विराजमान परमात्मा की उपासन करें, उन्हें परमानन्द मिलेगा। सद्गुरु की महिमा का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है।

हिन्दी का भक्ति-काव्य दो भागों में विभक्त है-निर्गुण-भक्तिधारा और सगुण भक्तिधारा। निर्गुण-भक्ति के दो भेद हैं-ज्ञानाश्रयी शाखा और प्रेमाश्रयी शाखा। इसी भाँति सगुण-भक्तिधारा भी कृष्ण-काव्य-और राम-काव्य के रूप में वंटी हुई है। इनमें निर्गुण-भक्तिकाव्य जैन अपभ्रंश के दूहा-काव्य से प्रभावित है, ऐसा मैं मानता हूँ। दोनों की अधिकांश प्रवृत्तियां समान हैं। इसलिए डॉ० हीरालाल जैन ने लिखा था-"इनमें वह विचार-स्रोत पाया जाता है, जिसका प्रवाह हमें कबीर की रचना में प्रचुरता से मिलता है।[2] डॉ० रामसिंह 'तोमर' का भी कथन है कि 'जो हो, हिन्दी-साहित्य में इस रहस्यवाद-मिश्रित

---

१. महचन्द-कृत पाहुड़दोहा, आमेर-शास्त्रभण्डार, जयपुर की हस्तलिखित प्रति, दोहा सं० ३२८।

२. डॉ० हीरालाल जैन, अपभ्रंश-भाषा और साहित्य, काशी-नागरी-प्रचारिणी, पत्रिका भाग ५०, अंक ३-४, पृ० १०७।

परम्परा के आदि प्रवर्त्तक कबीरदास हैं और उनकी शैली, शब्दावली का पूर्ववर्त्ती रूप जैन रचनाओं में प्राप्त होता है।'[1]

कबीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। 'निर्गुण' का अर्थ है-गुणातीत। गुण का अर्थ है–प्रकृति का विकार-सत्त्व, रज और तम।[2] संसार इस विकार से संयुक्त है और ब्रह्म इससे रहित। किन्तु कबीरदास ने विकार-संयुक्त संसार के घट-घट में 'निर्गुण' ब्रह्म का वास दिखाकर सिद्ध किया है कि 'गुण', 'निर्गुण' का और 'निर्गुण' 'गुण' का विरोधी नहीं है। इन्होंने 'निरगुन में गुन और गुन में निरगुन' को ही सत्य माना,[3] अवशिष्ट सबको धोखा कहा। अर्थात्, कबीरदास सत्त्व, रज, तम के साहित्य की अपेक्षा ब्रह्म को निर्गुण और सत्त्व, रज, तम रूप विश्व के कण-कण में व्याप्त होने की दृष्टि से सगुण कहा। उनका ब्रह्म ऐसा व्यापक था जो भीतर से बाहर और बाहर से भीतर तक फैला था। वह अभाव-रूप भी था और भावरूप भी, निराकार भी था और साकार भी, द्वैत भी था और अद्वैत भी। स्पष्ट है कि कबीर का ब्रह्म अनेकान्तात्मक था। जैसे, अनेकान्त में दो विरोधी पहलू अपेक्षाकृत दृष्टि से निभ सकते हैं, वैसे कबीर के ब्रह्म में भी थे। कबीर पर जाने और अनजाने एक ऐसी परम्परा का जबरदस्त प्रभाव पड़ा था, जो अपने में पूर्ण थी और स्पष्ट। कबीरदास की सत्यान्वेषक बुद्धि ने उसको स्वीकार किया। उन्होंने अनुभूति के माध्यम से उसको पहिचाना। अनेकान्त के पीछे छिपे सिद्धान्तों को न किसी ने समझाया, और न उनका उस सिद्धान्त से कोई अर्थ ही था। कबीरदास सिद्धान्तों के घेरे में बंधने वाले जीव नहीं थे। खैर, कबीरदास ने उस सुगन्धि को पसन्द किया, जो सर्वोत्तम थी। वह कहां से आ रही थी, किसकी थी, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। आज वह हमारे विचार का विषय अवश्य है।

कबीरदास पर वैसे तो न जाने कितने सम्प्रदायों का प्रभाव है, किन्तु उन में नाथ और सूफी सम्प्रदायों को प्रमुखता दी जाती है। मैं नाथ सम्प्रदाय

१, डॉ० रामसिंह 'तोमर' : जैन साहित्य की हिन्दी–साहित्य को देन, प्रेमी-अभिनन्दन–ग्रन्थ, पृ० ४६७।

२. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर : प्र० हिन्दी--ग्रंथ-रत्नाकार--कार्यालय, बम्बई, नवम्बर, १९५५, ई० पृ० २०४।

३. संतो, धोखा कांसू कहिये
गुण में निरगुण निरगुण में गुण
बांट छांडि क्यूं बहिये? — कबीर, ग्रन्थावली, पद १८०।

का सम्बन्ध जैन परम्परा से मानता हूं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी माना है कि नाथ-सम्प्रदाय में जो बारह सम्प्रदाय अन्तर्मुक्त किये गये थे, उनमें पारस और नेमी-सम्प्रदाय भी थे। दोनों जैन थे। इसी कारण नाथ-सम्प्रदाय में अनेकान्त का स्वर अवश्य था, भले ही उसका रूप अस्पष्ट रह गया हो।

यही अनेकान्त का स्वर अपभ्रंश के जैन दूहा-काव्य में पूर्णरूप से वर्तमान है। कबीर ने जिस ब्रह्म को 'निर्गुण' कहा है, योगीन्दु के 'परमात्मप्रकाश' में उसे ही 'निष्कल' संज्ञा से अभिहित किया गया था। 'निष्कल' की परिभाषा बताते हुए टीकाकार ब्रह्मदेव ने 'पञ्चविधशरीररहितः' लिखा।[1] महचन्द ने भी अपने दोहापाहुड़ में निष्कल शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। शरीर-रहित का अर्थ है–निःशरीर, देहरहित, अस्थूल, निराकार, अमूर्त्तिक, अलक्ष्य। प्रारम्भ में योगीन्दु ने इसी 'निष्कल' को 'निरञ्जन' कहकर सम्बोधित किया है। उन्होंने लिखा है–"जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म और न मरण, वह निरञ्जन कहलाता है।"[2] निरञ्जन का अधिकाधिक प्रयोग किया गया है। वैसे 'निष्कल' के अनेक पर्यायवाची हैं। उनमें आत्मा, सिद्ध, जिन और शिव का स्थान–स्थान पर प्रयोग मिलता है। मुनि रामसिंह ने समूचे दोहापाहुड़ में केवल एक स्थान पर 'निर्गुण' शब्द भी लिखा है। उन्होंने उसका अर्थ किया है– निर्लक्षण और निःसंग।[3] वह 'निष्कल' से मिलता–जुलता है।

कबीर की 'निर्गुण में गुण और गुण में निर्गुण' वाली बात अपभ्रंश के काव्यों में उपलब्ध होती है। योगीन्दु ने लिखा— जसु अब्भंतरि जगु वसइ, जग-अब्भंतरि जो जि।[4] इस भाँति मुनि रामसिंह का कथन है— तिहुयणि दीसइ

---

१. परमात्मप्रकाश, १।२५ पर ब्रह्मदेव-कृत-संस्कृत-टीका, पृ० ३२।

२. जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दुण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ निरंजणु तासु॥ परमात्मप्रकाश १।१९, पृ० २७।

३. हउं सगुणी पिउ णिग्गुणउ णिल्लक्खणु णीसंगु।
एकहिं अंगी वसंतयहं मिलिउ ण अंगहिं अंगु॥
—पाहुड़दोहा, १०० वाँ दोहा, पृ० ३०।

४. जसु अब्भंतरि जगु वसइ जग अब्भंतरि जो जि।
जागे जि वसंतु वि जगु जिण वि मुणि परमप्पउ सो जि॥
—परमात्मप्रकाश, १।४१ पृ० ४५।

देउ, जिण जिणवरि तिहुवणु एउ।[1] अर्थात्, त्रिभुवन में जिनदेव दिखता है और जिनवर में यह त्रिभुवन। जिनवर में त्रिभुवन ठीक वैसे ही दिखता है, जैसे निर्मल जल में ताराओं का समूह प्रतिविम्वित होता है।[2] किन्तु, त्रिभुवन में जिनदेव की व्याप्ति कुछ विचार का विपय है। त्रिभुवन का अर्थ है— त्रिभुवन में रहने वालों का घट-घट। उसमें निर्गुण या निष्कल ब्रह्म रहता है। निष्कल है पवित्र और घट-घट है अपवित्र-कलुष और मैल से भरा। कुछ लोगों का कथन है कि गन्दगी से भरी जगह में वह ब्रह्म नहीं रह सकता, अतः पहले उसको तप, साधना या संयम किसी भी प्रक्रिया से शुद्ध करो, तव वह रहेगा, अन्यथा नहीं। कवीर ने निर्गुण राम की शक्ति में पूरा विश्वास किया और कहा कि इसके वसते ही कलुष स्वतः ही पलायन कर जाता है। उन्होंने स्पष्ट ही लिखा— ते सव तिरे राम रसवादी, कहे कवीर वूड़े वकवादी।[3] उनकी दृष्टि में विकार, की लहरों से तरंगायित इस संसार-सागर से पार होने के लिए राम-रूपी नैया का ही सहारा है। कवीर से वहुत पहले मुनि रामसिंह ने भीतरी चित्त के मैल को दूर करने के लिए निरञ्जन को धारण करने की वात कही थी।[4] उन्होंने यह भी लिखा कि जिसके मन में परमात्मा का निवास हो गया, वह परमगति पा लेता है।[5] उनके कथनानुसार जिसके हृदय में भगवान् 'जिनेन्द्र' मौजूद हैं

---

१. तिहुयणि दीसइ देउ जिणु जिणवरि तिहुवणु एउ।
   जिणवरि दीसइ सयलु जगु को विण किज्जइ भेउ॥
   —पाहुड़दोहा, ३९ वाँ दोहा, पृ० १२।

२. नारायणु जलि विंवियउ णिम्मलि दीसइ जेम।
   अप्पए णिम्मलि विंवियउ लोयालोउ वि तेम॥
   —परमात्मप्रकाश, २।१०२, पृ० १०६।

३. रसनां राम गुन रमि रस पीजै। गुन अतीत निरमोलिक लीजै॥
   निरगुन ब्रह्म कथौ रे भाई। जा सुमिरत सुधि वुधि मति पाई॥
   विप तजि राम न जपसि अभागे। का वूड़े लालच के लागे॥
   ते सव तिरे रामरसवादी। कहै कवीर वूड़े वकवादी॥
   —कवीर-ग्रन्थावली, पद ३७५

४. अब्भितर चित्ति वि मइलियइं वाहरि काइं तवेण।
   चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण॥
   —पाहुड़दोहा, ६१ वाँ दोहा, पृ० १८।

५. जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइं चिंत चवेवि।
   सो पर पावइ परमगइ अट्ठइं कम्म हणे वि॥
   —वही, दोहा-सं ६६।

वहां मानों समस्त जगत् ही संचार करता है। उनके परे कोई नहीं जा सकता।[1] आचार्य योगीन्दु का भी कहना है— "जिसके मन में निर्मल आत्मा नहीं बसती, उसका शास्त्र-पुराण और तपश्चरण से भी क्या होगा ?"[2] अर्थात् निष्कल ब्रह्म के बसने से मन भी शुद्ध हो जायगा, उसकी गन्दगी रहेगी नहीं। विषय-कषायों से संयुक्त मन जब निरञ्जन को पा लेता है, तब वह मोक्ष का हकदार बन जाता है। इसके अतिरिक्त तन्त्र और मन्त्र उसे मोक्ष नहीं दिला सकते।[3] महचन्द्र ने भी दोहापाहुड़ में लिखा है— "निष्कल परम जिन को पा लेने से जीव सब कर्मों से मुक्त हो जाता है, आवागमन से छूट जाता है और अनंत सुख प्राप्त कर लेता है।[4]

कबीर आदि संत कवियों ने 'साहिब' को घट के भीतर देखने के लिए कहा। उन्होंने स्पष्ट ही लिखा कि देवालय, मस्जिद, मूर्त्ति और चित्र आदि में 'वह' नहीं रहता। वहां उसका ढूंढा जाना व्यर्थ होगा। इसी भांति उन्होंने तीर्थ-यात्रा को भी निःसार माना। तीर्थों में भगवान नहीं रहता। 'भ्रम विधोंसण कौ अंग' कबीरदास ने लिखा है–"यह दुनिया मन्दिरों के आगे सिर झुकाने को जाती है, परन्तु हरि तो हृदय के भीतर रहते हैं, तू उसी में लौ लगा।[5]" इसी भांति

---

१. केवलु मल परिवज्जियउ जहिं सो ठाइ अणाइ।
तस उरि सब जगु संचरइ परइ ण कोइ वि जाइ।।
—वही, दोहा-सं० ८९।

२. अप्पा णिय मणि निम्मलउ णियमें वसइ ण जासु।
सत्थ पुराणइं तव चरणु मुक्खु वि करहि कि तासु।।
—परमात्मप्रकाश, १।९८, पृ० १०२।

३. जेण णिरंजणि मणु धरिउ विसय कसायहिं जंतु।
मोक्खहं कारण एत्त अण्णु ण तंतु ण मंतु।।
—वही, १।१२३, पृ० १२५।

४. झायहिं णिक्कुलु परम जिणु कम्मट्ठ हविणि मुक्क।
आवण गवण विवज्जियऊ लहु अणंतु चउक्कु।।
—महचन्द : पाहुड़दोहा, आमेर-शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति, ९१ वाँ दोहा।

५. कबीर दुनियां देहुरै, सीस नवांवण जाइ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तू ताही सौ ल्यो लाइ।।
—कबीर-ग्रन्थावली, भ्रमविधौंसण कौ अंग, ११ वाँ दोहा।

उन्होंने पत्थर की मूर्त्ति के पूजने को मझधार में डूबने के समान माना है।[1] दादू का कथन भी मिलता-जुलता है—"कोई द्वारका दौड़ता है, कोई काशी और कोई मथुरा; किन्तु साहिब तो घट के भीतर मौजूद हैं।"[2] संत कवि की यह मान्यता अपभ्रंश कवियों में अधिकाधिक देखी जाती है। 'परमात्मप्रकाश' में लिखा है—"आत्मदेव न तो देवालय में रहता है, न शिला में, न लेप्य में और चित्र में, वह तो समचित्त में निवास करता है।"[3] योगीन्दु ने योगसागर में भी लिखा—"श्रुत-केवली (सब विद्याओं का पूर्ण जानकार) ने कहा है कि तीर्थों में, देवालयों में देव नहीं है, वह तो देह-देवालय में विराजमान रहता है, इसे निश्चित समझो। यह सांसारिक जीव उसके दर्शन मन्दिरों में करना चाहता है, यह उपहासास्पद है।"[4] मुनि रामसिंह ने पाहुड़दोहा में उनको मूर्ख कहा है, जो शिव को देवालयों में ढूंढते फिरते हैं, अपने देह-मन्दिर को नहीं देखते, जहां वह है।[5] महात्मा आनन्दतिलक का कथन है—

> अठसठि तीरथ परिभमइ, मूढा मरहि भमंतु।
> अप्पा विन्दु न जाणहीं, आणंदा घट महि देउ अणंतु ॥[6]

---

१. पांहण केरा पूतला, करि पूजैं करतार।
इसी भरोसैं जे रहे, ते बूढ़े काली धार ॥
—देखिए वही, पहला दोहा।

२. दादू केई दौड़े द्वारिका, केई कासी जाहि।
केई मथुरा कों चले, साहिब घट ही मांहि ॥
—दादू की वाणी, यशपाल-संपादित, दिल्ली,
पृ० २६ का अन्तिम पद्य।

३. देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति।
अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ समचित्ति ॥
—परमात्मप्रकाश, १।१२३, पृ० १२४।

४. तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलिवुत्तु।
देहा देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥४२॥
देहा देवलि देउ जिणु जणु देवलहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥४३॥

५. मूढा जोवइ देवलइं लोयहिं जाइं कियाइं।
देह ण पिच्छइ जप्पणिय जहिं सिउ संत ठियाइं ॥१८०॥

६. देखिए 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति, (आमेर—शास्त्र भंडार, जयपुर), पद—सं० ३।

कवीरदास ने सवसे वड़ा काम यह किया कि उस अव्यक्त ब्रह्म को प्रेम का विषय वनाया। अभी तक वह केवल ज्ञान के द्वारा प्राप्तव्य माना जाता था। पं० रामचन्द्र शुक्ल की दृष्टि में निर्गुण ब्रह्म से प्रेम करने की वात सूफियों से आई, भारतीय धरती में उसका वीज भी नहीं था। किन्तु, आत्मा से प्रेमपरक प्रणय की परम्परा जैनकाव्यों में उपलब्ध होती है और उसका प्रारम्भ अपभ्रंश के इस साहित्य से ही नहीं, अपितु उसके भी वहुत पूर्व से मानना होगा। यह तो स्पष्ट है कि मुनि रामसिंह के पाहुड़दोहा पर आचार्य कुन्द-कुन्द के भावपाहुड़ का प्रभाव हैं। आचार्य कुन्द कुन्द का समय वि० सं० की पहली शती माना जाता है। कवीरदास ने निर्गुण-भक्ति के क्षेत्र में दाम्पत्य-रति का रूपक घटित किया। उन्होंने ब्रह्म को पति और जीव को पत्नी वनाया। 'हरि मेरा पीव मैं हरि की वहुरिया' को लेकर प्रेम के विविध पहलुओं पर कवीर ने लिखा–तन्मय होकर लिखा। ब्रह्म को पति वनाने की वात पाहुड़दोहा में उपलब्ध होती है। मुनि रामसिंह ने लिखा–मैं सगुण हूँ और पिय निर्गुण–निर्लक्षण और निःसंग, अतः एक ही देहरूपी कोठे में रहने पर भी अंग से अंग न मिल सका।[1] आगे चलकर हिन्दी के जैनकाव्य में दाम्पत्य प्रेम का सरस उद्घाटन हुआ। उनमें सर्वोत्कृष्ट थे महात्मा आनन्दघन। उनकी आत्मारूपी दुलहिन ने परमात्मारूपी पिय से प्रेम किया; फिर दर्शन, मिलन और तादात्म्य-जन्य आनन्द का अनुभव किया। वैसे वनारसीदास, भगवतीदास, द्यानतराय, मनराम आदि हिन्दी के जैन कवियों ने आध्यात्मिक भक्ति में दाम्पत्य-रति को प्रमुखता दी किन्तु, रूपक के रूप में भी अश्लीलता नहीं आ पाई, यह उनकी विशेषता थी। पति–पत्नी का प्रेम चलता रहा और आध्यात्मिकता भी निभती रही।

ब्रह्म के प्रति प्रेम की भावनात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद कहलाती है। कवीर के रहस्यवाद की सवसे वड़ी विशेषता है—'समरस भाव'। आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य होने को समरस कहते हैं। रसता इसलिए कहा कि दोनों के एक होने से ब्रह्मानन्द मिलता है। उसे ही रस कहते हैं। आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य को लेकर जैन परम्परा में कुछ भिन्नता है। जैन आचार्यों की 'आत्मा' एक अखण्ड ब्रह्म का खण्ड अंश नहीं है, अतः उसके ब्रह्म में मिलने जैसी वात उत्पन्न ही नहीं होती। किन्तु, आत्मा शुद्ध होकर परमात्मा वनती है। आत्मा के तीन भेद हैं—वहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बाह्य आत्मा इतनी मिथ्यावंत होती है कि वह पूर्ण शुद्धता प्राप्त ही नहीं कर सकती। अन्त-

---

१. पाहुड़दोहा, १०० वां पद्य, पृ० ३०।

रात्मा में शुद्ध होने की ताकत होती है, किन्तु वह अभी पूर्ण शुद्ध है नहीं। परमात्मा आत्मा का पूर्ण शुद्ध रूप है।[1] रहस्यवाद में आत्मा के दो ही रूप काम करते हैं—एक तो वह, जो अभी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सका है और दूसरा वह, जो परमात्मा कहलाता है। पहले में बहिरात्मा और अन्तरात्मा शामिल हैं और दूसरे में केवल परमात्मा। पहला अनुभूति-कर्त्ता है और दूसरा अनुभूति-तत्व।

चाहे आत्मा ही ब्रह्म बनती हो अथवा वह ब्रह्म में मिलती हो, समरसता और तज्जन्य अनुभूति का आनन्द जैनकाव्यों में उपलब्ध होता है। कबीर ने लिखा है—पाणी ही तैं हिम भया, हिम है गया बिलाइ। जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ॥[2] ठीक ऐसा ही जैन कवि बनारसीदास का कथन है—पिय मोरे घट मैं पिय माहिं, जलतरंग ज्यों द्विविधा नाहि।[3] द्विविधा के मिटने की बात भगवतीदास भैया ने भी कही—जब तैं अपनो जिउ आप लख्यो, तब तैं जु मिटी दुविधा मन की।[4] हिन्दी कवियों की यह समरसता अपभ्रंश के दूहा-काव्य में ज्यों की त्यों उपलब्ध होती है। आचार्य योगीन्दु ने 'परमात्मप्रकाश' में लिखा है—मणु मिलियउ परमेसरहे परमेसरु वि मणस्स, हि वि समरसि हूवाँह पुज्ज चडावउँ कस्स। अर्थात् मन परमेश्वर में और परमेश्वर मन में मिलकर समरस हो गये, तो फिर मैं अपनी पूजा किसे चढ़ाऊँ?[5] एक-दो शब्दों के हेर-फेर से मुनि रामसिंह ने भी लिखा—मणु मिलियउ परमेसरहो परमेसरु जि मणस्स, विण्णि वि समरसि हुइ रहिय पुज्ज चडावउँ कस्स।[6] दोनों की भाषा में यत्किञ्चित् अन्तर के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। मुनि आनन्द तिलक ने भी समरस के रंग की बात लिखी है। उनका कथन है—समरस भावे रंगिया अप्पा देखइ सोई, अप्पउ जाणइ परहणई आणंद करई णिरालंब होई।[7]

---

१. परमात्मप्रकाश, १।११।१५, पृ० २०–२४।

२. कबीर-ग्रन्थावली, परचा कौ अंग, १७ वां दोहा।

३. बनारसीदास : अध्यात्मगीत, १६ वां पद्य, बनारसी विलास, जयपुर, पृ० १६१।

४. भगवतीदास 'भैया', शत-अष्टोत्तरी, ३५ वां कवित्त, ब्रह्मविलास, जैन ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय, बम्बई, सन् १६२६ ई०, पृ० १६।

५. परमात्मप्रकाश, १।१२३, पृ० १२५।

६. पाहुडदोहा, ४६ वां दोहा, पृ० १६।

७. देखिए आमेर-शास्त्र भंडार, जयपुर की 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति, ४० वां पद्य।

आत्मा और परमात्मा के तादात्म्य से उत्पन्न होने वाला आनन्द केवल कबीर के भाग्य में ही नहीं बदा था, बनारसीदास को भी मिला और उन्हें उसका स्वाद कामधेनु, चित्रावेलि और पंचामृत भोजन जैसा लगा।[1] उनकी दृष्टि में राम-रसिक और राम-रस पृथक् नहीं रह पाते, दोनों एक हो जाते हैं।[2] द्यानतराय ने उस आनन्द को गूंगे के गुड़ के समान कहा, जिसका अनुभव तो होता है, किन्तु कहा नहीं जा सकता।[3] कबीर ने इसी को 'गूंगे केरी शर्करा, बैठे ही मुसकाय' कहकर प्रकट किया था। समरसता से उत्पन्न होने वाले इस आनन्द की बात कबीर से कई शती पूर्व आचार्य योगीन्दु ने 'परमात्मप्रकाश' में स्वीकार की थी। उन्होंने 'णिच्चु णिरंजणु णमउ परमाणंदसहाउ' कहकर अपने नित्य, निरंजन और ज्ञानमय परमात्मा को परमानन्द-स्वभाव वाला घोषित किया।[4] एक दूसरे दोहे में—'केवल सुक्ख सहाउ' लिखा,[5] अर्थात् उसका स्वभाव पूर्ण सुखरूप है। 'परमसुख और परमानन्द' पर्यायवाची हैं। तात्पर्य हुआ कि परमानन्द और केवल--सुख स्वभाव वाले ब्रह्म से जिसका तादात्म्य होगा, वह भी तद्रूप ही हो जायगा। इस आनन्द को पूर्णतया स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक पद्य में लिखा—"समभाव में प्रतिष्ठित योगीश्वरों के चित्त में परमानन्द उत्पन्न करता हुआ जो कोई स्फुरायमान होता है, वही परमात्मा है।"[6] अर्थात् आत्मा जब परमानन्द का अनुभव कर उठे, तब समझो कि परमात्मा मिल गया है। 'परमानन्द' के 'परम' की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसे अद्वितीय का वाचक लिखा है। उनका कथन है—"शिव-दर्शन से जिस परमसुख की प्राप्ति होती है, यह इस भुवन में

---

१. अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत कौ कोर है॥
—बनारसीदास : नाटकसमयसार, बम्बई, वि० सं० १९८९, पृ० १७।

२. देखिए वही।

३. द्यानतविलास, कलकत्ता, ६० वां पद, पृ० २५।

४. णिच्चु णिरंजणु णाणमउ परमाणंद सहाउ।
जो एहउ सो संत सिउ तासु मुणि ताहि भाउ॥ —२।१७।

५. केवल दंसण णाणमउ केवल सुक्ख सहाउ।
केवल वीरिउ सो मुणहि जा जि परावरु भाउ॥२४॥

६. जो सम भाव परिट्ठियहं जोइहं कोई फरेइ।
परमाणंदु जणंतु फुडु सो परमप्पु हवेइ॥३५॥

कहीं भी नहीं है। इस अनन्त सुख को इन्द्र करोड़ों देवियों के साथ रमण करने पर भी प्राप्त नहीं कर पाता।"[1] ठीक यही बात मुनि रामसिंह ने पाहुड़दोहा में लिखी है—तं सुहु इंदु वि गाउ लहइ देविहिं कोटि रमंतु।[2] उन्होंने यह भी लिखा कि 'जिसके मन में परमात्मा का निवास हो गया, वह परमगति को पा जाता है।'[3] यह परमगति, परमसुख और परम आनन्द ही है। मुनि आनन्द तिलक ने भी—'अप्प णिरंजणु परम सिउ अप्पा परमाणंदु' लिखकर आत्मा को 'निरञ्जन' और 'शिव' कहते हुए 'परमानन्द' भी कहा।[4]

कबीरदास ने परमात्मा के मिलन को अमृत का धारासार बरसना कहा है। जिस प्रकार अमृत अमरत्व प्रदान करता है, उसी प्रकार मिलन की यह वर्षा जीव को परमपद देती है। इस अमृत का ज्ञान गुरु से प्राप्त होता है। कबीर इसके पारखी हैं। उन्होंने इस अमृत को छककर पिया है।[5] जैनकवि विनय-विजय ने भी घट में स्थित सुधासरोवर का उल्लेख किया है। उसमें स्नान करने से दुःख दूर हो जाते हैं, परम आनन्द उपलब्ध होता है। इस सरोवर को गुरुदेव दिखाता है, किन्तु वही देख सकता है, जिसका उसमें दिल लगा है।[6] इस सुधा स्नान और सुधा पान की महिमा कवि बनारसीदास को भी विदित थी। कवि

---

१. जं सिव दंसणि परम सुहु पावहि झाणु करंतु।
तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु ॥११६॥
जं मुणि लहइ अणंत जग, णिय अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु वि णउ लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥११७॥

२. जं सुहु विसय परंमुहउ णिय अप्पा झायंतु।
तं सुहु इंदु विणउ लहइ देविहिं कोडि रमंतु ॥३॥

३. जसु मणि णिवसइ परमपउ सयलइं चिन्त चवेवि।
सों पर पावइ परमगइ अट्ठइं कम्म हणेवि ॥६६॥

४. आमेर—शास्त्रभण्डार, जयपुर की 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति, दूसरा दोहा।

५. अमृत बरिसै हीरा निपजै घंटा पड़ै टकसाल।
कबीर जुलाहां भया पारखू अनभै उतरया पार ॥
—कबीर वाणी। कबीरदास डा० द्विवेदी, पृ० २९०।

६. सुधा सरोवर है या घट में, जिसमें सब दुख जाय।
विनय कहे गुरुदेव दिखाये, जो लाऊँ दिल ठाय ॥
प्यारे काहे कूं ललचाय ॥
—पदसंग्रह, बड़ौत, शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति, पृ० १७।

आनन्दसूरि ने भी अमृत का आचमन किया था। जिस अमृत के आनन्द की बात हिन्दी के जैन और अजैन कवियों में इतनी प्रसिद्ध है, उसका पूर्वस्वाद अपभ्रंश कवि ले चुके थे। मुनि आनन्द तिलक ने लिखा है कि ध्यान-रूपी सरोवर में अमृत-रूपी जल भरा है, जिसमें मुनिवर स्नान करते हैं और अष्टकर्मों को धोकर निर्वाण में जा पहुँचते हैं।[1] इन्हीं मुनि ने एक दूसरे स्थान पर लिखा है कि परमानन्द-रूपी सरोवर में जो मुनि प्रवेश करते हैं, वे अमृतरूपी महारस को पीने में समर्थ हो पाते हैं; किन्तु गुरु के उपदेश से।[2] मुनि रामसिंह ने ब्रह्म को अमर कहकर उसे अपनाने का आग्रह किया है। अर्थात् उसके अमृतरूप की महिमा गाई है।[3] योगन्दु ने अमृत-सरोवर को दृष्टान्त के द्वारा प्रकट किया है। उन्होंने लिखा है—"ज्ञानियों के निर्मल मन में अनादिदेव उसी प्रकार निवास कर रहा है, जिस प्रकार सरोवर में हंस लीन रहता है। सभी कुछ अनादि हैं, हंस भी और सरोवर भी।"[4] परमात्मप्रकाश में ब्रह्म का 'अजरामर' विशेषण तो एकाधिक वार प्रयुक्त हुआ है। हृदयरूपी सरोवर में हंस के विचरण करने की बात तो महचन्द ने भी लिखी है।[5]

मध्यकालीन संत कवियों ने अपने ब्रह्म को सभी पौराणिक देवों के नाम से पुकारा है। किन्तु, उनका अर्थ पुराण-सम्मत नहीं था। कबीर का राम निरञ्जन है। वह निरञ्जन, जिसका रूप नहीं, आकार नहीं, जो समुद्र नहीं, पर्वत नहीं, धरती नहीं, आकाश नहीं, चन्द्र नहीं, पानी नहीं, पवन नहीं—अर्थात्

---

१. झाण सरोवरु अमिय जलु मुणिवरु कहइ सण्हाणु।
शुभ कर्म मल धोवहि अणंदा रे ; णियठा पांहु णिव्वाणु ॥
—आमेर-शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति, ५ वाँ पद।

२. परमाणंद सरोवरह जे मुणि करइ प्रवेसु।
अमिय महारसु जइ पिवई आणंदा ! गुरु स्वामिहि उपदेसु ॥
—वही, २६ वाँ पद।

३. देहहो पिक्खिवि जरमरणु मा भउ जीव करेहि।
जो अजरामरु बंभु सो अप्पाण मुणेहि ॥
—पाहुड़दोहा, ३३ वाँ दोहा, पृ० १७।

४. णिय मणि णिम्मलि णाणियहं णिवसइ देउ अणाइ।
हंसा सरवरि लीणु जिम मठ एहउ पडिहाइ ॥
—परमात्मप्रकाश, १।१२२, पृ० १२३।

५. महचन्द, दोहापाहुड़, आमेर-शास्त्रभण्डार की हस्तलिखित प्रति, ३२ वाँ पद्य।

सभी दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण।[1] उनका विष्णु वह है, जो संसार रूप में विस्तृत है, उनका गोविन्द वह है, जिसने ब्रह्माण्ड को धारण किया है, उनका खुदा वह है, जो दस दरवाजों को खोल देता है, करीम वह है, जो इतना सब कर देता है, गोरख वह है, जो ज्ञान से गम्य है, महादेव वह है, जो मन को मानता है, सिद्ध वह है, जो इस चराचर दृश्यमान जगत् का साधक है, नाथ वह है, जो त्रिभुवन का एकमात्र पति या योगी है।[2] जैन महात्मा आनन्दघन ने भी अपने ब्रह्म के ऐसे ही ऐसे अनेक पर्यायवाची दिये हैं। उन्होंने भी इनका पौराणिक अर्थ नहीं लिया है। उनका राम वह है, जो निज पद में रमे, रहीम वह है, जो दूसरों पर रहम करे; कृष्ण वह है, जो कर्मों का क्षय करे; महादेव वह है, जो निर्वाण प्राप्त करे; पार्श्व वह है, जो शुद्ध आत्मा का स्पर्श करे; ब्रह्म वह है, जो आत्मा के सत्य रूप को पहचाने। उनका आत्मब्रह्म निष्कर्म, निष्कलंक और शुद्ध चेतनमय है।[3] इससे स्पष्ट है कि कबीर और आनन्दघन दोनों का ही राम दशरथ का पुत्र नहीं था। वह अवाङ्. मनसगोचर था।

आत्मा को अनेक नाम से पुकार कर उसे अमूर्त्त, अलक्ष्य, अजर, अमर घोषित करने वाली जैन परम्परा अति प्राचीन है। आचार्य मानतुंग ने 'भक्तामरस्तोत्र' में जिनेन्द्र को बुद्ध कहा, किन्तु वह बुद्ध नहीं, जिसने कपिलवस्तु में राजा शुद्धोदन के घर जन्म लिया था; अपितु वह, जो (विबुधार्चितबुद्धिबोधात्) बुद्ध है। उन्होने शंकर भी कहा, किन्तु शंकर से उनका तात्पर्य 'शं' करने वाले से था, प्रलयङ्कर शंकर से नहीं। उनका जिनेन्द्र धाता भी था, किन्तु शिवमार्गविरोधेर्विधानात् होने से धाता था। सब पुरुषों में उत्तम होने से ही उनका नाम भगवान् पुरुषोत्तम था।[2] आचार्य भट्टाकलंक ने अकलंकस्तोत्र में ऐसे ही

---

१. कबीर-ग्रन्थावली, २१९ वाँ पद।

२. कबीर-ग्रन्थावली, ३२७ वाँ पद।

३. निज पद रमे राम सो कहिये, रहिम करे रहेमान री।
करशे कर्म कान सो कहिये, महादेव निर्वाण री॥
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इह विध साधो आप आनन्दघन, चेतनमय निःकर्म री॥

—आनन्दघन-पदसंग्रह, प्र० अध्यात्मज्ञान-प्रसारक-मंडल, बम्बई, पद ६७ वाँ।

२. बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधा-
स्त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात्।
धातासि धीर! शिवमार्गविधेर्विधानाद्-
व्यक्तं त्वमेव भगवन्पुरुषोत्तमोऽसि॥

—भक्तामरस्तोत्र, २५ वाँ पद्य।

विचार व्यक्त किये हैं। अर्थात्, उन्होंने भी जिनेन्द्र को शंकर, विष्णु और ब्रह्मा कहा; किन्तु उनका शंकर 'शं' करनेवाला था, प्रलय करनेवाला नहीं।[1] उनका विष्णु वह नहीं था, जिसने नरसिंह का रूप धारण करके हिरण्यकश्यप को मारा और अर्जुन का रथ हांककर कौरवों का विनाश किया; अपितु वह, जो समूचे संसार में फैला है और सब पदार्थों को हस्तामलकवत् देखता है।[2] उनका ब्रह्मा 'क्षुत्तृष्णा-रोगरहित' था, उर्वशी के मोह-जाल में फंसनेवाला नहीं।[3] अन्त में जिनेन्द्र का रूप बताते हुए अकलंकदेव ने लिखा—"जिसके माथा नहीं, जटा नहीं, कपाल नहीं, मुकुट नहीं, माथे पर चन्द्र नहीं, गले में मुण्डमाल नहीं, हाथ में खट्वाङ्ग नहीं, भयंकर मुख नहीं, काम-विकार नहीं, बैल नहीं, गीत-नृत्यादि नहीं, जो कर्मरूप अन्जन से रहित निरन्जन है, जिसका सूक्ष्म ज्ञान सर्वत्र व्याप्त है, जो सबका हितकारी है, उस देव के वचन विरोध-रहित, अनुपम और निर्दोष हैं।"[4] वह राग-द्वेष आदि सब दोषों से रहित है। ऐसा देव पूजा करने योग्य है, फिर भले ही वह बुद्ध हो, वर्द्धमान हो, ब्रह्मा, विष्णु या शिव हो।

आचार्य योगीन्दु ने इस परम्परा का यथावत् पालन किया। उन्होंने लिखा कि परमात्मा को हरि, हर, ब्रह्मा, बुद्ध, जो चाहे सो कहो, किन्तु परमात्मा तभी

---

१. सोऽयं किं मम शङ्करो भयतृषारोषार्तिमोहक्षयं
कृत्वा यः स तु सर्ववित्तनुभृतां क्षेमङ्करः शङ्करः ।।२।।

२. यत्राद्यैन विदारितं कररुहैर्दैत्येन्द्रवक्षःस्थलम् ।
सारथ्येन धनञ्जयस्य समरे योऽसारयत्कौरवान् ।।
नासौ विष्णुरनेककाल विषयं यज्ज्ञानमव्याहतम्
विश्वं व्याप्य विजृम्भते स तु महा विष्णुः सदेष्टो मम ।।३।।

३. उर्वश्यामुदपादि रागबहुलं चेतो यदीयं पुनः ।
पात्री दण्डकमण्डलुप्रभृतयो यस्याकृतार्थस्थितिम् ।।
आविर्भावयितुं भवन्ति स कथं ब्रह्मा भवेन्मादृशाम् ।
क्षुत्तृष्णाश्रमरागरोगरहितो ब्रह्मा कृतार्थोऽस्तु नः ।।४।।

४. माया नास्ति जटाकपालमुकुटं चन्द्रो न मूर्द्धावली
खट्वाङ्गं न च वासुकिर्न च धनुः शूलं न चोग्रं मुखं ।
कामो यस्य न कामिनी न च वृषो गीतं न नृत्यं पुनः
सोऽस्मान्पातु निरञ्जनो जिनपतिः सर्वत्र सूक्ष्मः शिवः ।।१०।।

है, जब वह परम आत्मा हो।[1] परम आत्मा वह है, जो न गौर हो, न कृष्ण हो, न सूक्ष्म हो, न स्थूल हो, न पण्डित हो, न मूर्ख हो, न ईश्वर हो, न निःस्व हो; न तरुण हो, न वृद्ध हो।[2] इन सबसे परे हो, ऊपर हो, मूर्तिविहीन हो, अमन हो, अनिन्द्रिय हो, परमानन्द–स्वभाव हो, नित्य हो, निरञ्जन हो, जो कर्मों से छुटकारा पाकर ज्ञानमय बन गया हो, जो चिन्मात्र हो, त्रिभुवन जिसकी वन्दना करता हो।[3] उसे सिद्ध भी कहते हैं। सिद्ध वह है, जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली है। सिद्धि का अर्थ है—निर्वाण। निर्वाण कर्मों से मुक्त विशुद्ध आत्मा कहलाती है। ऐसी आत्मा में सम्पूर्ण लोकालोक को देखता हुआ सिद्ध ठहरता है। सिद्ध और ब्रह्म के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है।[4] परमात्मा को शिव भी कहते हैं। शिव वह है, जो न जीर्ण होता है, न मरता है और न उत्पन्न होता है, जो सबसे परे है, अनन्त ज्ञानमय है, त्रिभुवन का स्वामी है, निर्भ्रान्त है।[5] तीन लोक तथा

---

१. जो परमप्पउ परमपउ हरि हरु बंभु वि बुद्धु।
परम पयासु भणंति मुणि सो जिणदेउ विसुद्धु॥
—परमात्मप्रकाश, २।२००, पृ० ३३७।

२. अप्पा गोरउ किण्हु णवि अप्पा रत्तु ण होइ।
अप्पा सुहुमु वि थूलु ण वि णाणिउ जाणे जोइ॥
अप्पा पंडिउ मुक्खु णवि णवि ईसरु णवि णीसु
तरुणउ बूढउ बालु णवि अण्णु वि काम विसेसु॥
—परमात्मप्रकाश, १।८६, ९१, पृ० ९०, ९४।

३. अमणु अणिंदिउ णाणमउ मुत्ति विरहिउ चिमित्तु।
अप्पा इंदिय विसउ णवि लक्खणु एहु णिरुत्तु॥
मुत्ति विहूणउ णाणमउ परमाणंद सहाउ।
णियमि जोइय अप्पु मुणि णिच्चु णिरंजणु भाउ॥
—परमात्मप्रकाश, १।३१, २।१८, पृ० ३७, १४७।

४. जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहँ मं करि भेउ॥
—परमात्मप्रकाश, १।२६, पृ० ३३।

५. जरइ ण मरइ ण संभवइ जो परि कोवि अणंतु।
तिहुवणसामिउ णाणमउ सो सिवदेउ णिभंतु॥
—पाहुड़दोहा, ५४ वाँ दोहा, पृ० १६।

तीन काल की वस्तुओं को नित्य जानता है। वह सदैव शांत-स्वभाव रहता है।[1] अपभ्रंश-साहित्य में परमात्मा के जिस पर्यायवाची का सबसे अधिक प्रयोग किया गया, वह है—निरञ्जन। योगीन्दु ने निरञ्जन की परिभाषा लिखी है, जिसका विवेचन पिछले पृष्ठों पर हो चुका है। योगीन्दु ने योगसार में भी परमात्मा के निष्कल, शुद्ध, जिन, विष्णु, बुद्ध, शिव आदि अनेक नाम दिये हैं।[2] तात्पर्य वहां भी यही है कि परमात्मा को किसी नाम से पुकारो; किन्तु वह है निरञ्जन रूप ही। महात्मा आनन्द तिलक ने उसे हरि, हर, ब्रह्मा कहा, किन्तु साथ ही यह भी लिखा कि वह मन और बुद्धि से अलभ्य है; स्पर्श, रस, गन्ध से वाह्य है और शरीर से रहित है।[3]

जो परमात्मा निराकार है, अमूर्त है, अलक्ष्य है, उसकी भक्ति किस प्रकार सम्भव है? मन को चारों ओर से हटाकर, देह-देवालय में बसने वाले ब्रह्म में तल्लीन करना, ब्रह्म से प्रेम करना और ब्रह्म का नाम लेना यदि भक्ति है तो वह भक्ति कबीर ने की और उनके भी पूर्व जैन भक्तों ने। उन्होंने किसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए अपने मन को ब्रह्म में समर्पित नहीं किया—उनका समर्पण बिना शर्त था। उनका प्रेम भी अहेतुक था उसमें लौकिक अथवा पारलौकिक किसी प्रकार का स्वार्थ नहीं था। कबीर जैसा बिना शर्त आत्मसमर्पण-सगुण परम्परा तो दूर, निर्गुण-धारा के भी अन्य कवियों में न बन पड़ा। उन्होंने कहा—"इस मन को 'बिसमल' करके, संसार से हटा करके निराकार ब्रह्म के दर्शन करूं। किन्तु यह मार्ग आसान नहीं है। इस पर चलने वाले को सिर देना

---

१. जो णिय भाउ ण परिहरइ जो परभाउ ण लेइ।
जाणइ सयलु वि णिच्चु पर सो सिउ संतु हवेइ॥
—परमात्मप्रकाश, १।१८, पृ० २७।

२. णिम्मलु णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बुद्धु सिव संतु।
सो परमप्पा जिण भणिउ एहउ जाणि णिभंतु॥
—योगसार, ९ वाँ दोहा, पृ० ३७३।

३. हरिहर संभुवि सिव णाही मणु बुद्धि लक्खिउण जाइ।
मध्य सरीर है सो वसइ अणंदा लीजइ गुरुहिं पसाइ॥
फरस रस गंध वाहिरउ रूव विहूणउ सोइ।
जीव सरीरहँ विणु करि अणंदा सहगुरु जाणइ सोइ॥
—आमेर-शास्त्रभण्डार की 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति, पद्य-सं० १८, १९।

पड़ता है । यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उस पर अंगारे दहकाये जायेंगे ।"[1] कुछ का तात्पर्य है कि सभी सांसारिक सुख-सुविधाओं की वलि देकर मन को ब्रह्म में लीन करना चाहिए, अन्यथा विकृत विश्व में फंसे रहने के कारण उसे नारकीय दुख झेलने होंगे । ब्रह्म में मन समो देने से मलीमस स्वतः ही रह जायगा। ऐसा नहीं है कि हमने मन दिया, तो ब्रह्म ने पवित्रता । कबीर में लेन-देन वाली वात नहीं थी। कवीर ने ऐसी शर्त कभी नहीं लगाई । 'मन दिया मन पाइये, मन विन मन नहिं होई।[2] में केवल मन के उन्मुख होने की वात है, शर्त की नहीं, मन को संसार से उन्मन करके निरंजन में खपाना मूलाधार है ।

विना शर्त मन निरञ्जन में लगाने की वात जैसी जैन परम्परा में देखी जाती है, अन्यत्र नहीं । जैन सिद्धांत के अनुसार शर्त का निर्वाह नहीं हो सकता । जैन भक्त जिस ब्रह्म की आराधना करता है, उसमें कर्त्तव्य-शक्ति नहीं है । वह विश्व का नियन्ता नहीं है । उसे किसी की पूजा और निन्दा से कोई तात्पर्य नहीं है । फिर भी, उसके गुणों का स्मरण चित्त को पवित्र वनाता है—पापों को दूर करता है ।[3] ब्रह्म के कुछ न करते हुए भी, उसके स्मरण मात्र से ही पवित्रता मिलती है और उसमें शुभ कर्म वनते हैं, जो इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की ही विभूति देने में समर्थ हैं । इस भांति जैन भक्त के ब्रह्म में केवल प्रेरणा देने वाला कर्त्तव्य होता है । अर्थात् उसके मूक और अकर्त्ता व्यक्तित्व में इतनी ताकत होती है, जिसके स्मरण या दर्शन-मात्र से भक्त को वह सब कुछ

---

१. इस मन कौ विसमल करौं, दीठा करौं अदीठ ।
जे सिर राखौं आपणाँ, तौ पर सिरिज अंगीठ ।।
—कवीर-साखी-सुधा, मन को अंग, छठा दोहा ।।

२. मन दीयां मन पाइए, मन विन मन नहीं होइ ।
मन उनमन उस अंड ज्यूं अनल अकासां जोई ।।
—देखिये वही ६ वां दोहा ।

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे
न निन्दया नाथ विवान्तवैरे (?) ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः
पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ।।
—आचार्य समन्तभद्र : स्वम्भूस्तोत्र, १२।२

स्वत: ही मिल जाता है, जिसकी उसे आकांक्षा रहती है। किन्तु भक्त आकांक्षा-रहित होता है, निष्काम होता है, कुछ न देने वाले का दर्शनाकांक्षी निष्काम होगा ही, यह सत्य है। किन्तु उसे ब्रह्म को देखने की इच्छा तो रहती है। वह सांसारिक इच्छा में न गिनी जाने के कारण 'कामना' नहीं कहलायगी। अर्थ यह है कि पहले तो जैन भक्त के निष्काम होने से ही शर्त वाली बात नहीं टिक पायेगी, फिर यदि टिकाई भी जाय, तो किसके सहारे? जो सब कुछ झाड़कर मोक्ष में जा विराजा हो, उसे तुम्हारे भले बुरे से क्या तात्पर्य। उसके पास अपने गुण हैं, उन्हें तुम चाहो प्राप्त करलो, वे तुम्हारे पास भी हैं—छिपे पड़े हैं, ढूंढ लो। अर्थात् शर्त को कहीं स्थान नहीं, एक जैन भक्त ने खीझकर लिखा—तुम प्रभु कहियत दीनदयालु, आपन जाइ मुक्ति में बैठे, हम जु रुलत जग-जाल।[1] जैन ब्रह्म क्या करे, जब उसे विदित है कि उसने तुम्हें जगजाल में नहीं रुलाया, फिर उसे जग जाल से निकलने की प्रेरणा दे सकते हैं, जो निकल चुके हैं, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। बताइये ऐसों से आप क्या शर्त लगायंगे। तो, शर्त का मूल ही जैन परम्परा में नहीं है।

इसके विपरीत जो अपने मन को बिना शर्त निःस्वार्थ भाव से ब्रह्म में केन्द्रित करता है, वह भी वैसा ही हो जाता है। पिछले पृष्ठों पर परमानन्द, सुख और परमगति पाने की बात लिखी है, वह मन को परमात्मा में ध्यानस्थ करने से ही सम्भव हुआ था। परमात्मा परमानन्द का ही बना है। वह उसका स्वरूप है। योगीन्दु ने यहां तक लिखा कि जो परमात्मा है, वह ध्यान का विषय होगा ही।[2] योगीवृन्द भी उस ज्ञानमय परमात्मा का ध्यान लगाता है।[3] ध्यान के बिना तो हरि-हर भी अपने ही अन्दर रहने वाले ब्रह्म को नहीं देख पाते। कबीर की भांति ही योगिन्दु ने लिखा था कि अन्य सब भावों को छोड़कर हे जीव! अपनी आत्मा की ही भावना करो। वह आत्मा, जो आठ कर्म और सब

---

१. देखिये द्यानत पद संग्रह, कलकत्ता, ६७ वां पद, पृ० २८।

२. एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं जो परु णिक्कुल देउ।
सो तहिं णिवसइ परम पइ जो तइलोयहँ झेउ॥
—परमात्मप्रकाश, १।२५, पृ० ३२।

३. जोइय विंदहिं णाणमउ जो झाइज्जइ झेउ।
मोक्खहं कारणि अणवरउ सो परमप्पउ देउ॥
—वही, १।३९, पृ० ४३।

दोषों से रहित है तथा दर्शन ज्ञान और चरित्र से युक्त है।[1] उसका ध्यान करने से एक क्षण में स्वतः ही परमपद मिल जाता है।[2] 'पाहुड़दोहा' में लिखा है कि योगियों को उस परमात्मा का ध्यान करना चाहिए, जो त्रैलोक्य का सार है। उन्होंने उनको मूढ़ कहा, जो जगतिलक आत्मा को छोड़कर अन्य किसी का ध्यान करते हैं। मरकतमणि को पहचानने के उपरांत कांच की क्या गणना रहती है।[3] आत्मा की भावना से पाप एक क्षण में नष्ट हो जाते हैं। सूर्य एक निमेष में अंधकार के समूह का विनाश कर देता है।[4] उसके अनुसार जो परम निरंजन देव को नमस्कार करता है, वह परमात्मा हो जाता है।[5] जो अशरीरी का सन्धान करता है, वही सच्चा धनुर्धारी है।[6] महात्मा आनन्द तिलक ने लिखा है— परमप्पद जो झावई सो सच्चउ विवहारु।[7] अर्थात् जो परमात्मा का ध्यान करता है, वही सच्चा व्यवहार है।

जहां तक अहेतुक प्रेम का सम्बन्ध है, वह भी जैन परम्परा में ही अधिक खपता है। जो वीतराग है, वह राग को पसंद करेगा? किन्तु, जैन भक्त उसकी वीतरागता पर रीझकर ही भक्ति करता है। वीतराग से राग करने वाले के हृदय में प्रतिकार-स्वरूप प्रेम पाने की आकांक्षा न रही होगी, यह सत्य है। किंतु, जैन

---

१. अप्पा मेल्लिवि णाणमउ अण्णु परायउ भाउ।
सो छंडेविणु जीव तुहुं भावहि अप्प सहाउ॥
अट्ठहं कम्महं वाहिरउ सयलहं दोसहं चत्तु।
दंसण णाण चरित्तमउ अप्पा भावि णिरुत्तु॥
—वही, १।७४, पृ० ८०, ८१।

२. अप्पा झायहि णिम्मलउ किं वहुए अण्णेण।
जो झायंतहं परम पउ लब्भइ एक्क खणेण॥
—वही, १।९७, पृ० १०१।

३. अप्पा मिल्लिवि जगतिउ मूढ य झायहि अण्णु।
जि मरगउ परियाणियउ तहु किं कच्चहु गण्णु॥ ७१॥

४. अप्पाए वि विभावियइं णासइ पाउ खणेण।
सूरु विणासई तिमिरहरु एक्कल्लउ णिमिसेण॥ ७२॥

५. परमणिरंजणु जो णवइ सो परमप्पउ होइ॥ ७७॥

६. असरीरहं संधाणुकिउ सो धाणुक्कु णिरुत्तु॥ १२१॥

७. देखिये 'आणंदा' की हस्तलिखित प्रति, २४ वां पद्य।

हो या अजैन, एक प्रेमी अपने दिल का क्या करे ? भगवान चाहे निर्मोह हो या निर्गुण या शून्य-सनेही, जब उससे प्रेम किया है, तब प्रेमी का हृदय उसके साथ रभस आलिंगन को मचलेगा ही। कबीर का तो बाद में मचला, किन्तु मुनि रामसिंह का पहले ही मचल चुका था। जैन आचार्यों ने सिद्धांत की दृष्टि से लिखा है कि मचलना बुरा नहीं, अच्छा होता है। भगवान के प्रति किया गया राग पाप के बन्ध का कारण नहीं बनता।[1] इसी कारण तो जिस भांति कबीरदास की आत्मा पिय-मिलन के लिए बेचैन हुई, प्रिय-आगमन के लिए सन्चित बनी उसी भांति मुनि रामसिंह की आत्मा ने अपनी सखी से कहा था—प्रियतम को बाहर पांच इन्द्रियों का स्नेह लग गया है, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि उसका आगमन नहीं होगा।"[2] प्रिय-आगमन के लिए दोनों की बेचैनी समान है, दोनों का संदेह समान है, दोनों की चिन्ता समान है। कबीर का प्रेम अहेतुक न बनता, यदि उन पर रामानन्दी भक्ति का प्रभाव होता—उन्हें वह योगधारा भी जन्म से मिली थी, जिसमें फक्कड़पन था और थी मस्ती। और, उस योगधारा में जो अहेतुक वाला पुट था, वह अवश्य ही जैन परम्परा में जाने या अनजाने कैसे भी आया होगा। मैं नाथ-सम्प्रदाय को अनेक सम्प्रदायों का संकलन कह चुका हूँ। जैनों में योग वाली बात अधिक थी। इसलिए अहेतुकता भी अधिक थी।

अहेतुक प्रेम का निर्वाह हिन्दी के जैन कवियों ने खूब किया। पत्नी प्रिय के वियोग में इस भांति तड़प रही है, जैसे जल के बिना मछली।[3] उसके हृदय में पति से मिलने का चाव निरन्तर बढ़ रहा है। वह अपनी समता नाम की सखी से कहती है कि पति के दर्शन पाकर मैं उसमें इस तरह समा जाऊंगी, जैसे

---

१. देवगुरुम्मिय भत्तो साहम्मिय संजुदेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होइ जोई सो॥

—आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुड़, ५२ वीं गाथा।

२. पंचहिं बाहिरु णेहडउ हलि सहि लग्गु पियस्स।
तासु ण दीसइ आगमणु जो खलु मिलउ परस्स॥

—पाहुड़दोहा, ४५ वां दोहा, पृ० १४।

३. मैं विरहिन पिय के अधीन।
यो तलफों ज्यों जल बिना मीन॥

—बनारसीदास : आध्यात्मगीत, तीसरा पद्य, बनारसी विलास, जयपुर पृ० १५९।

बूंद दरिया में समा जाती है। मैं अपनापा खोकर पी से मिलूंगी, जैसे ओला गलकर पानी हो जाता है।[1] और जब पति उसे मिला, तब रमस आलिंगन कौन कहे, एकमेक हुए बिना चैन न पड़ा। उन दोनों के 'एकमेक' को लेकर बनारसी दास ने लिखा—वह करतूति है और प्रिय कर्त्ता। "वह सुखसींव है और प्रिय सुखसागर। वह शिव नींव है और प्रिय शिव मन्दिर। वह सरस्वती है और प्रिय ब्रह्मा। वह कमला है और पिय माधव। वह भवानी है और पिय शंकर। वह जिनवाणी है और पति 'जिनेन्द्र।'[2] 'भैया' का पति कहीं भटक गया है, तो वह दुलारते हुए कहते है—"हे लाल। तुम किसके साथ लगे फिरते हो—तुम अपने महल में क्यों नहीं आते, वहां दया, क्षमा, समता और शांति जैसी सुन्दर रमणियां तुम्हारी सेवा में खड़ी हुई हैं। एक-से-एक अनुपम रूपवाली हैं।"[3] दुलारना सफल हुआ, पिय घर वापस आगया, तो सुमति का ठिकाना न रहा। वह पिय के साथ परमानन्द की अनुभूति में डूब गई। महात्मा आनन्दघन की सुहागिन नारी के पति भी लम्बी प्रतीक्षा के बाद स्वयं आगये हैं। उसकी

---

१. होहुं मगन मैं दरसन पाय, ज्यों दरिया में बूंद समाय।
पिय कों मिलों अपनपो खोय, ओला गल पाणी ज्यों होय॥
—देखिए वही, ६ वां पद्य पृ० १६०।

२. पिय मों करता मैं करतूति,
पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति।
पिय सुखसागर मैं सुखसींव,
पिय शिवमन्दिर मैं शिव नींव।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वती नाम,
पिय माधव मों कमला नाम।
पिय शंकर मैं देवि भवानि,
पिय जिनवर मैं केवल वानि॥
—देखिये वही, पृ० १६१

३. कहां कहां कौन संग लागे ही फिरत लाल,
आवौ क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में।
नैंकहू विलोकि देखौ अन्तर सुदृष्टि सेती,
कैसी-कैसी नीकी नारी ठाडी हैं टहल में
एक तें एक बनी सुन्दर सुरूप बनी,
उपमा न जाय गनी बाम की चहल में।
—भैया भगवतीदास : शतअष्टोतरी, २७ वां पद्य, ब्रह्मविलास पृ० १४।

प्रसन्नता अगाध है। उसने इस उपलक्ष्य में शृंगार किया है। सहज स्वभाव की चूड़ियां और थिरता का कंगन पहना है, ध्यान-रूपी उरबसी गहना उर पर धारण किया है, सुरत के सिन्दूर से मांग सजाई है, निरत की वेणी को आकर्षक ढंग से गूंथा है और भक्ति की मेंहदी रची है।[1]

शिव-रमणी कुंआरी है। कुंआरियों के विवाह होते ही हैं। शिव-रमणी का विवाह तीर्थंकर शांतिनाथ (१६ वें तीर्थंकर) के साथ होने वाला है। अभी विवाह-मण्डप में दूल्हा नहीं आ पाया है, किन्तु वधू की उत्सुकता दबती नहीं और वह अपने मनभाये के अभी तक न आने से उत्पन्न हुई बेचैनी सखी पर प्रकट कर देती है। उसका कथन है कि उसका पति सुखकन्द चन्द्र के समान है, तभी तो उसका मन उदधि आनन्द से आन्दोलित हो उठा है और उसके नेत्र-चकोर सुख का अनुभव कर रहे हैं।[2] यह सच है कि अभी उसे आनन्द हो रहा है, किन्तु जब पति से मिलने जायगी, तब आनन्द के साथ-साथ भय भी उत्पन्न होगा। पति अनजाना है, अनजाने से मिलने में भय तो है ही। कबीर की नायिका कांप रही है—थरथर कम्पै बाला जीव ना जाने क्या करसी पीव।[3] जायसी की नायिका घबरा रही है—अनचिन्ह पिउ कांपै मन मांहां, का मैं कहब गहब जौ बाहां।[4] इसी प्रकार बनारसीदास की नवयौवना भी भड़भड़ा गई है—बालम तुहुं तन चितवन गागर फूटि, अंचरा गौ फहराय सरम गह छूटि।[5] इस

---

१. सहज स्वभाव चूरियां पेनी, थिरता कंगन भारी।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पिय गुन माल अधारी।
सुरत सिन्दूर मांग रंग राती, निरते वेनी समारी
उपजी ज्योत उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी।
मंहिंदी भक्ति रंग की रांची, भाव अंजन सुखकारी॥
—आनन्दघन पद संग्रह, २० वां पद पृ० १०।

२. सहि एरी ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नहीं घरे।
सहि एरी ! मन उदधि अनन्दा सुखकन्दा चन्दा देह धरे॥
चन्द जिवां मेरा वल्लभ सोहे, नैन चकोरहिं सुक्ख करैं।
—बनारसीदास : शांतिजिनस्तुति, प्रथम पद्य, बनारसीविलास, पृ० १८९।

३. कबीरदास : सबद, ६१ वां पद, संतसुधासार, दिल्ली, पृ० ८५।

४. जायसी : पद्मावती-रत्नसेन-भेंट खण्ड पद्मावत, काशी, पृ० १३२।

५. बनारसीदास : अध्यात्मपदपंक्ति, १० वाँ राग-बिरवा, पहला पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० १५४।

विवेचन से सिद्ध है कि निर्गुणवादी संतों के अहेतुक प्रेम पर सूफियों का नहीं, अपितु उस श्रमणधारा का प्रभाव था, जो कबीर से सदियों पूर्व चली आ रही थी।

जैन साहित्य में 'सतगुरु' पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है। उसकी महिमा यहां तक बढ़ी कि पंचपरमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, और साधु) को 'पंचगुरु' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। जहां कबीर ने गोविन्द और गुरु को दो बताया, वहां जैन आचार्यों ने दोनों को एक कहा। उनकी दृष्टि में गोविंद ही गुरु है। एक शिष्या ने कहा कि मैं उस गुरु की 'शिष्यानी' हूँ, जिसने दो को मिटाकर एक कर दिया।[1] आत्म और अनात्म के भेद को मिटाने वाला ही गुरु है।[2] केवल ग्रंथों का पारायण करने वाला गुरु नहीं है। कबीर ने भी केवल ग्रन्थ पढ़कर गुरु बनने वाले की निरर्थकता घोषित की है। गुरु वह है जो ब्रह्म तक पहुंचने का रास्ता दिखाये अथवा जिसके प्रसाद से ब्रह्म प्राप्त किया जा सके। रास्ता वही दिखा सकता है, जिसके पास ज्ञान का दीपक हो यह दीपक कबीर के गुरु के पास था और जैन गुरु तो दीपक रूप ही था। जीव लोक और वेद के अन्धकार से ग्रस्त पथ पर चला जा रहा था, आगे 'सत्गुरु' मिल गया, तो उसने ज्ञान का दीपक दे दिया, मार्ग प्रकाशित हो उठा और वह अभीष्ट स्थान तक पहुंचने का रास्ता पा गया।[3] आचार्य देवसेन का भी कथन है कि अन्धकार में क्या कोई कुछ पहचान सकता है? गुरु के वचन-रूपी दीपक के बिना प्रकाश ही न होगा, तो फिर देखना कैसे हो सकेगा, पहचानना तो दूर रहा।[4] अनदेखा

---

१. वे भंजे विणु एक्कु किउ मणहं ण चारिय विल्लि।
तहि गुरुवहि हउं सिस्सणी अण्णहि करमिण लल्लि॥

—पाहुड़दोहा, १७४ वां दोहा, पृ० ५२।

२. गुरु दिणयरु गुरु हिमकरणु गुरु दीवउ गुरु देउ।
अप्पापरहं परंपरहं जो दरिसावइ भेउ॥

—वही, प्रथम दोहा, पृ० १।

३. पीछैं लागा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुरु मिल्या दीपक दीया हाथि॥

—गुरुदेव कौ अंग, १२ वां दोहा, कबीर-साखी-सुधा, पृ० ६।

४. तं पायडु जिणवरवयणु, गुरुउवएसइं होइ।
अंधारइं विणु दीवडइं अहव कि पिच्छइ कोइ॥

—सावयधम्मदोहा, छठा दोहा, पृ० ४।

अनचीन्हा लक्ष्य उपलब्ध भी न हो सकेगा। किन्तु गुरु के दीपक के साथ भी शर्त है कि वह ज्ञान का होना चाहिए। साधारण दीपक तो ६४ जला दिये जायें, तो भी अन्धकार दूर नहीं होगा। अन्धकार तो लाखों चन्द्रों के साथ होने पर भी हटेगा नहीं, जब तक उसमें ज्ञान का प्रकाश न होगा।[1] ज्ञान का प्रकाश ही मुख्य है—वह प्रकाश, जो आत्मब्रह्म तक पहुंचने का मार्ग दिखाता है। इस प्रकाश का प्रदाता ही गुरु है, फिर चाहे सूर्य से, चाहे दीपक से और चाहे किसी देव से।[2]

कबीर के गुरु के प्रसाद से गोविन्द मिलते हैं। सुन्दरदास के गुरु भी दयालु होकर आत्मा को परमात्मा से मिला देते हैं।[3] दादू के मस्तक पर तो गुरुदेव ज्यों ही आशीर्वाद का हाथ रखते हैं कि उसे 'अगम-अगाध' के दर्शन हो जाते हैं।[4] जैन कवियों ने भी गुरु के प्रसाद को महत्ता दी है। कवि कुशललाभ को भी गुरु की कृपा से ही शिव-सुख उपलब्ध हुआ है।[5] सोलहवीं शती के कवि चतरूमल ने पंचगुरुओं के प्रणाम करने से मुक्ति का मिलना स्वीकार किया है। इसी शती के ब्रह्मजिनदास ने आदि पुराण में गुरु के 'प्रसाद' से 'मुगति रमणी' के मिलने की बात लिखी है। पाण्डे रूपचन्द के मत से गुरु की कृपा से ही 'अविचल स्थान' प्राप्त होता है। यह परम्परा विकसित और पुष्ट रूप में अपभ्रंश-युग से चली आ रही थी। जैन अपभ्रंश-काव्य में सतगुरु की जी खोलकर प्रशंसा की गई है। उनसे गुरु के प्रसाद का परम सामर्थ्य भी प्रकट हो जाता है। मुनि राम-

---

१. चौसठि दीवा जोइ करि, चौदह चंदा मांहि।
तिहि घरि किसको चानिणों जिहि घरि गोविन्द नांहि॥
—गुरुदेव को अंग, १७ वां दोहा, कबीर-साखी-साखी-सुधा पृ० १८७।

२. देखिए पाहुड़दोहा, प्रथम दोहा पृ० १।

३. परमातम सो आतमा जुरे रहे बहु काल।
सुन्दर मेला करि दिया सद्गुरु मिले दयाल॥
—सुन्दरदर्शन, इलाहबाद, पृ० १७७

४. दादू गैब मांहि गुरुदेव मिल्या, पाया हम परसाद।
मस्तक मेरे कर धर्‌या देख्या अगम अगाव॥
—दादू, गुरुदेव, को अंग, पहली साखी, संत सुधासार पृ० ४४६।

५. दिन-दिन महोत्सव अतिघणा, श्री संघ भगति सुहाइ।
मन शुद्धि श्री गुरुसेवी यह, जिणि सेव्यइ शिव सुख पाइ॥
—जैन ऐतिहासिक काव्यसंग्रह, पूज्यवाहणगीतम् ५३ वां पद, पृ० ११५

सिंह ने लिखा है—"तू तभी तक लोभ से मोहित हुआ विषयों में सुख मानता है, जब तक कि गुरु के प्रसाद से अविचल बोध नहीं पा लेता।"[1] उन्होंने यह भी कहा कि लोग तभी तक धूर्त्तता करते हैं जब तक गुरु के प्रसाद से देह के देव को नहीं जान लेते।[2] मुनि महचन्द का कथन है—"यह जीव गुरु के प्रसाद से परमपति ब्रह्म को अवश्य ही उपलब्ध कर लेता है।"[3] महात्मा आनन्दतिलक ने असीम श्रद्धा के साथ लिखा कि यदि शिष्य निर्मल भाव से सुनता है तो गुरु के उपदेश से उसमें असीम ज्योति उल्लसित हुए विना नहीं रहती। यह सच है कि शिष्य का भाव निर्मल होना चाहिए, अन्यथा गुरु का उपदेश निरर्थक ही होगा। कवीर के अनुसार 'वपुरा सतगुरु' क्या कर सकता है, यदि शिष्य में ही चूक हो उसे चाहे जैसे समझाओ, सव व्यर्थ जायगा। ठीक वैसे ही जैसे वंशी में फूंक ठहरती नहीं, वाहर निकल जाती है। पाँडे रूपचन्द ने लिखा है कि अमृतमय उपदेश भी शिष्य को रुच नहीं सकता, यदि उसकी ज्ञानी आत्मा मिथ्यात्व से आवृत है। वनारसीदास का कथन है—सहजमोह जव उपशमै रुचै सुगुरु उपदेश, तव विभाव भवतिथि घटै, जगै ज्ञानगुण लेश।

भारतीय धरती सद्गुरुओं की महिमा से सदैव धन्य होती रही। उसका प्राचीन साहित्य, पुरातत्व और इतिहास साक्षी है। किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि शनैः शनैः वह महिमा निःशेषप्रायः हो गई, कुगुरु वढ़ते गये और उनका अपयश भी। किन्तु उस समय के संत दोनों के अन्तर को स्पष्ट घोषित करते रहे, जिससे जनसाधारण को उनकी पहचान वनी रहती थी।

---

१. लोहिं मोहिउ ताम तुहुं विसयहं सुक्ख मुणेहि।
गुरुहं पासाए जाम णवि अविचल वोहि लहेहि॥
—पाहुड़दोहा, ८१वां दोहा, पृ० २४।

२. ताम कुतित्थइ परिभमइ, धुत्तिम ताम करंति।
गुरुहं पसाएं जाम णवि देहहं देउ मुणंति॥
—वही, ८० वां दोहा, पृष्ठ २४।

३. छुड्ड अंतरु परियाणिजइ, वाहिरि तुट्टइ नेहु।
गुरुहं पसाइं परम पऊ, लब्भइ निस्संदेह॥
—महीचन्द पाहुड़दोहा, हस्तलिखित प्रति, ७१ वां दोहा

हिन्दी के आदिकाल मे जैन भक्तिपरक कृतियाँ

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने जिस युग को 'वीर गाथाकाल' कहा, उसी को महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'सिद्धकाल' और डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'आदिकाल' नाम से अभिहित किया है। मुझे 'आदिकाल' प्रिय है, क्योंकि उसमें 'वीर', 'धर्म', 'भक्ति' और 'सिद्ध' आदि सभी कुछ खप सकता है। वह एक निष्पक्ष शब्द है। यह तो अभी खोज का ही विषय बना हुआ है कि इस काल में वीरगाथाएं अधिक लिखी गयीं अथवा धार्मिक कृतियाँ। साम्प्रतिक खोजों से जो कुछ सिद्ध हुआ है, उसके आधार पर धार्मिक कृतियों की संख्या अधिक है। उनमें जैन भक्ति-सम्बन्धी रचनाएं भी हैं। भक्ति और धर्म का भावगत सम्बन्ध है, अतः वे कृतियाँ धार्मिक हैं और साहित्यिक भी। मूल प्रवृत्तियों का भावोन्मेष ही साहित्य है, फिर भले ही उसका मुख्य स्वर धर्म या अन्य किसी विषय से सम्बन्धित हो।

पं० रामचन्द्र शुक्ल के मत से वि० सं० १०५० (सन् ९९३) से संवत् १३७५ (सन् १३१८) के काल को हिन्दी का आदिकाल कहना चाहिए। किन्तु इसके पूर्व ही देशभाषा का जन्म हो चुका था। देश-भाषा का अर्थ है पुरानी

हिन्दी। धर्मशास्त्री नारद ने लिखा है कि "संस्कृतैः प्राकृतैर्वाक्यैर्यः शिष्यमनुरूपतः। देषभाषाद्युपायैश्च वोधयेत् स गुरुः स्मृतः[1] ।।" डा० काशीप्रसाद जायसवाल का कथन है कि देशभाषा आचार्य देवसेन (वि० सं० ९९०) के पहवे ही प्रचलित हो चुकी थी।[2] आचार्य देवसेन ने अपने 'श्रावकाचार' में जिन दोहों का उपयोग किया है, उनकी रचना देशभाषा में हुई है। इस श्रावकाचार की एक हस्तलिखित प्रति कारंजा के सेनगण मन्दिर के पुस्तक भण्डार में प्रस्तुत है। इसमें प्रयुक्त शब्दरूप, विभक्ति और धातुरूप प्रायः सभी हिन्दी के हैं। कहीं-कहीं छन्द सिद्धि के लिए प्राकृत रूप रह गये हैं। हिन्दी काव्यों में उनका प्रयोग आगे चलकर भी होता रहा। श्रावकाचार में जिनेन्द्र और पंचगुरु-भक्ति के अनेक उद्धरण हैं। एक स्थान पर लिखा है,

"जो जिण सासण भासियउ सो मइ कहियउ सार।
जो पालेसइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु।।"

कुछ विद्वानों ने अपभ्रंश और देशभाषा को एक मान लिया, परिणामतः उन्होंने अपभ्रंश कृतियों को भी हिन्दी में ही परिगणित किया है। महा पण्डित राहुल सांकृत्यायन की 'हिन्दी काव्यधारा' इसका निदर्शन है। यह सच है कि 'कथासरित्सागर' के आधार पर 'अपभ्रंश' और 'देशी' समानार्थक शब्द थे,[3] किन्तु यह वैसा ही था जैसा कि पतञ्जलि के महाभाष्य में प्राकृत और अपभ्रंश को समानार्थक माना गया है।[4] भाषा-विज्ञान के अध्येता जानते हैं कि भाषाओं का स्वभाव विकसनशील है। मुखसौकर्य के लिए भाषाएं निरन्तर समासप्रधानता से व्यासपरकता की ओर जाती रही हैं। प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से देशी-भाषा अधिकाधिक व्यासप्रधान होती गयी है। यह ही दोनों में अन्तर है। अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता। स्वयम्भू (९ वीं शताब्दी वि० सं०) का 'पउमचरिउ' नितान्त अपभ्रंश ग्रन्थ है। उसमें कहीं देशी भाषा का एक भी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है। कवि पुष्पदन्त (वि०सं० १०२९) ने 'णायकुमारचरिउ' में अपनी सरस्वती को निःशेष देश भाषाओं का वोलने वाला भले ही कहा

---

१. वीर मित्रोदय से उद्धृत।

२. डा० काशीप्रसाद जायसवाल का लेख 'पुरानी हिन्दी का जन्मकाल', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृ० २२०।

३. कथासरित्सागर, १।६, पृ० १४८।

४. पातञ्जल महाभाष्य, १।१, पृ० १

हो,[1] किन्तु वह केवल विविध अपभ्रंश भाषाओं के वोलने में ही निपुण है। पुष्पदन्त अपभ्रंश को ही देशभाषा कहते थे।

पुष्पदन्त के चालीस वर्ष उपरान्त हुए श्रीचन्द का 'कथाकोष' देशभाषा में लिखा गया है। इस ग्रन्थ में ५३ सन्धियां हैं। प्रत्येक सन्धि में एक कथा कही गयी है। कथाएं भक्ति से सम्वन्धित हैं। ग्रन्थ की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि श्रीचन्द के गुरु वीरचन्द थे, जो कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा में हुए हैं। एक उदाहरण इस प्रकार हैं,

"लहेवि सिद्धि च समाहिकारणं
समत्थ संसार डुहोह वारणं।
पहुं जए जं सरसं निरंतरं॥
सुहं सयातप्फलजं अणुत्तरं
तेणाण माउ वढ्ढिउ पयाउ।
सम्मत्त णाण तव चरण थाण॥"

धनपाल धक्कड़ (१० वीं शती ईसवी) की 'भविसयत्त कहा'[2] में यत्र-तत्र अनेक स्थानों पर देशभाषा का प्रयोग हुआ है। डा० विण्टरनित्स और प्रो० जैकोवी प्रभृति विद्वानों ने इस काव्यकथा के रचना-कौशल की प्रशंसा की है। कथा का मूलस्वर व्रतरूप होते हुए भी जिनेन्द्र की भक्ति से सम्बन्धित है।

यद्यपि आचार्य हेमचन्द्र (सन् १०८८-११७९) ने देशी नाममाला[3] (कोश) का ही निर्माण किया था, किन्तु जहां तक भक्ति का सम्बन्ध है, उनका कोई स्तोत्र या काव्य देशभाषा में लिखा हुआ उपलब्ध नहीं है। विनयचन्द सूरि (१३ वीं शती ईसवी) ने 'नेमिनाथ चउपई'[4] का निर्माण किया था। यह देश-

---

१. णायकुमारचरिउ, डा० हीरालाल जैन सम्पादित, कारंजा, १९३३ ई० पहली सन्धि, पृ० ३।

२. इसका प्रकाशन सन् १९१८ में प्रो० जैकोवी के सम्पादन में म्यूनिक से हुआ था। वाद में डा० पी.डी. गुणे ने इसका सम्पादन किया और सन् १९२३में G.O.S.XX. में इसे प्रकाशित किया। दोनों की भूमिकाएं विद्वत्तापूर्ण हैं।

३. 'देशी नाममाला' जर्मन विद्वान् पिशेल द्वारा सम्पादित होकर B. S. S. XVII में दो वार प्रकाशित हो चुकी है।

४. 'प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह' में इसका प्रकाशन सन् १९२० में हुआ है।

भाषा में लिखी गई है। इसमें राजीमती के वियोग का वर्णन है। नेमिनाथ तीर्थङ्कर थे, अतः उनसे किया गया प्रेम भगवद्विषयक ही कहलायेगा। जब नेमिनाथ ने पशुओं के करुणाक्रन्दन से प्रभावित होकर तोरण-द्वार पर ही वैराग्य ले लिया, तो राजीमती विलाप कर उठी। इस काव्य में उसके वियोग का चित्र खींचा गया है। कतिपय पंक्तियाँ इस प्रकार हैं,

"भणइ सखी राजल मन रोइ,
नीठुरु नेमि न अप्पणु होई।
साँचउ सखि वरि गिरि भिज्जंति,
किमइ न भिज्जइ सामलकंति॥"

शालिभद्रसूरि (सन् ११८४) का 'वाहुबलिरास'[1] एक उत्तम कोटि का काव्य है। उसका सम्बन्ध महाराज वाहुवलि की वीरता और महत्ता से है। वाहुवलि प्रथम चक्रवर्त्ती थे। दोनों भाइयों में साम्राज्य को लेकर युद्ध हुआ था। भरत को पराजित करने के उपरान्त वाहुबलि ने वैराग्य ले लिया। उन्हीं की भक्ति में इस काव्य की रचना हुई है। भाषा दुरूह अपभ्रंश है, कहीं देशभाषा के दर्शन नहीं होते।

विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के अन्त में श्री जिनदत्तसूरि (वि०सं० १२७४) के रूप में एक सामर्थ्यवान् व्यक्तित्व का जन्म हुआ। वे विद्वान थे और कवि भी। उन्होंने 'चर्चरी', 'कालस्वरूपकुलकम्' और 'उपदेशरसायनरास' का निर्माण किया।[2] 'उपदेश रसायनरास' में सतगुरु के स्वरूप का विशद वर्णन हुआ है। ये तीनों ही काव्य अपभ्रंश भाषा में लिखे गये हैं। गुरु के सम्वन्ध में एक पद्य इस प्रकार है,

"सुगुरु सुवुच्चइ सच्चइ भासइ
पर परवायि – नियरु जसु नासइ।
सव्वि जीव जिव अप्पउ रक्खइ
मुक्ख-मग्गु पुच्छियउ जु अक्खइ॥"

---

१. श्री मुनि जिनविजय ने 'वाहुवलिरास' पर 'भारतीय विद्या', वर्ष २, अंक १ में प्रकाश डाला है।

२. लालचन्द भगवानदास गान्धी ने इनका सम्पादन कर, शोधपूर्ण संस्कृत प्रस्तावना सहित G. O. S. XXXVII में प्रकाशित किया है।

जिनपद्मसूरि (वि० सं० १२५७) ने 'थूलिभद्दफाग' की रचना की थी। आचार्य स्थूलभद्र, भद्रवाहु स्वामी के समकालीन थे। उनका निर्वाण वी० नि० सं० २१९ में हुआ। उनका समाधिस्थल गुलजार बाग, पटना स्टेशन के सामने कमल-हृद् में बना हुआ है। इस फाग की गणना उत्तम कोटि के काव्य में की जाती है। इसमें स्थूलभद्र की भक्ति से सम्बन्धित अनेक सरस पद्यों की रचना हुई है। पावस वर्णन की कतिपय पंक्तियाँ देखिए,

"सीयल कोमल सुरहि वाय जिस जिम वायंते।
माण – मडफ्फर माणणिय तिम तिम नाचंते।।
जिम जिम जलधर भरिय मेह गयणंगणि मलिया।
तिम तिम कामीतरणा नयण नीरहि झल छलिया।।"

नेमिचन्द्र भण्डारी, खरतरगच्छीय जिनेश्वरसूरि के पिता थे। उन्होंने वि० सं० १२५६ के लगभग 'जिनवल्लभसूरि गुणवर्णन' के नाम से एक स्तुति लिखी थी, जो 'जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह' में प्रकाशित हो चुकी है। यह स्तुति आचार्य भक्ति का निदर्शन है। इसमें ३५ पद्य हैं। एक पद्य इस भाँति है,

"पणमवि सामि वीर जिणु, गणहर गोयम सामि।
सुधरम सामिय तुलनि सरणु, जुग प्रधान सिवगामि।।"

महेन्द्रसूरि के शिष्य श्री धर्मसूरि (वि०सं० १२६६) ने 'जम्बूस्वामी चरित्र' 'स्थूलभद्ररास' और 'सुभद्रासती चतुष्पदिका' का निर्माण किया था।[1] तीनों में क्रमशः ५२, ४७ और ४२ पद्य हैं। भगवान् महावीर के निर्वाण के उपरान्त केवल तीन केवली हुए, जिनमें जम्बूस्वामी अन्तिम थे। सुभद्रासती जिनेन्द्र की भक्त थी। तीनों ही रचनाएँ पुरानी हिन्दी में लिखी गयी हैं। यद्यपि कुछ लेखक इन कृतियों की भाषा को गुजराती कहते हैं,[2] किन्तु वह हिन्दी के अधिक निकट है। तीनों का एक-एक पद्य निम्न प्रकार से है,

"जिण चउ वीसइ पथ नमेवि गुरु चरण नमेवि।
जम्बू सामिहिं तणउ चरिय भविउ निसुणेवि।।"

—जम्बू स्वामी चरित्र

---

१. तीनों की हस्तलिखित प्रतियाँ बीकानेर के वृहद् ज्ञान भण्डार में मौजूद हैं।

२. लायब्रेरी मिसेलेनी, त्रैमासिक पत्रिका, बड़ौदा महाराज की सेण्ट्रल लायब्रेरी का प्रकाशन, अप्रैल १९१५ के अंक में, श्री सी. डी. दलाल का, पाटण के सुप्रसिद्ध जैन पुस्तकालयों की खोज में प्राप्त संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन गुजराती के ग्रन्थों का विवरण।

"पणमवि सासणदेवी अनइ वाएसरी।
थूलिभद्र गुण गहण, सुणि सुणिव रहज्जु केसरी ॥"

—स्थूलभद्ररास

"जं फलु होइ गया गिरणारे, जं फलु दीन्हइ सोना भारे।
जं फलु लक्खि नवकारिहि, गुणिहिं तं फल सुभद्रा चरितिहिं सुणिहिं ॥'

—सुभद्रासती चतुष्पदिका

शाहरयण, खरतरगच्छीय जिनपतिसूरि के शिष्य थे। उन्होंने वि० सं० १२७८ में 'जनपतिसूरि धवलगीत'[1] का निर्माण किया था। यह कृति गुरु-भक्ति का दृष्टान्त है। इसमें बीस पद्य हैं। रचना सरस है। पहला पद्य देखिए,

"वीर जिणेसर नमइ सुरेसर तसपट्ट पणमिय पय कमले।
युगवर जिनपति सूरि गुण गाइ सो भत्ति भर हरसि हिम निरमले ॥"

विजयसेनसूरि, नागेन्द्रगच्छीय हरिभद्रसूरि के शिष्य और मन्त्रिप्रवर वस्तुपाल के धर्माचार्य थे। उन्होंने वि० सं० १२८८ के लगभग 'रेवन्तगिरि रासो'[2] की रचना की थी। इसमें ७२ पद्य हैं। इसमें गिरिनार के जैन मन्दिरों का वर्णन है। इसकी भाषा प्राचीन गुजराती की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है। प्रारम्भ के दो पद्य इस भाँति हैं,

"परमेसर तित्थेसरह पय पंकज पणमेवि,
भणिसु रासु रेवंत गिरे, अंबिक देवी सुमरेवी।
गामागर--पुर--वण--गहण सरि-सरवरि-सुपएसु,
देवभूमि दिसि पच्छिमह मणहरु सोरठ देसु ॥"

विक्रम संवत् को १४ वीं शताब्दी में अनेक जैन कवि हुए। उनकी भाषा हिन्दी थी। उनकी कविताओं का मूलस्वर भक्तिपूर्ण था। खरतरगच्छीय जिनपतिसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने वि० सं० १३३१ के लगभग अनेक भक्तिपूर्ण स्तुतियों की रचना की, जिनमें से एक का नाम है 'वाबरो'।[3] उसमें तीस पद्य हैं। आदि का एक पद्य देखिए,

---

१. 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में प्रकाशित हो चुका है।

२. 'प्राचीन गुर्जरकाव्य संग्रह' में प्रकाशित हुआ है।

३. श्री अगरचन्द नाहटा के निजी संग्रह में मौजूद है।

"भगति करवि वहु रिसह जिण, वीरह चलण नमेवि ।
हउं चालिउ मणि भाव धरि, दुइणि जिणमणि समरेवि ।।

इन्हीं जिनेश्वरसूरि के शिष्य अभयतिलक ने वि० सं० १३०७ वैसाख शुक्ला १० को 'महावीर रास' लिखा था। उसमें २१ पद्य हैं। इसे भगवान् महावीर की स्तुति ही कहना चाहिए। लक्ष्मीतिलकका 'शान्तिनाथ देवरास'[1] और सोम-मूर्त्ति का 'जिनेश्वरसूरि संयमश्री विवाहवर्णनरास',[2] भक्ति से सम्बन्धित प्रसिद्ध काव्य हैं।

अम्बदेवसूरि, नागेन्द्रगच्छ के आचार्य पासडसूरि के शिष्य थे। उन्होंने वि० सं० १३७१ के लगभग संघपति 'समरारास'[3] का निर्माण किया था। ओसवाल शाह समरा संघपति ने वि० सं० १३७१ में शत्रुंजय तीर्थक्षेत्र का उद्धार करवाया था। इस रचना में उसी का वर्णन है। इसकी भाषा में राजस्थानी के शब्द अधिक हैं। इससे अम्बदेव का जन्म राजस्थान में कहीं हुआ था, ऐसा अनुमान होता है। इस रास की भाषा का सादृश्य गुजराती की अपेक्षा हिन्दी से अधिक है। जब समरा शाह ने पट्टन से संघ निकालकर शत्रुंजय की ओर प्रयाण किया, उस समय का एक पद्य देखिए,

"वाजिय संख असंख नादि काहल दुडु दुडिया,
घोड़े चड़इ सल्लारसार राउत सींगड़िया।
तउ देवालउ जोत्रि वेगि धाधरि रवु झमकइ,
सम विसम नवि गणइ कोई नवि वारिउ थक्कइ ।।"

जिनप्रभसूरि (१४ वीं शताब्दी वि० सं०) खरतरगच्छीय जिनसिंहसूरि के शिष्य थे। उन्होंने 'पद्मावतीदेवी चौपई' की रचना की थी। यह कृति अहमदाबाद से प्रकाशित 'भैरव पद्मावती कल्प' में छप चुकी है। यह देवी पद्मावती की भक्ति से सम्बन्धित है। एक पद्य इस प्रकार है—

"श्रीजिन शासणु अवधाकरि, क्षायहु सिरि पउमावइ देवि।
भविय लोय आणंद वरि, दुल्हउ सावयजम्म लहेवि ।।"

---

१. महावीररास और शान्तिनाथ देवरास, श्री अगरचन्द नाहटा के निजी संग्रह में मौजूद हैं।

२. जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह में छप चुका है।

३. प्राचीन जैन गुर्जरकाव्य संग्रह में संकलित है।

चौदहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि रल्हने 'जिणदत्त चौपई' की रचना वि० सं० १३५७ में की थी। इसकी एक हस्तलिखित प्रति जयपुर के पाटौदी के मंदिर में मौजूद है। इसमें पांच-सौ पचपन पद्य हैं। इसमें जिनदत्त से सम्बन्धित भक्ति-परक भाव प्रकट किये गये हैं। काव्यत्व की दृष्टि से भी कृति महत्वपूर्ण है। इसी शताब्दी के कवि घेल्हने 'चउवीसी गीत' की रचना वि० सं० १३७१ में की। यह सरस रचना है। इसमें चौवीस तीर्थङ्करों की स्तुति की गयी है।

इस शताब्दी में आनन्दतिलक ने 'महाणंदिदेउ' नाम की रचना का निर्माण किया। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर-शास्त्र भण्डार जयपुर में मौजूद है। अब तो उसका प्रकाशन नागरी प्रचारिणी पत्रिका में हो चुका है। इसमें ४३ पद्य हैं। यह काव्य आध्यात्मिक भक्ति का निदर्शन है। गुरु महिमा के दो पद्य देखिए,

"गुरु जिणवरु गुरु सिद्ध सिउ, गुरु रयणत्तय सारु।
सो दरिसावइ अप्प परु आणंदा भवजल पावइ पारु ॥३६॥
सिक्ख सुणइ सद्गुरु भणइ परमाणंद सहाउ।
परम जोति तसु उल्हसई आणंदा कीजइ णिम्मलु भाउ ॥२६॥"

जैन परिप्रेक्ष्य में मध्य युगीन हिन्दी काव्य

मध्यकालीन हिन्दी का आरम्भ संत काव्य से होता है। उस पर नाथ और सूफी सम्प्रदायों का प्रभाव माना जाता है, किन्तु इस युग का जैन संत-काव्य अपनी पूर्व परम्परा से अनुप्राणित है। जैन अपभ्रंश में वे सभी मूल वीज प्रस्तुत थे, जो हिन्दी के संत काव्य में परिलक्षित होते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि कवीर और जायसी के साहित्य की प्रवृत्तियाँ जैन अपभ्रंश से मिलती हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि नाथ-सम्प्रदाय में उस समय प्रचलित १२ सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त किये गये थे। उनमें 'नेमि' और 'पारस'-सम्प्रदाय भी थे। नवीन खोजों से सिद्ध है कि नेमि-सम्प्रदाय एक शक्ति सम्पन्न सम्प्रदाय था। यह सौराष्ट्र में तो प्रचलित था ही, दक्षिणी और उत्तरी भारत तक में भी विस्तृत था। यह २१ वें तीर्थङ्कर नेमीश्वर के नाम पर विख्यात हुआ था। नेमीश्वर कृष्ण के छोटे भाई थे।

पारस-सम्प्रदाय ईसा से ८०० वर्ष पूर्व प्रतिष्ठित सम्प्रदाय था। यह २३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से सम्बद्ध था। भगवान् महावीर के माता-पिता इसी सम्प्रदाय के अनुयायी थे। आगम-साहित्य से सिद्ध है कि दीक्षा लेने के उपरान्त

वीतराग महावीर द्वीपालसा नाम के चैत्य में ठहरे थे, जो तीर्थंकर पार्श्वनाथ के नाम पर पार्श्वचैत्य कहलाता था।[1]

इसके अतिरिक्त नाथ–सम्प्रदाय में 'आई–पंथ' भी समाविष्ट हुआ था। इस पंथ के अनुयायियों का एक दल पीर–पारसनाथ की पूजा करता था। ये पीर पारसनाथ 'पार्श्वनाथ' ही हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि नाथ–सम्प्रदाय' का नाम जैन तीर्थकरों के अन्तिम 'नाथ' शब्द के आधार पर ही रखा गया होगा। इससे प्रमाणित है कि जैन अपभ्रंश और नाथ पंथियों का सुदूरवर्त्ती मूल स्रोत एक ही है।

मूल स्रोत को एक मानने पर भी जैन और अजैन संत कवियों में अन्तर है। अधिकांशतया अजैन संत निम्नवर्ग में उत्पन्न हुए थे, किन्तु जैन संतों का जन्म और पालन-पोषण उच्चकुल में हुआ था। अत: जैन संतों के द्वारा जाति-पाँति के खंडन में अधिक स्वाभाविकता थी। उन्होंने जन्मत: उच्च गोत्र पाकर भी, समता का उपदेश दिया। यह उस समय के उच्चकुलीन अहं के प्रति एक प्रवल चुनौती थी। अजैन संत आजीविका के लिए कुछ-न-कुछ अवश्य करते थे; किन्तु जैन संतों में सूरि, उपाध्याय और भट्टारकों की प्रधानता थी। जैन-संत पढ़े-लिखे थे, उन्होंने जैन साहित्य का विधिवत् अध्ययन किया था। निर्गुणवादी संतों की भाँति न तो उनकी बानी अटपटी थी और न भाषा विश्रृंखल। उनका भाव-पक्ष सवल था और बाह्यपक्ष भी पुष्ट।

कवीर निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और जैन संत भगवान् सिद्ध के। कबीर ने ब्रह्म को निर्गुण कहकर उसकी निराकारता और अव्यक्तता सिद्ध की है। वैसे वे भी निर्गुण ब्रह्म में गुणों की प्रतिष्ठा स्वीकार करते हैं। किन्तु उन्होंने ब्रह्म के गुणों का न तो संयुक्तिक विभाजन किया है और न वे एक अनुक्रम में उनकी भावात्मक अभिव्यक्ति ही कर सके हैं। जैन हिन्दी–कवियों ने सिद्ध को निराकार और अव्यक्त मानते हुए भी, उनके पूर्व-निरूपित आठ गुणों का काव्यात्मक भावोन्मेष किया है। वनारसीदास और भैया भगवतीदास ने सिद्ध को ही ब्रह्म कहा है। 'भैया' का कथन है—

> जेई गुण सिद्ध माहि तेई गुण ब्रह्म पांहि।
> सिद्ध ब्रह्म फेर नाहि निश्चय निरधार कै॥

---

1. Dr. Hermann Jacobi, studies in Jainism, Jinvijai Muni Edited, Jaina Sahitya Samsodhaka Karyalaya, Ahmedabad 1946, P. 5, F. 8.

सिद्ध के समान है विराजमान चिदानन्द।
ताही को निहार निज रूप मान लीजिये ।।[1]

कवि बनारसीदास ने लिखा है—

परम पुरुष परमेसर परम ज्योति,
परब्रह्म पूरण परम परधान है ।
सरब दरसि, सरवस सिद्ध स्वामी शिव,
धनी नाथ ईश जगदीश भगवान् है ।।[2]

हिन्दी-कवियों का यह कथन विक्रम की सातवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य योगीन्दु के परमात्म-प्रकाश के आधार पर प्रतिष्ठित है। उन्होंने भी सिद्ध को ब्रह्म संज्ञा से अभिहित किया है। उनकी दृष्टि में शुद्ध आत्मा ही ब्रह्म है, और उसी को ब्रह्म कहते हैं।[3] कबीर ने जिस आत्मा का निरूपण किया है, वह विश्वव्यापी ब्रह्म का एक अंश-भर है। किन्तु जैन कवियों की आत्मा कर्म-मल को धोकर स्वयं ब्रह्म बन जाती है, वह किसी अन्य का अंश नहीं है। इस भाँति कबीर का ब्रह्म एक है, और जैनों के अनेक। किन्तु स्वरूपगत समानता होने से उनको भी एक ही कहा जा सकता है।

कबीर ने जिस ब्रह्म की उपासना की है, उस पर केवल उपनिषदों के ब्रह्म का ही नहीं, अपितु सिद्धों, योगियों, सहजवादियों और इस्लामिक एकेश्वर-वादियों का भी प्रभाव पड़ा है। आचार्य क्षितिमोहन सेन की दृष्टि में कबीरदास ने अपनी आध्यात्मिक क्षुधा के उपशम के लिए ही ऐसा किया।[4] जैनों का ब्रह्म तो आध्यात्मिकता का साक्षात् प्रतीक है। उनका ब्रह्म अपनी पूर्व परम्परा से अनुप्राणित है। उस पर किसी का प्रभाव नहीं है।

कबीर के ब्रह्म पर प्रभाव किसी का भी हो, किन्तु उसमें दार्शनिकों की शुष्कता नहीं है। यदि ऐसा होता तो लाल की लाली देखनेवाली भी लाल कैसे

---

१. भैया भगवतीदास, सिद्धचतुर्दशी, पद्य २, ३, ब्रह्मविलास, जैनग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, द्वितीयावृत्ति, सन् १९२६ ई०, पृ० १४१।

२. कवि बनारसीदास, नाममाला, देखिए 'ईश' के पर्यायवाची नाम।

३. योगीन्दु ने परमात्मप्रकाश में अनेक स्थानों पर शुद्ध आत्मा को 'ब्रह्म' संज्ञा से अभिहित किया है। एतदर्थ १—२६ दोहा देखिए।

४. आचार्य क्षितिमोहन सेन, कबीर का योग, कल्याण, योगांक, पृ० २९९।

हो जाती। कबीर के ब्रह्म में रमणीयता है और सरसता भी। इसमें 'पीउ' का सौंदर्य है, इसलिए कबीर की आत्मा ने स्वयं 'बहुरिया' बनने में चरम आनन्द का अनुभव किया है।[2] वह 'पिउ' जब उसके घर आया, तब उसके घर का आकाश मंगल-गीतों से भर गया और चारों ओर प्रकाश छिटक उठा।[3] जायसी ने ब्रह्म को 'पीउ' के नहीं, अपितु 'प्रियतम' के रूप में देखा। उसमें कबीर के ब्रह्म से मादकता अधिक है और जायसी के प्रियतम में स्वतन्त्रता तथा सौन्दर्य। कबीर के लाल को देखने वाली ही लाल हो गई है, किन्तु जायसी के प्रियतम को देखने वाली स्वयं लाल होती है और उसे समूचा विश्व भी लाल दिखाई देता है। 'नयन जो देखा कंवल भा, निरमल नीर सरीर'[4] में यही बात है। जैन कवि द्यानतराय ने भी ब्रह्म के दर्शन से चारों ओर फैला बसंत देखा है। 'तुम ज्ञान विभव फूली बसंत, यह मन मधुकर सुख सों रमंत'[5] इसी का निदर्शन है। कवि बनारसीदास ने भी, "विषम विरष पूरो भयो हो, आयो सहज बसंत"[6] के द्वारा इसी भाव को स्पष्ट किया है। कबीर में व्यष्टिमूलकता और जायसी में समष्टिगतता अधिक है, किन्तु जैन कवियों में दोनों ही समान रूप से प्रतिष्ठित हैं।

हिन्दी के संत-काव्य का अधिकांश भाग बाह्य आडम्बरों के विरोध में केन्द्रित है। मध्ययुग के जैनों में भी बाह्य कर्म-कलाप इतने अधिक बढ़ गये थे कि उन्हीं को जैन धर्म की संज्ञा दे दी गई, हालाँकि महावीर की क्रांति उनके

---

२. 'हरि मेरा पीउ मैं हरि की बहुरिया'। कबीरदास, सबद, २१ वां पद्य, संतसुधासार, वियोगी हरि–सम्पादित, दिल्ली, पृ० ६६।

३. दुलिहिनी गावहु मंगलचार
हम घर आये हो राजा राम भरतार।
× × ×
मन्दिर मांहि भया उजियारा
ले सूती अपना पीव प्यारा।
—कबीर ग्रन्थावली, चतुर्थ संस्करण, काशी, पृ० ८७।

४. जायसी–ग्रन्थावली, द्वितीय संस्करण, काशी, मानसरोवर खंड, ८वीं चौपाई का दोहा, पृ० २५।

५. द्यानतराय, द्यानतपद–संग्रह, जिनवाणी–प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, ५८ वां पद, पृ० २४।

६. बनारसीदास, अध्यात्म फाग, बनारसी विलास, जयपुर, पृ० १५४।

विरोध में आरम्भ हुई थी। दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी के जैन संतों ने अपभ्रंश भाषा के माध्यम से उन वाह्य आडम्बरों का निर्भीकता के साथ विरोध किया; किन्तु उनमें न तो कबीर जैसी अक्खड़ता थी और न मस्ती। तेजस्विता दोनों में समान थी। हिन्दी के जैन कवियों ने कबीर के साथ-साथ तीर्थ-भ्रमण, चतुर्वर्णी व्यवस्था, सिर मुंडाना, वाह्य शुद्धि, चौका आदि का विरोध किया, किन्तु दोनों में अन्तर भी स्पष्ट था। कबीर, दादू और सुन्दरदास ने इन उपर्युक्त कर्म-कलापों को नितांत हेय और अनुपयुक्त माना। किन्तु, महानन्दिदेव, उदयराज जती, महात्मा आनन्दघन आदि जैन कवियों ने उनको तभी व्यर्थ माना, जब उनमें भाव शुद्ध न हो। यदि भाव शुद्ध हों तो ये सब कर्म न तो हेय हैं और न अनुपयुक्त। हां, चतुर्वर्णी व्यवस्था के प्रति उनका स्वर तीखा था और पैना भी। उनका यह स्वर जीवमात्र की समान आत्मा की स्वीकृति पर निर्भर था।

संतकाव्य में गोविन्द से भी अधिक सतगुरु की महत्ता है। मध्यकालीन संत काव्य-धारा के विशेषज्ञ आचार्य क्षितिमोहन सेन ने हिन्दी के सतगुरु पर जैन सतगुरु का प्रभाव स्वीकार किया है।[1] रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी लिखा है कि मध्य युग के साधु-संतों ने अपनी वाणियों के द्वारा ढाई सहस्त्र वर्ष पूर्व हुए भगवान् महावीर के वचनों को ही दुहराया है।[2] जैन परम्परा पंचपरमेष्ठी को 'पंचगुरु' भी कहती है और वे सम्यक्त्व के विना गुरुपद के अधिकारी नहीं हो सकते, अतः उन्हें सतगुरु कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने अष्टपाहुड में, मुनि देवसेन ने दर्शनसार और सावयधम्म दोहा में, आचार्य जिनदत्त सूरी ने उपदेशरसायन-रास में तथा आचार्य हेमचन्द्र ने योग-शास्त्र में गुरु का विस्तृत वर्णन किया है। इन ग्रन्थों में जैन गुरु केवल ज्ञानी-तपस्वी ही नहीं, अपितु भक्तों के श्रद्धा-भाजन भी हैं। संत-काव्य के सतगुरु की भक्ति पर जैन सतगुरु की भक्ति का प्रभाव है, ऐसा डॉक्टर रामसिंह 'तोमर' ने भी स्वीकार किया है।[3] हिन्दी के जैन और अजैन दोनों ही कवि सतगुरु के चरणों में अपनी भक्ति के पुष्प विखेरते रहे हैं। जहाँ तक श्रद्धा का सम्वन्ध है, दोनों में समान थी, किन्तु गुरु-भक्ति में जैसे सरस गीतों का निर्माण जैन कवियों ने किया, निर्गुणवादी संत न कर सके। उन्होंने गुरु-महिमा की वात तो वहुत की, किन्तु उसकी भक्ति में वैसी भाव-विभोरता न

---

१. आचार्य क्षितिमोहन सेन, Medieaval Mysticism of India, पृ० २।

२. देखिए वही, रविन्द्रनाथ ठाकुर का लिखा हुआ 'Forward'।

३. डा० रामसिंह 'तोमर' : 'जैनसाहित्य की हिन्दी–साहित्य को देन', प्रेमी अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृ० ४६७।

ला सके। कवि कुशललाभ ने अपने गुरु पूज्यवाहन के आगमन पर प्राकृतिक आल्हाद का चित्र खींचा है—

"आव्यो मास असाढ़ झबूके दामिनी रे।
जोवइ प्रीयडा वाट सुकोमल कामिनी रे।।
चातक मधुरइ सादिकि पिऊ-पिऊ उचरइ रे।
वरसह घण वरसात सजल सरवर भरइ रे।।
इण अवसरि श्री पूज्य महामोटा जतीरे।
श्रावकना सुख हेत आया अम्बावती रे।।"[1]

श्री साधुकीर्ति का, गुरु भक्ति से सम्बन्धित एक सरस गीत उपलब्ध है। उसमें एक शिष्य आने वाले गुरु को देखने के लिए वैसे ही बैचेन है, जैसे कोई प्रोषितपतिका अपने पति को देखने के लिए। उसका कथन है—"हे सखि! मेरे लिए तो वही अत्यधिक सुन्दर है, जो यह बतादे कि हमारे गुरु किस मार्ग से होकर पधारेंगे। श्री गुरु सभी को सुहावने लगते हैं। वे जिस पुर में आजाते हैं, शोभा का धाम ही बन जाता है। उनको देखकर हर कोई जयजयकार किये बिना नहीं रहता। जो गुरु की आवाज को भी जानता है, वह मेरा साजन है। गुरु को देखकर ऐसी प्रसन्नता होती है, जैसे चन्द्र को देखकर चकोर को और सूर्य को देखकर कमल को। गुरु के दर्शन से हृदय संतुष्ट और मन प्रसन्न होता है।"[2]

गुरु-विरह की ऐसी व्याकुलता जैन हिन्दी रचनाओं के अतिरिक्त और कहीं देखने को नहीं मिलती। जायसी और कबीर ने ब्रह्म के विरह का वर्णन तो किया है, किन्तु उनकी रचनाओं में कहीं भी गुरु-विरह का उल्लेख भी नहीं है।

गुरु के 'ज्ञानप्रदाता'—रूप की महिमा और शिष्य की अज्ञानता का सम्बन्ध है, उसे जैन और अजैन कवियों ने समान रूप से कहा है, किन्तु इस कथन में भी जैसी सरसता जैन रचनाओं में देखी जाती है, निर्गुण काव्य में

---

१. कुशललाभ, पूज्यवाहणगीत, ऐतिहासासिक जैन काव्य-संग्रह, अगरचन्द नाहटा-सम्पादित, कलकत्ता, पृ० ११६-११७।

२. साधुकीर्ति—श्री जिनचन्दसूरि गीत, ऐतिहासिक जैन काव्य-संग्रह, कलकत्ता, पृ० ६१।

नहीं। एक स्थान पर पांडे रूपचन्दजी ने चेतन को सम्बोधित करते हुए लिखा है—"हे चेतन। मुझे आश्चर्य है कि सतगुरु अपने हितकारी अमृत-वचनों से चित्त देकर तुम्हें पढ़ाता है और तुम भी ज्ञानी हो, फिर भी, न जाने क्यों चेतन तत्व-कहानी तुम्हारी समझ में नहीं आती।"—

चेतन अचरज भारी, यह मेरे जिय आवै।
अमृत वचन हितकारी, सतगुरु तुमहिं पढ़ावै।

सतगुरु तुमहिं पढ़ावै चित दे, और तुमहु हो ज्ञानी।
तबहूँ तुमहिं न क्यों हूँ आवै, चेतन तत्व कहानी।[1]

इसीको कबीर ने इस प्रकार कहा है—

सतगुरु वपुरा क्या करे, जो सिषही माहैं चूक।
भावै त्यूं प्रमोधि ले, ज्यूं वंसि वजाई फूंकि।[2]

इससे स्पष्ट है कि 'तबहूँ तुमहिं न क्यों हूँ आवै, चेतन तत्व कहानी' के प्रश्न वाचकत्व में जो सौंदर्य है, 'वंसि बजाई फूंकि में नहीं है।

यदि आत्मा और परमात्मा के मिलन की भावात्मक अभिव्यक्ति ही रहस्यवाद है, तो वह उपनिषदों से भी पूर्व जैन-परम्परा में उपलब्ध होती है। यजुर्वेद में जैन तीर्थंकर ऋषभदेव और अजितनाथ को गूढ़वादी कहा गया है।[3] महामना रानाडे ने अपनी पुस्तक 'Mysticism in Maharashtra' में ऋषभदेव को गूढ़वादी कहा है।[4] डा० ए० एन० उपाध्ये ने भी 'परमात्मप्रकाशयोगसार' की भूमिका में जैन तीर्थंकरों को गूढ़वादी कहा है।[5] कर्मों के मल से विकृत हुई आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। जीवात्मा चौदह गुण-स्थानों पर चढ़ते-चढ़ते शुद्ध रूप को प्राप्त कर लेती है। आत्मा और परमात्मा के मिलन की यही कहानी है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के अनेकानेक जैन ग्रन्थों की रहस्यवादी

---

१. पाण्डे रूपचन्द, परमार्थ जकड़ी, परमार्थ जकड़ी-संग्रह, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, वम्बई, जनवरी, १९११ ई०, पहला पद्य, पृ० १।
२. कबीरदास, गुरुदेव कौ अंग, २१ वीं साखी, कबीर ग्रन्थावली पृ० ३।
३. यजुर्वेद, २०–२६।
४. R. D. Ranade, 'Mysticism in Maharashtra', पृ० ९।
५. परमात्मप्रकाश—योगसार की भूमिका, डॉ० ए० एन० उपाध्ये लिखित, पृ० ३९।

कहा जाता है। उनमें रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। डॉ० हीरालाल जैन ने आचार्य कुन्दकुन्द के भावपाहुड का मुनि रामसिंह के दोहापाहुड पर स्पष्ट प्रभाव स्वीकार किया है।[१] कबीर की भाँति ही जैन हिन्दी कवियों में भी अनुभूति, प्रेम, विरह, माया, मिलन और तादात्म्य के रूप में रहस्यवाद के विशद दर्शन होते हैं। विरह और माया जन्य सरसता जैन कवियों में अधिक है। कबीर के 'विरह भुजंगम पेसि कर किया कलेजे घाव, साधू अंग न मोड़हीं ज्यों भावे त्यों खाय' से आनन्दघन के 'पिया बिन सुध-बुध खूंदी हो, विरह भुजंग निशासमे, मेरी सेजड़ी खूंदी हो' में अधिक संवेदनात्मक अनुभूति है। इसी भाँति 'जैसे जल बिन मीन तलफै ऐसे हरि बिन मेरा जिया कलपै' से बनारसीदास के, 'मैं विरहिन पिय के अधीन, यों तलफों ज्यों जल बिन मीन' में अधिक सबलता है और दृश्य को उपस्थित करने की शक्ति। जैन हिन्दी-रचनाओं में तन्त्रात्मक रहस्यवाद के उतने शब्द और प्रयोग नहीं पाये जाते, जितने जैन अपभ्रंश में उपलब्ध होते हैं। जैन हिन्दी कृतियों में भावात्मक अभिव्यक्ति अधिक है। जहाँ कहीं तन्त्रात्मक रहस्यवाद के दर्शन होते हैं, उसमें वज्रयानी सम्प्रदाय के गुह्य समाज की विकृति नहीं आ पाई है।

कुछ विद्वानों ने लिखा है कि जैनों के भगवान् प्रेमास्पद नहीं होते, अत उनकी रचनाओं में अनुरागात्मक भक्ति का अभाव है। किन्तु, विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य पूज्यपाद ने 'अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः' कहा है।[२] वीतराग भगवान् में अनुराग असम्भव नहीं है। आचार्य योगीन्दु का कथन है कि 'पर' में किया गया राग पाप का कारण है। वीतराग परमात्मा 'पर' नहीं, अपितु 'स्व' आत्मा ही है। अतः जिनेन्द्र में किया गया राग 'स्व' का राग कहलायेगा।[३] इसी कारण जिनेन्द्र का अनुराग मोक्ष देता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भावपाहुड, आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र और शिवार्यकोटि ने भगवती आराधना में इसका समर्थन किया है। इससे सिद्ध है कि जैन हिन्दी कवियों को भगवान् के प्रति प्रेम-भाव विरासत के रूप में मिला है। हिन्दी के ख्यातिलब्ध कवि बनारसीदास ने 'आध्यात्मगीत' में आत्मा को नायक और सुमति को पत्नी बनाया है। उन्होंने एक स्थान पर

---

१. पाहुडदोहा की भूमिका, डॉ० हीरालाल जैन लिखित, पृ० १६।

२. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, काशी, ६–२४, पृ० ३३६।

३. योगीन्दुदेव (छठी शताब्दी ईसवी), परमात्मप्रकाश, बम्बई, १६३७ ई०, २६ वाँ दोहा, पृ० ३३ तथा १७४ वाँ दोहा, पृ० ३१७।

लिखा है–"पत्नी करतूति है और पिय कर्त्ता, पत्नी सुख-सींव है और पिय सुख-सागर, पत्नी सुख-सींव है और पिय सुख-सागर, पत्नी शिव-नींव है और पिय शिव-मन्दिर, पत्नी सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, पत्नी कमला है और पिय माधव, पत्नी भवानी है और पति शंकर, पत्नी जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र।"[1] बहुत दिन उपरान्त पति घर आ रहा है, तो सुमति ललक कर कहती है–"हे सखि! देखो, आज चेतन घर आ रहा है। वह अनादिकाल तक दूसरों के वश में होकर घूमता फिरा, अब उसने हमारी सुध ली है।"[2] पति को देखते ही पत्नी के अन्दर से परायेपन का भाव दूर हो जाता है। द्वैध हट जाता है और अद्वैत उत्पन्न होता है। सुमति चेतन से कहती है–"हे प्यारे चेतन! तेरी ओर देखते ही परायेपन की गगरी फूट गई, दुविधा का अंचल हट गया और समूची लज्जा पलायन कर गई।"[3] इसी प्रेम के अन्तर्गत आध्यामिक विवाह और आध्यात्मिक होलियाँ भी आती हैं। ये रचनाएँ जैन कवियों की मौलिक देन हैं। हिन्दी के किसी भी क्षेत्र में इस प्रकार की रचनाओं का उल्लेख नहीं है। आचार्य जिनप्रभ सूरि का अंतरंग-विवाह, अजयराज पाटणी का शिवरमणी-विवाह, कुमुदचन्द का ऋषभ-विवाहला, श्रावक ऋषभदास का आदीश्वर-विवाहला, विनयचन्द्र और साधुकीर्त्ति की 'चूनड़ी' ऐसी ही कृतियाँ हैं। कवि बनारसीदास, द्यानतराय और भूधरदास के आध्यात्मिक फाग अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। जैन

---

१. पिय मो करता मैं करतूति
पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति।
पिय सुखसागर मैं सुख सींव
पिय शिवमंदिर मैं शिवनींव॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम
पिय माधव मो कमला नाम।
पिय शंकर मैं देवि भवानि
पिय जिनवर मैं केवलवानि॥
—बनारसी विलास, जयपुर, १९५४ ई०, अध्यात्मगीत, पृ० १६१।

२. देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवे,
काल अनादि फिर्यो परवश ही अब निज सुधहि चितावै॥१॥
—देखिए वही, परमार्थपद-पंक्ति, १४ वां पद, पृ० ११४।

३. बालम तुहुं तन चितवन गागरि गै फूटि।
अंचरा गौ फहराय सरम गै छूटि॥ बालम०॥१॥
—देखिए वही, अध्यात्मपद पंक्ति, पृ० २२८–२२९।

कवियों ने नेमिनाथ और राजुल के सम्बन्ध में अनूठे पद्यों की रचना की है, नेमीश्वर मूक पशुओं के करुण क्रन्दन को सुनकर तोरण-द्वार से वापस लौट गये। उस समय की राजीमती की वेचैनी का सफल चित्र हेमविजय ने खींचा है—

कहि राजीमती सुमती सखियानकूं, एक खिनेक खरी रहुरे।
सखिरी सगिरी अंगुरी मुही वाहि करति वहुत इसे निहुरे।।
अवही तबही कबही जवही, यदुराय कूं जाय इसी कहुरे।
मुनि'हेम'के साहिब नेमि जी हो, अब तोरन तें तुम्ह क्यूं बहुरे।।[१]

राजशेखरसूरि का नेमिनाथफागु, हर्षकीर्त्ति का नेमिनाथ राजुलगीत, विनोदीलाल का नेमिराजुल वारहमासा, नेमिव्याह, राजुलपच्चीसी, नेमजी रेखता और लक्ष्मीवल्लभ का नेमिराजुल वारहमासा प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। बारहमासा विरह के सच्चे निदर्शन हैं। उनमें हिन्दी के बारहमासों की भाँति न तो परम्परानुसरण की जड़ता है, न अतिरंजना की कृत्रिमता और न उबा देनेवाली भाव-भंगिमा। विरहिणी के पवित्र भावों की व्याकुलतापरक अभिव्यक्ति ही जैन बारहमासों की प्रमुख विशेषता है।

अरहंत के रूप में जैन कवियों ने सगुण ब्रह्म की उपासना की है। अरहंत समवशरण में विराजकर, अपनी दिव्यध्वनि से विश्व के लोगों का उपकार करते हैं, अतः जैन आचार्यों ने अपने प्रसिद्ध 'णमोकारमंत्र' में अरहंत को सिद्ध से भी पहले स्थान दिया है।[२] अरहंत की भक्ति में सहस्रों स्तुति-स्तोत्रों की रचना हुई है। भद्रबाहुस्वामी का रचा हुआ 'उवसग्गहर स्तोत्त' अहमदावाद से प्रकाशित हुआ है। भद्रबाहुस्वामी का समय वी० नि० सं० १७७ माना जाता है। अभी तक हिन्दी के विद्वानों की धारणा थी कि अपभ्रंश में स्तुति-स्तोत्रों का निर्माण नहीं हुआ और इसी आधार पर उन्होंने हिन्दी के सगुण साहित्य को अपभ्रंश से यत्किंचित् भी प्रभावित नहीं माना है। अब जैन भण्डारों की खोज के फलस्वरूप अपभ्रंश के अनेक स्तोत्र-स्तवनों का पता चला है। इससे हिन्दी भक्ति-काव्य की पूर्व परम्परा के अनुसन्धित्सुओं को सोचने के लिए नई सामग्री उपलब्ध हुई है।

---

१. मिश्रबन्धु-विनोद, प्रथम भाग, लखनऊ, पृ० ३६८।

२. भगवत् पुष्पदंत भूतवलि, षटखंडागम, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, अमरावती, वि० सं० १९९६, पृ० ५३-५४।

यह सिद्ध है कि हिन्दी का जैन मुक्तक-काव्य, अपभ्रंश के भक्तिपरक साहित्य से प्रभावित है।

अभी तक भगवद्विषयक वात्सल्य रस के निरूपण में, हिन्दी के सूरदास एकमात्र कवि थे। अब जैन हिन्दी साहित्य के आलोडन से प्रमाणित हुआ है कि वात्सल्य रस से सम्बन्धित जैन हिन्दी-कवियों की रचनाएँ भी अनूठी हैं। यद्यपि यह सच है कि जैन कवि बाल-तीर्थङ्कर की विविध मनोदशाओं का वैसा निरूपण नहीं कर सके हैं, जैसा सूर ने बालकृष्ण का किया है। किन्तु, इसके साथ यह भी सत्य है कि बालक के गर्भ और जन्म-सम्बन्धी दृश्यों को जैन कवियों ने जैसा चित्रित किया है, सूरदास छू भी नहीं सके हैं। मैं भूधरदास को इन चित्रों का सबसे बड़ा कलाकार मानता हूँ। उपमा, उत्प्रेक्षा और निरंग रूपकों की छटा से उनके चित्रों में सजीवता आ गई है। इन्द्र की आज्ञा से धनपति ने महाराज अश्वसेन के घर में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा की। आकाश से गिरती मणियों की चमक ऐसी मालूम होती थी, जैसे स्वर्गलोक की लक्ष्मी ही तीर्थङ्कर की मां की सेवा करने चली आई हो।[1] दुन्दुभियों से गम्भीर ध्वनि निकल रही थी, मानों महासागर ही गरज रहा हो।[2] सद्यः प्रसूत बालक को लिये मां ऐसी प्रतीत होती थी, मानों बालक भानु-सहित संध्या ही हो।[3] तीर्थङ्कर की मां की सेवा करती हुई रुचिकवासिनी देवियों का व्यस्त जीवन, जन्मोत्सव मनाने के लिए इन्द्र-दम्पति का प्रयाण, पांडुकशिला पर स्नान, फिर तीर्थङ्कर के मां-बाप के घर में नाटकादि के आयोजन का दृश्य, भूधरदास के पार्श्वपुराण में ऐसा अंकित किया गया है कि पाठक भाव-विभोर हुए बिना नहीं रह पाता। पांडे रूपचंदजी ने भी इन्हीं बातों का वर्णन गर्भ और जन्म-कल्याणकों में किया है। किन्तु, कल्पनागत सौन्दर्य भूधरदास में अधिक है। कवि द्यानतराय, बनारसीदास, कुशललाभ और मेरुनन्दन उपाध्याय ने भी वात्सल्य रस का यत्र-तत्र वर्णन किया है।

---

१. नभसों आवै झलकती, मनिधारा इहि भाय।
सुरगलोक लछमी किधौं, सेवन उतरी माय॥
—पार्श्वपुराण, कलकत्ता, ५–५८, पृ० ४४।

२. प्रतिदिन देव दुंदभी बजैं,
किधौं महासागर यह गजैं।
—देखिए पार्श्वपुराण, कलकत्ता, पृ० ४४।

३. सुतराग रंगी सुखसेज मांझ,
ज्यों बालक भानु समेत सांझ।
—देखिए वही, पृ० ५०।

सूरदास के काव्यों का मूल आधार श्रीमद्भागवत के होने से उनके वर्णन में मधुरतापरक रूप की ही प्रधानता है। उनके समूचे साहित्य में दो-एक स्थलों को छोड़कर कहीं भी बालक के उदात्ततापरक रूप के दर्शन नहीं होते। सत्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध जैन कवि ब्रह्म रायमल्ल ने 'हनुवंतचरित्र' का निर्माण किया था. उसमें बालक हनुमान् का ओजस्वी वर्णन है। इसके अतिरिक्त सूरदास का जितना ध्यान बालक कृष्ण पर जमा, बालिका राधिका पर नहीं। बालिकाओं का मनोवैज्ञानिक वर्णन सीता और अंजना के रूप में जैन भक्ति काव्यों में उपलब्ध होता है। रायचन्द के 'सीता-चरित्र' में बालिका सीता की विविध चेष्टाओं का सरस चित्र खींचा गया है। 'अंजनासुन्दरीरास' में अंजना का बालवर्णन भी हृदयग्राही है।

गोस्वामी तुलसीदास की रचनाओं में 'रामचरितमानस' और 'विनय-पत्रिका' अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि पं० राहुल सांकृत्यायन ने जैन कवि स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' का 'रामचरितमानस' पर प्रभाव स्वीकार किया है, तथापि अभी तक दोनों का पूर्ण रूप से तुलनात्मक विवेचन किसी ने नहीं उपस्थित किया है। यह सच है कि 'रामचरितमानस' की लोकप्रियता को 'पउमचरिउ' नहीं पा सका है। इसका बहुत बड़ा कारण 'पउमचरिउ' का जैन शास्त्रों पर आधृत होना ही है। वैसे प्रबन्ध-सौष्ठव और काव्यत्व की दृष्टि से 'पउमचरिउ' एक उत्तम काव्य है। इसमें उस भावुकता की भी कमी नहीं है, जो कल्पना के बल पर कथानक की प्रमुख घटनाओं को अनुभूत कराने में सहायक होती है। इसके अतिरिक्त रायचन्द का सीताचरित्र, लब्धोदय का पद्मिनीचरित्र और भूधरदास का पार्श्व-पुराण प्रबंध काव्य होते हुए भी रामचरितमानस की समता नहीं कर सकते। उनमें उस तन्मयता का अभाव है,जिसने मानस के रचयिता को अमर बना दिया है। फिर भी भाव, शैली, भाषा, अलंकार,छंद और रस-विवेचन की दृष्टि से जैन महाकाव्यों का अध्ययन करने पर, हिन्दी के भक्ति-काव्य में अनेक नये अध्याय जोड़ने होंगे। छोटे-छोटे भव-वर्णनों के समावेश से जैन महाकाव्यों का कथानक एक क्षण के लिए भी जड़ता को प्राप्त नहीं कर पाता। उसमें निरन्तर एक ऐसी गतिशीलता और नवीनता रहती है, जो रस-सिक्तता का मूल कारण है। इन पूर्व भव-वर्णनों को 'अवांतरकथाओं' की संज्ञा दी जा सकती है। पंडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार अवांतर कथाएँ 'महाकाव्य' में रस की पिचकारियों का काम करती हैं। इन कथाओं में जितनी ही मूल कथाओं के साथ तादात्म्य होने की शक्ति होगी, उतनी ही उनमें रस उत्पन्न करने की ताकत आयेगी। जैन महा-काव्यों के रचयिता पूर्व भव-वर्णन-रूप अवांतर कथा को मूल कथा के साथ

एकमेक करने में अद्वितीय थे। उनमें तुलसी-जैसी भावुकता और तन्मयता भले ही न हो, किन्तु उनकी रचनाएँ महाकाव्य की कसौटी पर खरी ही उतरती हैं।

विनयपत्रिका मुक्तक-पदों में लिखी गई है। तुलसीदास राग-रागनियों के विशेष जानकार कहे जाते हैं। किन्तु,अभी जयपुर आदि के जैन शास्त्र-भण्डारों की खोज से पता चला है कि जैन कवियों का रचा हुआ पद-साहित्य भी विपुल है। मध्यकालीन भारत में जयपुर, ग्वालियर और आगरा संगीत के केन्द्र थे। अधिकांशतया जैन कवि इन्हीं स्थानों पर उत्पन्न हुए अथवा यहाँ उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन व्यतीत किया। उनके पदों में अनेक राग-रागनियों का समावेश हुआ है। उनके पद भाव, भाषा और संगीतात्मकता के कारण गमलों में सजे गुलदस्तों की भाँति प्रतीत होते हैं। विनयपत्रिका के पदों में वह सौंदर्य नहीं है।

जैन पद-साहित्य की सब-से-बड़ी विशेषता यह है कि उसमें निर्गुण और सगुण दोनों ही प्रकार के भक्ति-भावों का समन्वय किया गया है। सिद्ध और अरहंत को क्रमशः निर्गुण और सगुण कहा जा सकता है। इन्हीं को आचार्य योगीन्दु ने 'निष्कल' और 'सकल' संज्ञा से अभिहित किया है।[1] आत्मा और जिनेन्द्र के रूप को एक मानने के कारण ही यह समन्वय संभव हुआ है। यद्यपि विनयपत्रिका के अधिकांश पदों की शैली निर्गुण-काव्य-जैसी प्रतीत होती है, तथापि उनका मूल स्वर सगुण-भक्ति से ही संबद्ध है। ऐसा मालूम होता है, जैसे तुलसी निर्गुण ब्रह्म की ओर ललककर देखने का चाव बारम्बार रखते हैं, किन्तु किसी अनिवार्य विवशता के कारण वे पकड़ते हैं सगुण ब्रह्म को ही। दोनों के मध्य में वे सफलतापूर्वक मध्यस्थता नहीं कर सके हैं। इस अन्तर के होते हुए भी जैन और तुलसी दोनों के ही पदों में विनयवाली बात समान है। तुलसी की भाँति ही जैन कवियों ने भी अपने आराध्य देव से भव-भव में भक्ति की याचना की है। १५ वीं शताब्दी के उपाध्याय जयसागर ने 'चतुर्विंशति जिनस्तुति' में लिखा है—

करि पसाउ मुझ तिम किमई, महावीर जिणराय।
इण भवि अहवा अन्न भवि, जिम सेवउं तु पाय ॥

१, परमात्मप्रकाश, १-२५, पृ० ३२।

१६ वीं शताब्दी के कवि जयलाल ने तीर्थङ्कर विमलनाथ से प्रार्थना की है—

तुम दरसन मन हरषा, चंदा जेम चकोरा जी।
राजरिधि मांगउ नहीं, भवि भवि दरसन तोरा जी ।।

भूधरदास ने जैसी दीनता दिखाकर भक्ति का वर माँगा है, अन्य कोई नहीं माँग सका—

भर नयन निरखे नाथ तुमको और वांछा ना रही।
मन ठठ मनोरथ भये पूरन रंक मानो निधि लही।।
अब होउ भव भव भक्ति तुम्हरी, कृपा ऐसी कीजिये।
कर जोरि भूधरदास विनवै यही वर मोहि दीजिये।।

जन भक्त-कवियों का यह भी विश्वास है कि भक्ति से मुक्ति मिलती है। कवि बनारसीदास ने लिखा है कि जिनेन्द्र देवों के देव हैं, उनके चरणों का स्पर्श करने से मुक्ति स्वयमेव मिल जाती है। कवि द्यानतराय और भूधरदास का भी ऐसा ही कथन है। जैन कवियों ने ज्ञान को भी भगवत्कृपा से ही उपलब्ध होना स्वीकार किया है। इससे जैनों के मूल सिद्धांत में कोई बाधा नहीं आती; क्योंकि जैन-भक्ति भगवान् में सीधा कर्त्तृत्व स्वीकार नहीं करती, अपितु प्रेरणा-जन्य कर्त्तृत्व मानती है। भगवान् के सान्निध्य मात्र से ही शुद्ध भावों का उदय होता है और उससे चक्रवर्त्ती की विभूति तथा तीर्थङ्करत्व नाम-कर्म तक का बंध होता है। जहाँ तुलसीदास ने केवल भगवत्कृपा से ज्ञान और मोक्ष को स्वीकार किया है, वहाँ जैन कवियों ने भगवत्कृपा के साथ-साथ स्व-प्रयास को भी यथोचित रूप में मान लिया है।

मध्यकाल के सभी कवियों ने अपने-अपने आराध्य को अन्य देवों से बड़ा माना है। उनका ऐसा मानना राजसिकता का नहीं, अपितु अनन्यता का द्योतक है। अपने आराध्य में ध्यान के केन्द्रित होने से ही उन्हें अन्य देव फीके जंचते हैं। जैन कवियों ने भी जिनेन्द्र को सर्वोत्तम कहा है; किन्तु अन्य देवों के प्रति वे कटु नहीं हो सके हैं। सूरदास ने 'हय गयंद उतरि कहा गर्दभ चढ़ि धाऊँ' कहकर अन्य देवों को 'गधा' तक बना दिया है। भूधरदास ने केवल इतना कहा-'कैसे करि केतकी कनेर एक कही जाय, आक दूध गाय दूध अन्तर घनेर है।' इसी भाँति भगवान् को उपालम्भ देने में भी जैन कवियों ने उदारता का परिचय दिया है। सूरदास

की फटकार यद्यपि मधुरता से ओत-प्रोत है, किन्तु कहीं-कहीं उन्होंने भक्ति की मर्यादा का अतिक्रमण किया है। एक उदाहरण देखिए—

पतित पावन हरि, विरद तुम्हारो, कौनें नाम धर्‌यौ।
हौं तो दीन, दुखित, अति दुरबल, द्वारें रटत पर्‌यौ।।

किन्तु, द्यानतराय के उपालम्भ में कैसी शालीनता है—

तुम प्रभु कहियत दीनदयाल।
आपन जाय मुकति में बैठे, हम जु रुलत जग जाल।।
तुमरो नाम जपैं हम नीके, मन वच तीनों काल।
तुम तो हमको कछू देत नहिं, हमरो कौन हवाल।।

तुलसी और जैन कवि दोनों ने ही भगवान् के लोकरंजनकारी रूप की महत्ता स्वीकार की है। रूप लोकरंजनकारी तभी हो सकता है, जब सौंदर्य के साथ-साथ शक्ति और शील का भी समन्वय हो। जिनेन्द्र में राम के समान ही सौन्दर्य और शील की स्थापना हुई है, किन्तु शक्ति-सम्पन्नता में अन्तर है। राम का शक्ति-सौन्दर्य असुर तथा राक्षसों के संहार में परिलक्षित हुआ है, किन्तु जिनेन्द्र का अष्टकर्मों के विदलन में। दुष्टों को दोनों ने जीता है, एक ने बाहुबल से और दूसरे ने अध्यात्मशक्ति से। एक ने असत् के प्रतीक मानव को समाप्त किया है और दूसरे ने उसे सत् में बदला है।

जैन कवियों के मध्यकालीन काव्य में शांत-भाव प्रधान है। जैन आचार्यों ने नौ रसों में शृंगार के स्थान पर 'शांत' को रसराज कहा है। उनका कथन है कि अनिर्वचनीय आनन्द की सच्ची अनुभूति राग-द्वेष नामक मनोविकार के उपशम हो जाने पर ही होती है। राग-द्वेष से सम्बद्ध अन्य आठ रसों के स्थायी भावों से उत्पन्न आनन्द में वह गहरापन नहीं होता, जो 'शांत' में पाया जाता है। स्थायी आनन्द की दृष्टि से शांत ही एकमात्र रस है। कवि बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' में 'नवमों सान्त रसनि कौ नायक' माना है। उन्होंने तो आठ रसों का अन्तर्भाव भी शांत रस में किया है। डॉक्टर भगवानदास ने भी अपने 'रस-मीमांसा' नाम के निबंध में, अनेकानेक संस्कृत उदाहरणों के साथ शांत को 'रसराज' सिद्ध किया है। भक्ति के क्षेत्र में तो अजैन आचार्यों ने भी शांत को ही प्रधानता दी है। उन्होंने अपनी भक्ति-परक रचनाओं में प्रेम और सौन्दर्य का भी प्रयोग किया है, किन्तु प्रधानता शांत को ही दी है। कवि बनारसीदास ने शांत

रस के स्वाद को कामधेनु, चित्रावेलि और पंचामृत के समान आनन्ददायक माना है।[1] भैया भगवतीदास, भूधरदास, द्यानतराय, विनयविजय आदि की शांत भाव को द्योतित करने वाली मनमोहक रचनाएँ उपलब्ध हैं।

भाषा की दृष्टि से मध्ययुग के जैन हिन्दी-कवियों की रचनाएँ दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—पहला भाग वि० सं० १४००-१६०० और दूसरा १६००-१८००। पहला भाग 'अपभ्रंश' के निकट है और उसमें हिन्दी का क्रमशः विकास सन्निहित है। उस पर गुजराती और राजस्थानी का प्रभाव भी स्पष्ट है। दूसरे भाग में हिन्दी का पूर्ण विकास देखा जाता है। इस युग के जैन हिन्दी-कवियों की विशेषता यह है कि वे संस्कृत और फारसी दोनों के जानकार थे। उस समय फारसी राज-भाषा थी। व्यापार तथा काम-काज की दृष्टि से उसका जानना आवश्यक था। इसके साथ जैन शास्त्रों का अध्ययन करने के लिए संस्कृत का ज्ञान भी अनिवार्य था। जैन हिन्दी-कवियों ने अपनी रचनाओं में उर्दू-फारसी के केवल शब्दों का ही नहीं, अपितु वाक्यों का भी सफल प्रयोग किया है। भैया भगवतीदास फारसी के विशिष्ट जानकार थे। उनके कवित्तों में यदि एक ओर संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है, तो दूसरी ओर फारसी के शब्दों के प्रयोग से अनेक कवित्तों का 'टोन' ही फारसीमय हो गया है। 'मान यार मेरा कहा दिल की चशम खोल, साहिब नजदीक है तिसको पहिचानिये', जैसे अनेक कवित्त उपर्युक्त कथन के दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। डॉ० हीरालाल जैन ने बनारसीदास की भाषा पर उर्दू-फारसी का प्रभाव स्वीकार किया है।[2]

जैन कवि विविध छंदों के प्रयोग में भी निपुण थे। उन्होंने अनेक नये छंदों का प्रयोग किया है। उनमें वस्तु, आभानक, रोडक, करिखा, बेसरी, पद्मावती, नरेन्द्र और व्योमवती प्रमुख हैं। कवि बनारसीदास ने 'पद्मावती' में बलाघात के द्वारा लयात्मकता उत्पन्न की है और भूधरदास ने नरेन्द्र तथा व्योमवती का संगीत

---

१. अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि।
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है॥
—बनारसीदास, नाटक समयसार, बम्बई, उत्थानिका, १९ वां पद्य, पृ० १७-१८।

२. अर्धकथानक, संशोधित संस्करण, बम्बई, १९५७ ई०, भूमिका, अर्धकथानक की भाषा, डॉ० हीरालाल-लिखित, पृ० १९।

की लय के साथ, प्रयोग किया है। जैन कवि मानों पदों के राजा थे। उनके पदों में यदि एक ओर भावुकता है, भक्ति है, कवित्व है, तो दूसरी ओर संगीतात्मकता भी है।

अलंकारों के क्षेत्र में जैन कवियों को 'चित्र-बंध' से विशेष प्रेम था। उन्होंने इतने कठिन अलंकारों का प्रयोग आसान और स्वाभाविक ढंग से ही किया है। उन्हें यह परम्परा संस्कृत काव्यों से मिली थी। इसके अतिरिक्त वे यमक, रूपक, उत्प्रेक्षा और विरोधाभास के प्रयोग में तो असाधारण रूप से सफल हुए हैं। उनके अलंकारों में स्वाभाविकता, कुशलता और कवि-प्रतिभा तीनों का ही समन्वय है।

जैन कवियों की मुक्तक और प्रबंध–दोनों प्रकार की रचनाओं में प्राकृतिक दृश्यों का सरस चित्रण देखने को मिलता है। जैन कवि, जो मुनि या साधु थे, प्रकृति के सन्निधान में ही रहते थे, अतः उन्हें प्रकृति-गत सूक्ष्म जानकारी भी थी और प्रकृति से प्रेम भी था। उनके प्रकृति-वर्णन में जो सौंदर्य आ सका है, इस युग की अन्य रचनाओं में नहीं देखा जाता।

कवि बनारसीदास की भक्ति–साधना

वनारसीदास सत्तरहवीं शताव्दी के एक सामर्थ्यवान कवि थे। उन्हें कवि-प्रतिभा जन्म से ही प्राप्त हुई थी। उन्होंने १५ वर्ष की आयु में 'नवरस रचना' नाम के ग्रन्थ का प्रणयन किया था। आज वह रचना उपलब्ध नहीं है। वनारसीदास ने उसे स्वयं गोमती के खर प्रवाह में वहा दिया था। जव उन्होंने ऐसा किया, मित्रगण हा-हा करते रह गये।[1] उसमें 'विसेस आसिखी का वरनन' था।[2] और अव बनारसीदास ने भानुचन्द्र नाम के साधु से शिक्षा लेना आरम्भ किया था, जिसके परिणामस्वरूप उनका रूप वदल चुका था। वे उस 'नवरस रचना' को अपने ऊपर एक कलंक मान रहे थे, फिर तो जल-मग्नता के रूप में उसकी परिणति होनी ही थी। इस कृति में एक हजार दोहा–चौपाई थे। कोई मामूली रचना न थी। इससे सिद्ध है कि प्रणेता भले ही किशोर वालक हो, किन्तु वह महान् कवित्व शक्ति का धनी था।

---

१. अर्धकथानक, नाथूराम प्रेमी सम्पादित, संशोधित संस्करण, पद्य २६७-६८, पृष्ठ ३०–३१।

२. 'तामैं नवरस-रचना लिखी। पै विसेस वरनन आसिखी' वही, पद्य १७६ वाँ।

उनका दूसरा ग्रन्थ 'वनारसी विलास' है।[1] इसमें बनारसीदास की ५० रचनाओं का संकलन है। सभी मुक्तक हैं। उनमें 'कर्मप्रकृतिविधान' नाम की अन्तिम कृति भी है, जो फागुन सुदी ७, वि० सं० १७०० को समाप्त हुई थी। 'सूक्त मुक्तावली' संस्कृत के सिन्दूर प्रकरण का पद्यानुवाद है। इसमें कुछ पद्य वनारसीदास के मित्र कुअँरपाल के रचे हुए हैं। 'ज्ञान वावनी' पीताम्वर नाम के किसी कवि की रचना है। उसमें वनारसी का गुण-कीर्त्तन किया गया है। अवशिष्ट पूर्ण रूप से वनारसीदास की रचनाएँ हैं। इस ग्रंथ का संकलन आगरे के दीवान जगजीवन ने वि० सं० १७०१ में किया था। समस्त भारतवर्ष के जैन सरस्वती भण्डारों में 'वनारसी विलास' की हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध होती हैं। ऐसा लोकप्रिय था यह ग्रन्थ। आज भी उसकी ख्याति अक्षुण्ण है।

'नाटक समयसार' वनारसीदास की एक समर्थ रचना है।[2] यद्यपि यह आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार (प्राकृत) और उस पर रचे गये अमृतचन्द्राचार्य के संस्कृत कलशों को आधार बनाकर लिखा गया है, किन्तु उसकी मौलिकता भी सन्देह से परे है। मैं इस विषय पर अपने निवन्ध[3] 'नाटक समयसार' में पर्याप्त रूप से लिख चुका हूँ। इसका अन्तः अनुपम था तो वाह्य भी कम सुन्दर न था। दोनों गुलाव की सुगन्धि और पंखुड़ियों से एक-दूसरे के पूरक हैं। वनारसीदास की लेखनी में शक्ति थी। 'नाटक समयसार' उसका सच्चा निदर्शन है। उन्होंने 'नाममाला', 'मोह-विवेक-युद्ध', 'माझा' आदि अन्य कृतियों का भी निर्माण किया। इधर उनके रचे कुछ नये पद्य भी भंडारों में उपलब्ध हो रहे हैं। 'मोह-विवेक-युद्ध' वनारसीदास की रचना है या नहीं, एक विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। अभी तक वह वनारसीदास की कृति ही मानी जाती है। मेरी दृष्टि में वह वनारसीदास की कृति नहीं है। पृथक निवन्ध का विषय है, फिर लिखूंगा।

उस समय आगरे में एक अध्यात्मियों की सैली (गोष्ठी) थी, जिसमें सदैव अध्यात्म-चर्चा हुआ करती थी। वनारसीदास उसके सदस्य वने। उनके ५ साथी

---

१. हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, वम्वई और नानूलाल स्मारक ग्रंथमाला, जयपुर से प्रकाशित हो चुका है।

२. पं० नाथूराम प्रेमी के सम्पादन के साथ वम्वई से और स्व० पं० जयचन्द्रजी की भाषा-टीका के साथ, सस्ती ग्रन्थमाला, देहली से प्रकाशित हुआ है।

३. सम्मेलन पत्रिका, वर्ष ४६, भाग ३–४, पृष्ठ ५८–७१।

थे—पं० रूपचन्द, चतुर्भुज, भगवतीदास, कुँअरपाल, और धर्मदास।[1] आचार्य कुन्दकुन्द के 'समयसार' की राजमल जी कृत बाल-बोध टीका पढ़कर उन्हें अध्यात्म-चर्चा में रुचि उत्पन्न हुई थी, वह वि० सं० १६९२ में पाण्डे रूपचन्द जी से गोम्मटसार पढ़ने के उपरान्त परिष्कृत हुई। परिणाम-स्वरूप वे अध्यात्म मत के पक्के समर्थक बन सके। किन्तु इन्होंने 'आत्मा' पर केवल चिन्तन और मनन नहीं किया, अपितु उसे अपनी अनुभूति का विषय बनाया। उनकी दृष्टि में आत्मा अनुभव थी और उसका रस पंचामृत-जैसा स्वादिष्ट। वे मूलतः साहित्यिक थे। उन्होंने 'अध्यात्मवाद' को भावोन्मेष के सांचे में ढाला। अतः वे ज्ञान-क्षेत्र के आध्यात्मवादियों से पृथक् रहे। उन्हें आत्मा का रस प्राप्त करने के लिए अपना मन किसी ब्रह्मरन्ध्र पर केन्द्रित नहीं करना पड़ा। वे न योगी थे, न तपी और न ध्यानी। उनमें अनुभूति प्रमुख थी। उसकी अन्तश्चेतना ने अध्यात्म और भक्ति को सन्निकट ला दिया था। यदि यह कहें कि बनारसीदास आध्यात्मिक भक्ति के प्रणेता थे, तो अनुपयुक्त न होगा।

आध्यात्मिक भक्ति का अर्थ है, आत्मा को आधार मानकर की गई भक्ति। जैनदर्शन में आत्मा ज्ञान को कहते हैं। इसका तात्पर्य निकला कि बनारसीदास ज्ञानमूला भक्ति मानते थे। ज्ञान-भक्ति का जैसा समन्वय जैन काव्यों में निभ सका, अन्य किसी में नहीं। इसका कारण है कि निराकार, अदृश्य और अरूपी आत्मा तथा साकार और रूपी तीर्थंकर या केवलज्ञानी मुनि में, जैन आचार्य कोई तात्त्विक भेद नहीं मानते। यहाँ जो ब्रह्म ज्ञान-क्षेत्र का विषय है, वह ही भाव-क्षेत्र का भी। दोनों के रूपों में कोई अन्तर नहीं है। दूसरी बात है कि जैन दार्शनिक 'सुश्रद्धा' के समर्थक रहे हैं। 'सुश्रद्धा' उसी को कहते हैं, जो परीक्षापूर्वक की जाती है। आचार्य समन्तभद्र ने जिनेन्द्रदेव की भली भाँति परीक्षा की थी, तब उन्होंने जिस श्रद्धा के फूल चढ़ाये, वह सुश्रद्धा ही थी। यहाँ सिद्ध है

---

१. रूपचन्द पण्डित प्रथम, दुतिय चतुर्भुज नाम।
तृतीय भगौतीदास नर, कौंरपाल गुन धाम।।
धर्मदास ये पंच जन, मिलि बैठें इक ठौर।
परमारथ चरचा करें, इनके कथा न और।।
—नाटक समयसार, बम्बई, अन्तिम प्रशस्ति, दोहा २६-२७।

२. अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है।
—वही, पृ० १७।

कि 'सु' शब्द ज्ञान का द्योतक है। और श्रद्धा का घनारूप ही भक्ति कहलाता है। अत: 'सुश्रद्धा' में यदि एक ओर ज्ञान समाता है तो दूसरी ओर भक्ति। ज्ञान और भक्ति का समन्वित रूप ही हिन्दी भक्ति-काव्य की अन्तश्चेतना का मुख्य स्वर है। बनारसीदास तो उसके निदर्शन ही हैं।

जिस आत्मा की बात ऊपर कही गई है, वह परमात्म रूप धारण कर चुकी है। जैन शास्त्रों में आत्मा के तीन रूप माने गये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। इनमें बहिरात्मा नितांत मिथ्यात्व से ओत-प्रोत रहती है। उसमें परमात्मा को भी देखने की शक्ति नहीं होती। अन्तरात्मा शुद्ध होती है।[1] उसे 'परमात्मपद' के सन्निकट ही समझिये। परमात्मा आत्मा का विशुद्धतम रूप है। उसको ब्रह्म भी कहते हैं। योगीन्दु ने उसको 'निष्कलब्रह्म' की संज्ञा से अभिहित किया है। 'जैन हिन्दी भक्ति-काव्य' में वही ब्रह्म आराध्य है और साधारण आत्मा भक्त। अर्थात् एक ही आत्मन् के दो रूपों में एक सेवक है तो दूसरा सेव्य, एक भक्त है तो दूसरा भगवान्, एक पुजारी है तो दूसरा पूज्य। यहाँ उपनिषदों की भाँति आत्मा परमात्मा का खण्ड अंश नहीं है, अपितु वह स्वयं विशुद्ध होकर परमात्मा बन जाता है। फिर भी उसके रूपों में तो भेद है ही। इसी कारण उनमें भक्त और भगवान् वाली संघटना बन पड़ती है। बनारसीदास ने 'अध्यात्मपद पंक्ति'[2] में आत्मा और परमात्मा को इसी रूप में प्रस्तुत किया है।

भक्ति-प्रेम और श्रद्धा का समन्वित रूप है। बनारसीदास ने भक्ति के श्रद्धा वाले पहलू को ही नहीं, किन्तु प्रेम को भी समरूप से ही अपनाया। उन्होंने आत्मा को पत्नी और परमात्मा को पति बनाकर दाम्पत्यरति का रूपक घटित किया है। जब दो में प्रेम होता है तो एक-दूसरे का वियोग असह्य हो जाता है। वियोग के दिन तड़फते-तड़फते ही बीतते हैं। बनारसीदास के 'अध्यात्मगीत' में इस तड़फन का एक चित्र ही उपस्थित किया गया है। आत्मा रूपी पत्नी परमात्मा रूपी पति के वियोग में इस भाँति तड़फ रही है, जैसे जल के बिना मछली।[3] उसके हृदय में पति से मिलने का चाव निरन्तर बढ़ रहा है। वह

---

१. परमात्मप्रकाश, योगीन्दु, डा० ए० एन० उपाध्ये सम्पादित, रायचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, १।११।१५, पृ० २०-२४।

२. देखिये बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २२२।

३. मैं विरहिन पिय के आधीन।
यों तलफों ज्यों जल बिन मीन॥
—अध्यात्मगीत, तीसरा पद्य, बनारसीविलास, जयपुर, पृ० १५९।

अपनी 'समता' नाम की सखी से कहती है कि पति के दर्शन पाकर मैं उसमें इस तरह लीन हो जाऊँगी, जैसे बूंद दरिया में समा जाती है। मैं अपनपा खोकर पियसूं मिलूँगी, जैसे ओला गलकर पानी हो जाता है।[1] अन्त में पति तो उसे घर में ही मिल गया और वह उससे मिलकर इस प्रकार एकमेक हो गई कि द्विविधा तो रही ही नहीं। उसके एकत्व को कवि ने अनेक सुन्दर दृष्टान्तों से पुष्ट किया है। वह करतूति है और पिय कर्त्ता, वह सुख-सींव है और पिय सुख-सागर, वह शिवनींव है और पिय शिव-मन्दिर, वह सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, वह कमला है और पिय माधव, वह भवानी है और पिय शंकर, वह जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र।

पिय मोरे घट मैं पिय माहिं। जल तरंग ज्यों दुविधा नाहिं॥
पिय मो करता मैं करतूति। पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति॥
पिय सुख-सागर मैं सुख-सींव। पिय सुख-मन्दिर मैं शिव-नींव॥
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम। पिय माधव मो कमला नाम॥
पिय शंकर मैं देवि भवानि। पिय जिनवर मैं केवल बानि॥[2]

एक दूसरे स्थान पर बनारसीदास ने 'सुमति' को पत्नी और 'चेतन' को पति बनाया है। दोनों में प्रेम है—अटूट, एकनिष्ठ। एक बार चेतन कहीं गया तो भटक कर रह गया। बहुत दिनों तक घर न लौटा। समय की सीमाएँ टूट गईं। पथ निहारते-निहारते लोचन क्षीण हो गये। विरह की असह्य दशा कैसे सही जाय? अन्त में पत्नी चल पड़ी पिय की खोज में। वह किसी मार्ग-दर्शक के अभाव में रुकी नहीं। जो पति को ढूँढने के लिए राजसी वस्त्र उतार कर कंथा धारण कर सकती है,[3] उसे रास्ता दिखाने वाले की क्या आवश्यता। यदि उसके

---

१. होंहुं मगन मैं दरसन पाय, ज्यों दरिया में बूंद समाय।
पिय कों मिलों अपनपो खोय, ओला गल पाणी ज्यों होय॥
वही, ९ वाँ पद्य, पृ० १६०।

२. देखिये वही, पृ० १६१।

३. फारि पटोरहि, पहिरों कंथा। जो मोहि कोउ दिखावै पंथा॥
वह पथ पलकन्ह जाइ वोहारौं। सीस चरन कै तहाँ सिधारौं॥
जो गुरु अगुवा होइ, सखि मोहि लावै पथ माँहा।
तन मन धन बलि बलि करौं, जो रे मिलावै नाहा॥
जायसी ग्रन्थावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित, पद्मावत, पद्मावती-नागमती विलाप खण्ड, चौथी चौपाई, पृ० २६५।

अभाव में रुक सकती है, तो एक वहाना-मात्र है। जव साधक की लौ ब्रह्म की ओर मुड़ गई तो फिर किसी गुरु या सद्गुरु की जरूरत नहीं। वह स्वयं वहाँ तक पहुँच जायेगा, भले ही विपत्तियों के अम्वार टूट पडें। उसे विश्वास होता है वहाँ पहुँचने का। यदि ऐसा न हो तो कहाँ टिके उसकी साधना। वनारसी की नायिका भी ऐसी ही प्रतीति वाली है। उसने खोजा तो खोज लिया। पिय मिला भयावह कान्तार में। उसे देखते ही परायेपन की गागर फूट गई, दुविधा का आंचल हट गया और समूची लज्जा पलायन कर गई। पत्नी का यह तादात्म्य का भाव शील-सना है, तो सुन्दर भी कम नही है। उसके विना तो 'देखना' सार्थक ही नहीं हो सकता। यदि साधक ब्रह्म को केवल देखकर रह जाय, उसमें लीन होने का भाव न जागे, तो 'द्वैध' कैसे हटे। देखने के साथ तादात्म्य होने की भावना तीव्रगति से वढ़ती है। वनारसी की नायिका का स्पन्दन इस दिशा में हुआ।

"वालम तुहुँ तन चितवन गागरि फूटि,
अंचरा गौ फहराय सरम गै छूटि, वालम ॥ १ ॥
पिउ सुधि पावत वन में पैसिउ पेलि,
छाडत राज डगरिया भयउ अकेलि, वालम ॥२॥
काय नगरिया भीतर चेतन भूप,
करम लेप लिपटा वल ज्योति स्वरूप, वालम ॥३॥
चेतन वूझि विचार धरहु संतोष,
राग दोष दुइ वन्धन छूटत मोष, वालम ॥४॥[1]

कभी-कभी ऐसा हुआ कि सुमति खोजने नहीं गई—न जा सकी। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं था कि उसकी विरह-वेदना अल्प थी अथवा उसका प्रेम-सान्द्र नहीं था। इसके विपरीत विरह ने उसे मार-मार कर लुञ्ज वना दिया था। वह चलने में भी समर्थ नहीं थी। वेचैनी और आकुलता वढ़ गई थी। विरह में प्रेम और भी पुष्ट हो गया था। यदि प्रेम सच्चा है तो उसके आकर्षण में असीम शक्ति होती है। सुमति का प्रेम भी ऐसा ही था। भटका हुआ पति स्वयं लौटा, या उसे स्वयं लौटना पड़ा। यदि न लौटता तो आकर्षण की चुम्वकीय शक्ति सन्देहास्पद वन जाती। भगवान् को भी भक्त के पास जाना पड़ता है। भक्त की अनुरक्ति उनको खींचे विना नहीं रहती। भगवान् आते हैं तो समाँ ही

---

१. अध्यात्मपद पंक्ति, १० वाँ राग-विरवा, वनारसी विलास, पृ० २२८।

दूसरा हो जाता है। भक्त का दिल तो खुश होता ही है, चारों ओर की हवा भी खुशी का पैगाम ले दौड़ उठती है। कबीर की बहुरिया के घर, उसके पति राजा राम स्वयं आये, तो उसके पुलक का ठिकाना न रहा। प्रकृति महक उठी, मंगल गीतों की ध्वनियाँ निनादित होने लगीं।[1] सुमति के प्रिय भी आये। वे निरंजन-नाथ कहे जाते हैं—कामदेव-से सुन्दर और सुधारस-से मधुर हैं। उनके आते ही सुमति आल्हादित हो उठी। खञ्जन-जैसे उसके चपल नयन स्थिर हो निरखने लगे रूप के समुद्र को। ऐसा लगा जैसे कि प्रकृति मधुर गीतों से भर गई है। भय और पाप रूपी मल, जिसकी दुर्गन्धि अन्तः से बाहर तक विस्तृत होकर अपवित्रता का संचार करती ही रहती थी, न जाने कहाँ विलीन होगया।

"म्हारे प्रगटे देव निरंजन।
अटको कहा सर भटकत कहा कहूँ जन रंजन ।। १ ।।
खंजन दृग-दृग नयनन गाऊँ चाऊँ चितवत रंजन
सजन घट अन्तर परमात्मा सकल दुरित भय खंजन ।। २ ।।
वो ही कामदेव होय कामघट वो ही सुधारस मंजन।
और उपाय न मिले बनारसी सकल करमषय खंजन ।। ३ ।।[2]

जायसी का रतनसेन भी जब लौटा तो जो पवन नागमती के शरीर को भूने डाल रहा था, शीतल होकर बहने लगा। सब संसार हरा-भरा हो गया, नदी और तालाब जल से आपूर भर गये, स्थान-स्थान पर जमी हुई दूब देखकर ऐसा लगा, जैसे पृथ्वी हर्ष-मग्न हो लहक रही हो। दादुर, मोर और कोकिल सब बोल उठे।[3] अभी तक न जाने कहां अलोप हो गये थे। जब 'मानसर' को उसका पिय पद्मावती के रूप में मिल गया तो "देखि मानसर रूप सुहावा हिय हुलास पुरइन होइ छावा। अन्धियार रैनि मसि छूटी, भा भिनिसार किनर रवि फूटी।।" [4]उस शशि रेखा को देखकर कुमुद विकसित हो गये। उसने जहाँ देखा चमक फैल गई, "नयन जो देखा कँवल भा निरमल नीर सरीर। हँसत जो देखा हंस भा, दसन-जोति नग हीर" ।।[5] अर्थात् उस तालाब का अंग-अंग

---

१. कबीर ग्रन्थावली, डा० श्यामसुन्दरदास सम्पादित, का० ना० प्र० सभा वाराणसी, चतुर्थ संस्करण, पद भाग, पहला पद्य, पृ० ८७।

२. बनारसी विलास, जयपुर, पृ० २४० क।

३. पद्मावत, चित्तौड़-आगमन खण्ड, तीसरी चौपाई, पृ० १८७।

४. वही, सात समुद्र खण्ड, दसवीं चौपाई, २-३ पंक्ति, पृ० ६७।

५. वही, मानसरोदक खण्ड, ८ वीं चौपाई का दोहा, पृ० २५।

आनन्द-विमोहित हो उठा। जैन कवि द्यानतराय की आत्मारूपी दुलहिन ने ज्यों ही ब्रह्म के दर्शन किये कि चारों ओर फूला हुआ बसन्त देखा, जिसमें उसका मन-मधुकर सुखपूर्वक रमने लगा।[1] पिय के साथ ही वसन्त के आने और चतुर्दिक् में सुगंध के विकीर्ण होने की वात वनारसीदास ने 'अध्यात्मफागु' में भी लिखी है।

"विषम विरष पूरो भयो हो, आयो सहज बसन्त।
प्रगटी सुरुचि सुगन्धिता हो, मन मधुकर मयमन्त॥"[2]

वनारसीदास का प्रेम भाव 'आध्यात्मिक विवाह' के रूप में भी प्रस्फुटित हुआ है। ये विवाह दो तरह के होते हैं—एक तो जब किसी आचार्य का दीक्षाग्रहण के समय दीक्षाकुमारी या संयमश्री के साथ सम्पन्न होता है और दूसरा वह जब आत्मारूपी नायक के साथ उसी के किसी गुण रूपी कुमारी की गाँठें जुड़ती हैं। प्रथम प्रकार के विवाहों का वर्णन करने वाले कई रास 'ऐतिहासिक काव्य संग्रह'[3] में संकलित हैं। दूसरे प्रकार के विवाहों में सबसे प्राचीन जिनप्रभसूरि का 'अन्तरंग विवाह' प्रकाशित हो चुका है। इसी के अन्तर्गत वह दृश्य भी आता है जबकि आत्मा रूपी नायक 'शिवरमणी' के साथ विवाह करने जाता है। अजयराज पाटणी का 'शिवरमणी विवाह' १७ पदों का एक सुन्दर रूपक काव्य है।[4] कवि वनारसीदास ने भी तीर्थङ्कर शान्तिनाथ का शिवरमणी से विवाह दिखाया है। शान्तिनाथ 'विवाह मण्डप' में आने वाले हैं। होने वाली वधू की उत्सुकता दवाये नहीं दवती। वह अभी से उनको अपना पति मान उठी है। वह अपनी सखी से कहती है, "हे सखी! आज का दिन अत्यधिक मनोहर है, किन्तु मेरा मन-भाया अभी तक नहीं आया। वह मेरा पति सुख-कन्द है, और चन्द्र के समान देह को धारण करने वाला है, तभी तो मेरा मन-उदधि आनन्द से आन्दोलित हो उठा है। और इसी कारण मेरे नेत्र-चकोर सुख का अनुभव कर रहे हैं। उसकी सुहावनी ज्योति की कीर्ति संसार में फैली हुई है। वह दुःख-रूपी अन्धकार के समूह को नष्ट करने वाली है। उनकी वाणी से अमृत झरता है। मेरा सौभाग्य है जो मुझे ऐसे पति प्राप्त हुए।"

---

१. तुम ज्ञान विभव फूली वसन्त, यह मन मधुकर सुख सों रमन्त।
—द्यानत पद संग्रह, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, कलकत्ता, ५८ वाँ पद, पृ० २४।

२. आध्यात्मफाग, दूसरा पद्य, वनारसी विलास, जयपुर, पृ० १५४।

३. 'जैन ऐतिहासिक काव्य संग्रह' श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित होकर कलकत्ता से वि० सं० १९९४ में प्रकाशित हुआ था।

४. इसकी हस्तलिखित प्रति, जयपुर के श्री वधीचन्द जी के जैन मन्दिर के गुटका नं० १५८, वेस्टन नं० १२७५ में निवद्ध है।

"सही ए री ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नहीं घरे ।
सहि ए री ! मन उदधि अनन्दा सुख-कन्दा चन्दा देह धरे ॥
चन्द जिवां मेरा वल्लभ सोहै, नैन चकोरहिं सुक्ख करै ।
जग ज्योति सुहाई कीरति छाई, वहु दुख तिमिर-वितान हरै ॥
सहु काल विनानी अमृतवानी, अरु मृग-लांछन कहिए ।
श्री शान्ति जिनेश नरोत्तम को प्रभु, आज मिला मेरी सहीए ॥"[1]

जगराम, देवाब्रह्म, कुमुदचन्द्र, द्यानतराय और रूपचन्द आदि के पद-साहित्य में ऐसे 'विवाहला' विखरे हुए हैं। उनका संकलन मैंने किया है। गुजराती और राजस्थानी के जैन साहित्य में भी इस प्रकार के अनेक विवाह-काव्य रचे गये। गुजराती के प्रसिद्ध लेखक मोहनलाल दुलीचन्द देशाई के 'जैन गुर्जर कविओ' में ऐसे अनेक 'विवाहलों' की चर्चा की गई है। इस विवेचन से, पं० परशुराम चतुर्वेदी की यह मान्यता कि भारतीय मधुरोपासना में उपासक और उपास्य केवल प्रेमिका और प्रेमपात्र वाले रूप तक ही सीमित थे, उसमें वैध विवाह आवश्यक नहीं माना जाता था,[2] निराधार प्रमाणित हो जाती है। यहाँ तो सुमति का चेतन से विवाह ही नहीं हुआ, अपितु उसने एक पतिव्रता-सा जीवन भी विताया। दोनों में भावात्मक पहलू पर अधिक वल दिया गया है, किन्तु इससे पति-पत्नी वाले सम्वन्ध का निराकरण नहीं हो जाता।

वनारसीदास ने जिस प्रेम की प्रतिष्ठा की, वह नितान्त अहैतुक था। 'अहैतुक' का अर्थ है-विला शर्त का समर्पण। ऐसा किये विना परमात्मा मिलता नहीं। एक बार वसन्त ने एक साधु से पूछा—महात्मन् ! यदि भगवान् का सव जगह संचरण है तो हमें उसकी पद-ध्वनि क्यों सुनने को नहीं मिलती ? साधु ने उत्तर दिया कि वह चींटी के पैर से भी अधिक धीमी होती है। और, तुम में कहीं कोयल कूकती है, कहीं भ्रमर गूंजते हैं, कहीं हंस किलोलें करते हैं तथा कहीं कलियाँ चटखती हैं, इस शोर-गुल में तुम भगवान् को कैसे सुन सकते हो। इस सवको वन्द करो। भगवान् की पद चापें, तुम्हारे कानों में आने लगेंगीं। वसन्त ने कहा–साधो! इस आयोजन की समाप्ति तो मेरा अन्त है। इनसे मिलकर ही तो जन्मा हूँ। इनके विना मै क्या हूँ–क्या रहूँगा ? तो साधु ने मुसुकुरा कर कहा–जव तुम

१, श्री शान्ति जिन स्तुति, प्रथम पद्य, वनारसी विलास, जयपुर, पृ० १८९।
२. देखिये, 'रहस्यवाद', पं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ८५, विहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना–४।

कुछ न रहोगे, अर्थात् जब तुम्हारा अहं मिट जायेगा, तभी तो भगवान् को पा सकोगे। तात्पर्य है कि बिना शर्त के पूरा समर्पण हो तभी परमात्मा मिल सकता है, अन्यथा नहीं। कबीर ने भी ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये मन को 'बिसमिल' करने और सिर देने की बात स्वीकार की थी। उन्होंने सिर दिया और नाना प्रकार से दिया। कभी कहा "सीस उतारै भुंइ धरै, तब पैठै घर माहिं", तो कभी बताया कि प्रभु का प्रेमरस रसायन की भाँति रसीला होता है, किन्तु, "कबीर पीवण दुर्लभ है, मांगै सीस कलाल।" कलाल की भट्टी जल रही है, उस पर प्रभु-भक्ति रूपी मदिरा तैयार हो रही है, बहुत जन आकर बैठ गये हैं पर, "सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तो पिया नहीं जाय।"[1] सिर सौंपने का अर्थ है कि दिव्य वस्तु पाने के लिये निःशेष हो जाना, फिर 'शर्त' तो स्वतः ही रह गई। उसके लिये स्थान ही नहीं बचा।

बनारसीदास की आत्मा भी अपनपा खोकर ही पियसों मिली। ऐसे मिली जैसे ओला गलकर पानी में मिल जाता है। ऐसे मिली जैसे बूंद दरिया में समा जाती है। ओला ने अपना अस्तित्व खोया और बूंद ने भी। ऐसा किये बिना वे उसमें न समा पाते। उनमें समाने की चाहना ही मुख्य थी। वहाँ बदले की भावना कभी न आ पाई। उन्होंने यह कभी न कहा कि हम अपना कुछ अंश तुम्हें देते हैं उसके बदले में हे शिव! तुम हमें सांसारिक सुख दे दो। सांसारिक सुख तो जहाँ-तहाँ रहा, उन्होंने तो मुक्ति भी न माँगी। भव-भव में भक्ति की ही याचना की, अर्थात् भव-भव में अपना पूर्ण समर्पण ही उन्होंने करना चाहा। यह बात केवल बनारसीदास ने ही नहीं, अपितु हिन्दी के अन्य जैन कवियों ने भी कही। उपाध्याय जयसागर (१५ वीं शती) ने 'चतुर्विंशति जिन स्तुति' में भगवान् महावीर से प्रार्थना की है, "करि पसाउ मुझ तिम किमई, महावीर जिणराय। इणि भवि अहवा अन्न भवि, जिम सेवउंतु पाय[2] ॥'- कवि जयलाल (१६ वीं शती) ने तीर्थंकर विमलनाथ की स्तुति में लिखा है, "तुम दरसन मन हरषा, चंदा जेम चकोरा जी। राजरिधि मांगउं नहीं, भवि-भवि दरसन तोरा जी[3] ॥" भूधरदास भगवान् को देखकर ऐसे मुग्ध हुए कि भव-भव में भक्ति की

---

१. कबीर ग्रन्थावली, डा० श्यामसुन्दरदास सम्पादित, का० ना० प्र० सभा, वाराणसी, १३।६, ४५।१९, ६।२, ६।३।

२. जैन गुर्जर कविओ, तीजो भाग, पृष्ठ १४७९।

३. मुनि जयलाल, विमलनाथ स्तवन, १३ वाँ पद्य, श्री कामता प्रसाद जैन के संग्रह की हस्तलिखित प्रति।

ही याचना की, "अब होउ भव-भव भक्ति तुम्हरी, कृपा ऐसी कीजिये। कर जोरि भूधरदास विनवै, यही वर मोहि दीजिये[1] ।।" तुलसी की विनय पत्रिका और सूरदास के सूरसागर का मूल स्वर भी यह ही है।

जैन काव्य में अहैतुक आत्म-समर्पण का अवसर अधिक था। यहाँ जीवात्मा को समर्पण करने कहीं अन्यत्र नहीं जाना पड़ा। उसमें जब यह भाव प्रादुर्भूत हुआ, तभी वह परमात्म रूप में परिणत हो गई। जैसे सूर्य के प्रतापवान होने पर घन-समूह को विदीर्ण होना ही पड़ता है और सूर्य निराबाध ज्योतिवन्त हो उठता है, जैसे द्वितीया के चन्द्र के आगमन की इच्छा होते ही अमा की निशा को मार्ग देना ही पड़ता है और उसकी शीतल किरणें चतुर्दिक् में विकीर्ण हो जाती हैं, जैसे नदी की धार में मरोड़ आते ही पत्थरों को चूर्ण-चूर्ण होना ही पड़ता है और वह एक स्वस्थ प्रवाह लिये वह उठती है, वैसे ही आत्मा में 'समर्पण' के भाव के उगते ही परमात्म-प्रकाश उदित हो उठता है। ऐसा नहीं है कि अपना समर्पण करने के लिये उसे किसी अन्य ब्रह्म के पास जाना पड़ा हो। जब समर्पण के सहारे आत्मा स्वयं ब्रह्म बन सकती है तो उसे अपना समर्पण सहैतुक बनाने की क्या आवश्यकता। सहैतुक तो वहाँ हो जहाँ द्वित्व हो, भेद हो, पृथक्करण हो। यहाँ तो एक ही चीज है। 'स्व' के प्रति 'स्व' का यह समर्पण जितना 'अहैतुक' हो सकता है, अन्य नहीं। यदि यह कहा जाय कि 'परमात्मा' जीवात्मा से किसी न किसी रूप में तो भिन्न है ही, अतः 'स्व' का 'स्व' के प्रति 'अहैतुक समर्पण' कैसा ? तो आप जिनेन्द्र को जीवात्मा से पृथक् मानिये, फिर भी 'अहैतुक समर्पण' में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। जिनेन्द्र वीतरागी हैं, वे किसी से राग नहीं करते, अर्थात् न किसी को पुत्र देते हैं, न धन और न मोक्ष। ऐसे भगवान् से जो प्रेम करेगा, वह यह सोचकर ही करेगा कि प्रेम के उपलक्ष्य में भगवान् से लौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी प्रकार की उपलब्धि न हो सकेगी। यहाँ 'दोनों ओर प्रेम पलता है' वाली बात नहीं निभ पाती। प्रेमी प्रेमास्पद की वीतरागता पर रीझ कर ही प्रेम करेगा।[2] उसे बदले में कुछ न चाहिये। न कोई शर्त्त होगी, न कोई स्वार्थ। तो जैन परम्परा के मूल में ही कुछ ऐसा दर्शन सन्निहित है, जहाँ सहैतुक प्रेम को स्थान ही नहीं है। यहाँ प्रेमी का प्रेम एकान्तिक है–एकनिष्ठ है। किन्तु प्रश्न तो यह है कि जब आलम्बन

---

१. भूधरदास, दर्शन स्तुति, चौथा पद्य, वृहज्जिनवाणी संग्रह, पं० पन्नालाल बाकलीवाल सम्पादित, सम्राट संस्करण, मदनगंज, किशनगढ़, सन् १९५६ ई०, पृष्ठ ४०।

२. देखिये 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठ भूमि', प्रथम अध्याय, पृष्ठ १७।

निष्क्रिय है तो प्रेम में उद्दीपन कैसे हो ? उसमें वह गुण तो है, जिस पर प्रेमी का प्रेम टिका है अर्थात् वीतरागता। वह प्रकाश-पुञ्ज के अलातचक्र की भाँति प्रेम को उमंगित वनाये रखेगा।

परमात्मा रूपी पति के आने से आत्मा रूपी पत्नी को प्रसन्नता होती है। प्रसन्नता होना तो स्वाभाविक ही है; किन्तु ज्ञातव्य तो यह है कि पति-आगमन के लिये पत्नी अपने घर को निर्मल वनाती है या जैसा हैं वैसा ही पड़ा रहने देती है ? कुछ ने कहा कि जव तक अपने घट रूपी घर को शुद्ध न करोगे परमात्मा नहीं आयेगा। विहारी का विचार है, "तौं लगु या मन सदन मैं हरि आवैं किहिं वाट। विकट जटे जौ लगु निपट खुलैं न कपट-कपाट॥" किन्तु कवीर की कुछ दूसरी ही मान्यता प्रतीत होती है। उन्हें यह शर्त रुचिकर न थी। वे शर्त के घेरे में बंधने वाले जीव नहीं थे। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि राम के आते ही मलीमस स्वतः ही हट जायगा।[1] कवीर से वहुत-वहुत पहले आचार्य योगीन्दु ने लिखा था कि जो मन शास्त्र-पुराण और तपश्चरण से शुद्ध नहीं हुआ, वह परमात्मा के आने से निर्मल हो दमक उठा।[2] परमात्मा के आने से मैल स्वत: हट जाता है, यदि न हटे तो वह परमात्मा ही क्या ? मुनि रामसिंह के निरञ्जन देव भी ऐसे ही हैं, उनके धारण करने से चित्त के भीतरी भाग में जमी मैल की परतें विलीन हो जाती हैं।[3] वनारसीदास पर अपभ्रंश की इसी परम्परा का प्रभाव है। जव साजन आया तो सजनी का भय-पाप रूप मलीमस हट गया।[4] अद्रा नक्षत्र के लगते ही शुष्क वृक्ष स्वत: पलुहा उठते हैं। मूर्छित लतायें लहलहा उठती हैं। जायसी की नागमती तो इसी आश्वासन पर जीवित

---

१. "निरगुन व्रह्म कथौ रे भाई। जा सुमरि सुधि बुधि मति पाई॥" कवीर ग्रन्थावली, काशी, पद ३७५।

२. अप्पाणिय मणि णिम्मलउ णियमें वसइ ण जासु।
सत्थ पुराणइं तव चरणु मुक्खु वि करहि कि तासु॥
परमात्म प्रकाश, १।९८, पृष्ठ १०२।

३. अंभितर चित्ति वि मइलियइं वाहरि काइ नवेण।
चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चइ जेम मलेण॥
पाहुड़ दोहा, ६१ वाँ दोहा, पृष्ठ १८।

४. "सजन घट अन्तर परमात्मा सकल दुरित भयभंजन।" वनारसीविलास, जयपुर, पृष्ठ २४० क।

रही ।[1] उसे विश्वास था कि रतनसैन के आते ही मेरा वियोग-जन्य कलुष मिट जायगा । बनारसीदास को इस परम्परा का स्तम्भ कहना चाहिये ।

बनारसीदास ने केवल प्रेम की ही नहीं श्रद्धा की भी बात कही । उन्होंने जिस श्रद्धा को संजोया वह अंध नहीं थी । अर्थात् उसमें देखने वाली आँख थी । आचार्य समन्तभद्र ने उसे सुश्रद्धा कहा है । इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है । बनारसीदास की सुश्रद्धा सद्बुद्धि की पर्यायवाची थी । उन्होंने लिखा कि जिन-वाणी को बुद्ध देख सकता है, दुरबुद्ध नहीं—"बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध । सदा जग माहिं जगै जिनवानी ॥"[2] 'बुद्ध' का अर्थ है 'बुद्धि सहित' । बुद्धि अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के तन्तुओं से बुनी जा सकती है, किन्तु यहाँ 'बुद्ध' में सन्नि-हित बुद्धि से ध्वनित होता है कि उसका निर्माण सुश्रद्धा से हुआ है । जिनवाणी विश्व-व्यापी है और सदैव जगमगाती रहती है, किन्तु उसे देखने के लिए 'एक आँख' चाहिए, वह जिसके पास नहीं है, वह नहीं देख सकता । यह आँख सुश्रद्धा की बनी होती है । सुश्रद्धा को श्रेष्ठ लगन भी कहते हैं, उसका स्वभाव है कि जिसके प्रति होती है, उससे आश्लिष्ट और घनाश्लिष्ट होती जाती है । ऐसा करने से उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है । यह ही वह आँख है जो जिनवाणी को देखती है । देखकर ही नहीं रह जाती, तन्मय हुए बिना उसे चैन नहीं मिलता । अनुखन माधव-माधव सुमरते राधा, माधव के दर्शन-मात्र से ही तृप्त नहीं हुई, अपितु माधव हो गई ।[3] श्रद्धा की भावभूमि पर, साधक और साध्य तथा प्रेमी और प्रेमास्पद एक होते रहे हैं–होते रहेंगे, उन्हें कोई शक्ति रोक नहीं सकती ।

---

१. जिंनि अस जीव करसि तू बारी ।
यह तरिवर पुनि उठहि सँवारी ॥
दिन दस बिनु जल सूखि बिधंसा ।
पुनि सोइ सरवर, सोइ हंसा ॥
मिलहिं जो बिछुरे साजन, अंकम भेंटि गहंता ।
तपनि मृगसिरा जे सहैं, ते अद्रा पलुहंत ॥
पद्मावत, नागमती-वियोग खण्ड, तीसरी चौपाई, अन्तिम पंक्तियाँ, पृष्ठ १५२ ।

२. नाटक समयसार, जीव द्वार, तीसरा पद्य ।

३. "अनुखन माधव-माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई ।"
'विद्यापति का अमर काव्य', गुणानन्द जुयाल सम्पादित, कानपुर, ७० वाँ पद, पृष्ठ ४५ ।

सुश्रद्धा ही दिव्य दृष्टि है। जिन्हें वह प्राप्त नहीं, वे ब्रह्म को पाने में भी समर्थ नहीं। दिव्य दृष्टि की भूमिका में ज्ञान महत्वपूर्ण पार्ट अदा करता है; किन्तु वह भी सुश्रद्धा से समन्वित होता ही है, ऐसा हुए विना ज्ञान 'सम्यक्' पद का अधिकारी नहीं हो पाता। 'सम्यक्' ही 'दिव्य' है, यदि वह है तो वह है, वह नहीं तो वह भी नहीं। दोनों एक हैं। जैन दर्शन के प्रसिद्ध सूत्र 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' में 'सम्यग्दर्शन' पहले है, 'सम्यक्ज्ञान' बाद में। दर्शन के विना ज्ञान नहीं होता और दर्शन का अर्थ है श्रद्धान्। अतः श्रद्धा के विना ज्ञान नहीं होता और सुश्रद्धा के विना सुज्ञान नहीं। सुज्ञान ही दिव्य दृष्टि है। ऐसे ज्ञान की बात महात्मा तुलसीदास ने भी स्वीकार की थी। उन्होंने गीतावली में लिखा है कि रावण के साथ युद्ध में घायल जटायु को गोद में रख कर राम विलाप कर उठे। राम चाहते थे कि पितृ-तुल्य जटायु जीवित रहे। वे उसे अधिक जीवन-दान देने को तैयार थे। किन्तु जटायु ने कहा, "जिस भगवान् को, वड़े-वड़े वेदाध्यीती-ज्ञानी मुनि, योगी और शत-शत वर्षों से तप में निरत तपी अपने ध्यान में एक क्षण को भी नहीं देख पाते, उसे मरते समय प्राप्त करना मुझ-जैसे जन के लिये दुर्लभ ही है, अतः मुझे मृत्यु श्रेयस्कर है।"[1] और वह जटायु भगवान् के अश्रु-जल से अभिषिक्त होता स्वर्ग की राह लगा। इससे स्पष्ट है कि एक हीन जाति का जीव भगवान् को पाने में समर्थ हो सका, जवकि उच्च वर्ण के मुनि उसे एक पल के लिये ध्यान में भी न ला सके। इसका तात्पर्य है कि जो पावन श्रद्धा जटायु में थी वह ज्ञानी-ध्यानी मुनियों में नहीं थी, इसी कारण वे ज्ञान की गरिमा और तप की ऊष्मा के बल पर भी आराध्य को उपलब्ध न कर सके। सुश्रद्धा के अभाव में उनका ज्ञान कोरा प्रमाणित हुआ। उसकी निरर्थकता स्पष्ट ही है। यहाँ पर भी वनारसी का "बुद्ध लखै न लखै दुरबुद्ध" जैसे मुखर हो उठा है। कबीर का "पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ पण्डित भया न कोइ" में 'पण्डित' वनारसी के 'बुद्ध' का पर्यायवाची है। पोथियाँ पढ़कर कोई पण्डित नहीं हो सकता। पण्डित बनने के लिये 'राम' के दो आखर दिल में लाने होंगे। इस प्रकार कवीर ने भी सुश्रद्धा की ही वात की है।

वनारसीदास ने 'सद्‌बुद्धि' को 'राधिका' कहा है। राधा कृष्ण की प्रेमिका थी। वह उनके साथ रासलीला रचाती थी, गौयें चराने बन में जाती थी, मुरली-वादन में शामिल होती थी। जब कृष्ण मथुरा चले गये तो विरह-प्रपीड़िता राधा दिन-रात कृष्ण-कृष्ण की सुध में वे-सुध रहने लगी। विरह ने उसके प्रेम

---

१. देखिये तुलसीकृत गीतावली।

को और भी पुष्ट किया। राधा रस की प्रतीक ही थी। उसके नाम पर न-जाने कितने रस-पंथों और ग्रन्थों की रचना हुई। चैतन्यचरितामृत, गीतगोविन्द, विद्यापति की पदावली और सूरसागर राधा के जयगीत हैं। रीतिकाल के अनेक कवियों ने अपनी शृङ्गारपरक रचनाओं का प्रारम्भ राधा की चरण-वन्दना से ही किया। विहारी के "मेरी भव-बाधा हरौ राधानागरि सोइ" से सब परिचित हैं। राधा को सन्त कवियों ने 'आध्यात्मिक सुषमा' के रूप में स्वीकार किया है। उनकी सुन्दरी राधा, उनके हृदय में स्थित राम के साथ रमण करती है। वे दोनों एक हैं। अत: राधा 'निरवानी' है, अर्थात् निर्वाण की अलौकिकता का चिह्न है। जब तक राधा अबोध है, रीझी नहीं, तब तक उसे राधा नहीं कहा जाता। अर्थात् राधा तभी राधा है, जब वह राम पर रीझ कर तन्मयता की धुनि में मूर्च्छित हो-हो उठे। तद्रूप हुए बिना उसे चैन न मिले। गोकुल में, ऊधौ ने ऐसी ही बेचैन राधा के दर्शन किये थे। उसी को सन्त कवियों ने 'सुमति' की संज्ञा से अभिहित किया है। 'सुमति' और 'सद्बुद्धि' पर्यायवाची हैं। इसका अर्थ हुआ कि राधा की भाँति सद्बुद्धि उसी को कहा जायेगा, जिसकी शक्ति राम-मय होने में तल्लीन रहती हो। यदि ऐसा नहीं है तो वह बुद्धि तो कहला सकती है; किन्तु उसका सद्विश्लेषण निरर्थक ही रह जायेगा। आराध्य के चरणों में चढ़ने से ही उसकी कृतार्थता है। बनारसीदास इसी मत के समर्थक थे उनकी राधा की एक झलक देखिये—

"धाम की खबरदार राम की रमन हार,
राधा रस पंथनि में ग्रन्थनि में गाई है।
सन्तन की मानी निरवानी रूप की निसानी,
यातैं सद्बुद्धि रानी राधिका कहाई है॥"[1]

'भैया भगवतीदास' ने भी सद्बुद्धि को मस्तिष्क का विलास नहीं, अपितु भक्ति-रस का प्रतीक माना है। बनारसीदास की सद्बुद्धि की भाँति वह भी मोह और काम को विडार कर राम की रट लगाया करती है। वह कर्म रूपी घटाओं को फाड़कर चन्द्ररूपी राम से सुधामयी हो गई है। उसने सतत श्रद्धा-प्रसून समर्पित कर जिनेश की प्रतीति प्राप्त कर ली है और स्वयं भी चिदानन्द बन गई है।[2] पण्डित दौलतराम ने 'आध्यात्म बारहखड़ी' में इसी सद्बुद्धि को 'राधा'

---

१. नाटक समयसार, सर्वविशुद्धिद्वार, १४ वाँ पद।

२. 'प्राचीन हिन्दी जैन कवि', पं० मूलचन्द्र वत्सल, दमोह, पृष्ठ १४२।

कहा है। वह भगवान् के चरणों में लौ लगाये रहती है। लौ लगाने से उसे तृप्ति मिलती है। और इस प्रकार वह अपने जीवन को सार्थक समझती है।[1] कवि जगराम के अनेक पद सुमति रूपी राधा की जिनेन्द्र-निष्ठा को प्रगट करते हैं। उनकी राधा जिनेन्द्र के साथ रमण करती है; इसी कारण उन्हें 'राधा-रौन कहा जाता है।[2] राधा-रौन की वात कवि बनारसीदास ने भी की है। उन्होंने 'अब अन्तरगति भई हमारी, परचे राधा-रौन सौं'[3] लिखकर 'राधा-रौन' से परिचित होना स्वीकार किया है। इससे सिद्ध है कि वनारसीदास के आराध्य 'राधारमण' थे। केवल राधा का नाम उन्हें अभीष्ट नहीं था। उन्होंने राधा की सार्थकता इसी में समझी कि वह कृष्ण के साथ रमण करे। रमण का अर्थ है—द्वित्व मेट कर एकत्व स्थापित करे। यह तभी सम्भव है, जब वह एकमेक होने की भावना भाये। इसी को भक्ति कहते हैं। भक्ति का प्रतीक वने विना 'सुमति' की सुष्ठु मति भी निरर्थक ही है। अतः सद्बुद्धि वह ही है जो भक्ति की धार पर सध सके।

वनारसीदास ने सुमति को राधा ही नहीं, सीता, भवानी और गंगा भी कहा। "यहै राम रमणी सहजरूप सीता सती[4]" के द्वारा उन्होंने सीधे-सीधे ही सती सीता की सार्थकता राम के साथ रमण करने में स्वीकार की। उनकी एक पंक्ति, "यहै भवभेदिनी भवानी शम्भु घरनी"[5] में भवानी का शम्भु की घर-वाली होना ही प्रमुख है। "यहै गंगा त्रिविध तीरथ की धरनी"[6] से स्पष्ट प्रगट है कि गंगा की महिमा त्रिविध तीर्थ धारण करने में ही है। इसे 'जिन महिमा'[7] कहकर वनारसीदास ने माना कि 'सुमति' का सौन्दर्य तभी है, जब जिनेन्द्र उसे अपनी महिमा के रूप में अंगीकार कर सकें। जिन-शासन में वह इसी रूप में विख्यात है। 'जिनेन्द्र की महिमा' कहलाने का गौरव उसे जिनेन्द्र की कृपा के विना न मिला होगा, यह सुनिश्चित है। और भगवान् की कृपा भक्ति के विना

---

१. पं० दौलतराम: आध्यात्म बारहखड़ी, दि० जैन पंचायती मन्दिर, बड़ौत की पाण्डु-लिपि, पृष्ठ २५३, १७ वाँ पद्य।

२. पद संग्रह, दि० जैन पंचायती मन्दिर, बड़ौत की पाण्डुलिपि, पृष्ठ १७,८ वां पद।

३. आध्यात्मपद पंक्ति, १४ वाँ पद, बनारसी विलास, पृष्ठ २३२।

४. नव दुर्गा विधान, ७ वाँ पद्य, बनारसी विलास, जयपुर, पृष्ठ १६९।

५. वही, आठवाँ पद्य, पृष्ठ १७०।

६. वही, आठवाँ पद्य, पृष्ठ १७०।

७. वही, ९ वाँ पद्य, पृष्ठ १७०।

कहाँ मिलती है ? इसीलिये सुमति 'जिन महिमा' तभी कहलाई जब पहले जिन-भक्ति बन सकी । जिन-भक्ति ही 'जिन महिमा' है ।

सुमति ने भक्ति बनकर जिस आराध्य को साधा वह निराकार था और साकार भी, एक था और अनेक भी, निर्गुण था और सगुण भी । इसी कारण जैन कवियों ने सूरदास की भाँति 'सगुण' का समर्थन करने के लिये 'निर्गुण' का खण्डन नहीं किया और निर्गुण की अराधना के लिये सगुण राम पर रावण की हत्या का आरोप नहीं लगाया । वे निर्द्वन्द्व हो दोनों के गीत गा सके । कवि बनारसीदास ने "निराकार चेतना कहावै दरसन गुण, साकार चेतना शुद्ध ज्ञान गुण-सागर है । चेतना अद्वैत दोउ चेतन दरब माहिं, सामान्य-विशेष सत्ता ही कौ गुणसार है" ।[१] कहकर एक ही चेतन को दर्शन गुण से युक्त होने के कारण निराकार और ज्ञान गुण-सागर होने से साकार माना । उन्होंने दूसरे स्थान पर "नाना रूप भेष धरे भेष को न लेस धरे, चेतन प्रदेस धरे चेतना को खंध है ।"[२] लिखते हुए भी वह ही बात कही । उन्होंने ब्रह्म के 'एकानेक' वाले पहलू को तो अनेक दृष्टान्तों से पुष्ट किया है । उन्होंने लिखा कि जैसे महि मण्डल में नदी का प्रवाह तो एक ही है, किन्तु नीर की ढरनि अनेक भाँति की होती है, जैसे अग्नि तो एक ही है, किन्तु तृन, काठ, वांस, आरने और अन्य ईंधन डालने से वह नाना आकृति धारण करती है, जैसे नट एक ही है, किन्तु नाना भेष धारण करने से वह नानारूप दिखाई देता है, ठीक वैसे ही एक 'आतम ब्रह्म' पुद्गल के संयोग से अनेक रूप धारण करता है ।[३] इसी भाँति उन्होंने एक ही ब्रह्म को "निर्गुण रूप निरञ्जन देवा सगुण स्वरूप करें विधि सेवा ।"[४] लिख कर निर्गुण कहा और सगुण भी । इन्हीं को आचार्य योगीन्दु ने 'निष्कल' और 'सकल' की संज्ञा से अभिहित किया था । निष्कल वह है जो 'पञ्चविध शरीर रहित'[५] हो, सकल वह है जो कुछ समय के लिये ही सही, शरीर सहित हो । भगवान् सिद्ध 'निष्कल' हैं और अर्हन्त 'सकल' ब्रह्म । ब्रह्मत्व की दृष्टि से दोनों

---

१. नाटक समयसार, मोक्ष द्वार, दसवाँ पद्य, पृष्ठ ८२ ।

२. वही बंधद्वार, ५४ वाँ पद्य, पृष्ठ ७८ ।

३. वही, बन्ध द्वार । ३५, जीव द्वार । ८ और मोक्षद्वार । १४ ।

४. शिव पच्चीसी, ७ वाँ पद्य, बनारसी विलास, जयपुर, पृष्ठ १५० ।

५. 'पंचविध शरीर रहितः निष्कलः,' ब्रह्म देव की टीका, योगीन्दु कृत परमात्मप्रकाश, १।२५, पृष्ठ ३२ ।

में अन्तर नहीं है, किन्तु अघातिया कर्मों के क्षय होने तक 'अर्हन्त' को संसार मे सशरीर रुकना पड़ता है। उनका परम औदारिक शरीर होता है अर्थात् अन्तिम स्थूल शरीर, इसके उपरान्त उन्हें फिर कोई शरीर धारण नहीं करना पड़ता 'अर्हन्त' ही अघातिया कर्मों के क्षय होने पर 'सिद्ध' अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। एक ही जीव अपनी साधना से पहले 'सगुण ब्रह्म' बनता है, फिर निर्गुण दशा को प्राप्त कर लेता है। जो एक बार 'निर्गुण' बन गया, वह फिर कभी किसी रूप में अवतार नहीं लेता—लीला और माया के कारण भी नहीं। अनेक जीव 'सगुण' बनकर 'निर्गुण' बनते रहते हैं। जैन सिद्धान्त अनेक ब्रह्म मे विश्वास करता है। स्वरूप-मूलरूप की दृष्टि से वे एक ही हैं, वैसे अनेक हैं सूर और तुलसी ने जिस सगुण ब्रह्म की आराधना की, वह 'निर्गुण' से एकदम निराला था, बनारसीदास तो ऐसी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। उन्होंने 'निर्गुण' की भक्ति की और 'सगुण' की भी। दोनों में कोई अन्तर न माना बनारसीदास से पूर्व अन्य जैन कवि भी ऐसा ही करते थे। मैंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' में उनके अनेक दृष्टान्त दिये हैं। यहाँ हम केवल विवेचन के लिये, पहले बनारसीदास की 'सिद्ध भक्ति' को और फिर 'अर्हन्त-भक्ति' को लेंगे।

बनारसीदास ने जिस 'सिद्ध' की आराधना की, वह केवल अविनाशी और अविकार ही नहीं है, अपितु परमरस का भी धाम है। रस और आनन्द पर्याय वाची होते हैं, अतः उसे 'परमानन्द' कहना उपयुक्त ही होगा। वह सर्वाङ्ग-सुन्दर है और सौन्दर्य भी ऐसा-वैसा नहीं-प्राकृतिक, सहज और स्वाभाविक। उस पर योगीजन ध्यान केन्द्रित करते हैं। वह मनमोहन है और उसके द्वारा योगियों के मन मोहे जाते रहे हैं, जाते रहेंगे। तभी तो वे उस पर दिन-रात अपने ध्यान को लगाये रखने में समर्थ हो पाते हैं। वह भगवान् अनादि है और अनन्त है। अनादि का अर्थ है कि उसका आदि नहीं और अनन्त का तात्पर्य है कि उसका अन्त नहीं। वह आदि और अन्त से, अर्थात् जन्म और मरण से परे है-ऊपर है। वह शुद्ध बुद्ध तो है ही, अविरूद्ध भी है। यह ही बड़ी विशेषता है। अविरुद्ध का अर्थ है कि वह विरोधों से रहित है-उसमें किसी प्रकार का विरोध समाहित ही नहीं हो पाता। वह देव क्या जिसका अन्य देवों से विरोध हो, वह धर्म क्या जिसका अन्य धर्मों से पृथक्करण हो और वह सत्य क्या जो अन्य सत्यों से मिल न पाता हो। सत्य वही है जो सब जगह सत्य हो, यदि दूसरे सत्यों से उसका विरोध है, तो वह सत्य नहीं, असत्य है। बनारसीदास ने ऐसे भगवान् की भक्ति की जो इस कसौटी पर खरा उतरता हो, इसी कारण उन्होंने 'अविरुद्ध' का प्रयोग किया।

उनका भगवान् ऐसा है, इसलिए जगत-शिरोमणि है, समूचा जगत उसकी 'जै' के गीत गाता है—

> "अविनासी अविकार परम रस धाम है
> समाधान सरवंग सहज अभिराम है।
> शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त है
> जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवन्त है॥"[1]

बनारसीदास की एक प्रसिद्ध कृति है 'शिव पच्चीसी'।[2] इसमें पच्चीस पद्य हैं। उस समय पच्चीसी, छत्तीसी और बहत्तरी आदि रचे जाने की प्रथा थी। बनारसीदास की यह रचना भी उसी परम्परा में गिनी जायेगी। इसमें उन्होंने सांगरूपक प्रस्तुत किया है, अर्थात् सिद्ध को शिव बनाया है और शिव के समूचे गुण सिद्ध में घटित किये हैं। शिव को सिद्ध कहने की प्रथा प्राचीन है। संस्कृत के अनेक जैन कवियों ने सिद्ध को शिव संज्ञा से अभिहित किया है। योगीन्दु से भी पूर्व आचार्य मानतुंग ने (तीसरी शती) 'भक्तामरस्तोत्र' में "त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्"[3] और आचार्य अकलंक ने 'अकलंक-स्तोत्र' में "सर्ववित्तनुभृतां क्षेमंकरः शंकरः"[4] लिखकर जिनेन्द्र को स्पष्ट रूप से ही शंकर कहा है। बनारसीदास के जिनेन्द्र की करुण-रस-वाणी ही सुर-सरिता, सुमति गौरी, त्रिगुणभेद नयन-विशेष, विमल भाव समकित-शशि लेखा, सुगुरु-सीख श्रृंगी, नयव्यवहार वाघम्बर, विवेक-वैल, शक्ति-विभूति अंगच्छवि, तीन

---

१. नाटक समयसार, सस्ती ग्रन्थमाला, दरियागंज, देहली, प्रारम्भिक स्तुतियाँ, चौथी स्तुति, पृष्ठ २।

२. शिव पच्चीसी, वनारसी विलास, जयपुर, पृष्ठ १४९ पर संकलित है।

३. "बुद्धस्त्वमेव विवुधार्चित वुद्धिबोधात्
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात्।
धातासि धीर! शिव मार्ग विधेर्विधानाद्
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि॥"

४. "दग्धं येन पुरत्रयं शरभुवा तीव्रार्चिषा वह्निना।
यो वा नृत्यति मत्तवत्पितृवने यस्यात्मजोवाग्रहः॥
सोऽयं किं मम शंकरो भयतृषारोषार्त्ति मोहक्षयं।
कृत्वा यः स तु सर्ववित्तनुभृतां क्षेमंकरः शंकरः॥२॥"

गुप्ति त्रिशूल, कंठ विभाव, विषम-विष और सजम ही जटायें हैं। जिनेन्द्र शंकर की भाँति ही सहज सुख का भोग करने वाले हैं। जिस भाँति शंकर दिगम्वर योगी कहलाते हैं, वैसे ही जिनेन्द्र भी हैं। उनका ब्रह्मसमाधि-ध्यान ही शंकर का घर है। वहाँ निरन्तर अनाहत नाद होता है, वही मानों डमरू वजता रहता है।[1] ऐसे जिनेन्द्र रूपी शिव की भक्त पूजा करता है। उसका समरसी भाव ही अभिषेक करने का जल है, उपशम ही घिस-घिस कर लगाने का चन्दन रस है। सहजआनन्द पुष्प हैं, जिनसे गुथी जयमाला भगवान् के चरणों में सदैव समर्पित की जाती है। ज्ञान ही दीप-शिखा है, स्याद्वाद घन्टा की झनकार है, क्षायक भाव धूप है, निश्चय दान अर्घ्यविधि है, सहजशीलगुण अक्षत हैं, भगवान् के रस में पगना ही नेवजों का चढ़ाना है और विमल भाव फल हैं।[2] इस सामग्री के साथ जो ध्यान-मग्न होकर, अपने को तल्लीन कर, शिव की पूजा करता है, वह प्रवीण साधक इस जग में शिव-स्वरूप हो जाता है, अर्थात् स्वयं शिव वन जाता है। जिस प्रकार विद्यापति की राधा तादात्म्य की दशा में कृष्ण वन गई, वैसे ही भक्त भी तल्लीनता के कारण स्वयं शिव वन जाता है।

"जो ऐसी पूजा करै, ध्यान मग्न शिव लीन।
शिव स्वरूप जग में रहे, सो साधक परवीन ॥"[3]

एक दूसरे स्थान पर भी उन्होंने शिव रूप जिनेन्द्र की वन्दना की है। वह 'सिवथान' पर रहता है अर्थात् उसने शिवत्व प्राप्तकर लिया है और वह अपने प्रकाश से प्रकाशवन्त है। उसका अपना प्रकाश आत्म-ज्योति है, जिसे दिव्य प्रकाश भी कहते हैं। इसके कारण वह सव पदार्थों में मुख्य माना जाता है। कलंक तो उसका स्पर्श भी नहीं कर पाता। निष्कलंक होकर ही वह शिव-लोक का वास प्राप्त कर सका है। उसे परम सुख उपलब्ध है। कलंक दुःख का कारण हैं, जव वह ही न रहा तो दुःख भी कैसे रह पाता। दुःख का नितान्त अभाव ही सुख है। सुख और शिव पर्यायवाची हैं। वह अन्तर्यामी भी है, अर्थात् विश्वव्यापी है। जीव और अजीव सवके घट-घट की जानता है। ऐसे शिव की वन्दना करने के लिये पात्रता की आवश्यकता है। अर्थात् भक्त को शिवगामी होना चाहिए। इसके लिए एक विशेष परिभाषिक शब्द है–भव्य। वही जीव भव्य होता

---

१. शिवपच्चीसी, पद्य १२–१६, वनारसीविलास, जयपुर, पृष्ठ १५०–५१।
२. वही, पद्य ८–१०, वनारसीविलास, जयपुर, पृष्ठ १५०।
३. वही, ११ वाँ दोहा, पृष्ठ १५०।

है जो सन्निकट भविष्य में मोक्ष प्राप्त करे। उसे मोक्षगामी भी कहते हैं। ऐसा जो होगा वह 'शिव रूप' को देखकर अवश्य ही नमेगा, नमे बिना रहेगा नहीं, झुक-झुक जायेगा। इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि 'शिव रूप' को देखकर 'सिवगामी' ही झुक सकता है, दूसरा नहीं। बनारसीदास का यह पद्य है—

"जो अपनी दुति आप विराजत
है परधान पदारथ नामी।
चेतन अंक सदा निकलंक
महासुखसागर को विसरामी॥
जीव–अजीव जिते जग में
तिनको गुन–ज्ञायक अन्तरजामी।
सो सिव रूप वसै सिव–थान
ताहि विलोकि नमैं सिवगामी॥"[1]

यहाँ 'शिव-रूप' को देखकर 'सिवगामी' झुकता है, यह तो ठीक है; किन्तु वह देखने में समर्थ कैसे हो पाता है, प्रश्न यह है। ऐसी सामर्थ्य के लिए किसी विशेष प्रयास की आवश्यकता नहीं है। केवल शिव-महिमा हृदय में वसी हो। 'शिव रूप' के दर्शन हो ही जायेंगे। दर्शन ही नहीं वह स्वयं भी शिवरूप हो जायेगा। बनारसीदास ने लिखा है 'शिव-महिमा जाके घट वासी, सो शिवरूप हुआ अविनासी।"[2] पहले भक्त आराध्य की महिमा से आकर्षित भर होता है, फिर उसका आकर्षण घनीभूत श्रद्धा में बदल जाता है और महिमा उसके चित्त में दृढ़ आसन जमा लेती है। तुलसी ने विनयपत्रिका के अनेक पदों में राम-महिमा के ही गीत गाये हैं। उनकी दृष्टि में राम से अधिक राम-महिमा है। उसके सहारे ही राम प्राप्त होते हैं, तो वह अधिक क्यों न होगी। गोपियों ने कृष्ण-महिमा को समझा था। उनके हृदय से कृष्ण क्षण भर को भी इधर-से-उधर नहीं गये, यदि जाते तो ऊधो क्षणमात्र के लिए ही सही, निर्गुण ब्रह्म को बसा अवश्य देते। यदि गोपियों ने कृष्ण-महिमा को न समझा होता तो उनका ऐसा विश्व-व्यापी विरह सही-सही न उतर पाता। सभी जानते हैं कि कृष्ण-महिमा के बद्धमूल ही

---

१. जीव द्वार। २, नाटक समयसार, पृ० ११।

२. "शिव स्वरूप भगवान् अवाची। शिव-महिमा अनुभव मति सांची॥
शिव-महिमा जाके घट भासी। सो शिवरूप हुआ अविनासी॥"
—शिव पच्चीसी, तीसरा पद्य, बनारसी-विलास, जयपुर, पृ० १४६।

जाने से ही राधा कुण्ठा वन गई थी, फिर उसके विरह ने दुतरफा मार की हो, इसकी उसनें चिन्ता भी न की ।[1] बनारसीदास ने आराध्य की महिमा के अचूक प्रभाव को जाना था, इसी कारण उनका उपर्युक्त वाक्य समूचे 'वनारसी विलास' में एक 'जय गीत' की भाँति जड़ा है ।

शिव-महिमा को सतत वनाये रखना आसान नहीं है । यह संसार मधु-मक्खियों के छत्ते की भाँति है, जो इसको भोगने की चाह करता है, मधुमक्खियाँ उड़कर उससे चिपट जाती हैं और वह एक असह्य वेदना से कराह उठता है । शिव-महिमा एक ओर पड़ी रह जाती है । हाँ, शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति, जिसके लिए एक जैन पारिभाषिक शब्द है—सम्यक्त्वी, इस उपाधि—मधुमक्खियों के आक्रमण को समाधिष्ठ की भाँति झेल लेता है । सहज का कवच पहने और मन में उमंग भरे वह इस विपत्ति के मध्य भी सुख की राह बनाता निकल जाता है और उसकी दशा किंचिन्मात्र भी उद्वेगजनक नहीं होती । कहने का तात्पर्य यह है कि जीव के आत्मन् में उत्पन्न हुई शिव-सत्ता तभी बनी रह सकती है, जब जीव ने सम्यक्त्व रूपी शक्ति उपात्त करली हो । मेरी दृष्टि में सम्यक्त्व एक पवित्र झुकाव है-जिनेन्द्र की ओर या आत्म ब्रह्म की ओर । यह एक ऐसा झुकाव है, जो एक वार जिधर झुक गया फिर उधर से मुड़ता नहीं । इस झुकाव को तानने के लिए अनेक विकृत उपाय कारगर हो सकते हैं, और कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत हो सकता हैं कि वह झुकाव अब हट गया, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं । दुनियावी कार्यों में संलग्न रहते हुए भी वह जीव उनसे नितान्त असंपृक्त रहता है । उसकी लगन आत्म-ब्रह्म की ओर होती है । जैसे कुछ ग्राम-वधुएँ कुएँ से जल भर कर घर को चलीं, सिर पर तीन-तीन भरे घट धरे हैं, आपस में हँस-खेल और इठला रही हैं, किन्तु उनका ध्यान सतत घड़ों में लगा रहता है। जैसें गौ वन में घास चरने जाती है, नदी में पानी पीती है, इधर-उधर घूमती-फिरती है; किन्तु उसका मन अपने

---

१. "राधासयँ जब पुनतहि माधव माधव सयं जब राधा ।
दारुन प्रेम तबहि नहि टूटत बाढ़त बिरहक बाधा ।।
दुहुँ दिसि दारु-दहन जैसे दगधई आकुल कीट परान ।
ऐसन वल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान ।।"

—'विद्यापति का अमर काव्य', गुणानन्द जुयाल सम्पादित, कानपुर प्रकाशन, ७० वाँ पद, अन्तिम पंक्तियाँ, पृ० ४५ ।

वछड़े में रखा रहता है,[1] ठीक ऐसे ही यह जीव संसार के नाना कृत्यों में उलझ कर भी अपने चित्त का स्वर ब्रह्म की ओर रख सकता है। जो उधर को मुड़ गया है, वह हटता नहीं। इसी मोड़ में शक्ति है और इस मोड़वाला ही शक्ति-सम्पन्न कहलाता है। 'जिनेन्द्र की ओर मोड़' को जिनेन्द्र-भक्ति कहते हैं। बनारसीदास ने उसका श्रेष्ठ ढँग से प्रतिपादन किया है—

"जैसे काहु देस को बसैया बलवन्त नर,
जंगल में जाइ मधु-छत्ता को गहतु है।
वाकों लपटाय चहुँ ओर मधुमक्षिका पैं,
कम्बली की ओट सों अडंकित रहतु है॥
तैसे समकिती शिव-सत्ता को सरूप साधे,
उदै की उपाधिकों समाधि-सी कहतु है।
पहिरे सहज को सनाह मन में उछाह,
ठाने सुखराह उद्वेग न लहतु है॥"[2]

जैन शास्त्रों में आत्म-ब्रह्म को चेतन, चिदानन्द या चिन्मूर्त्ति भी कहते हैं। यहाँ चेतन का तात्पर्य शुद्ध चेतन से है, ऐसा हुए बिना तो उसमें ब्रह्म संज्ञा घटित ही नहीं होती। यह चेतन स्वानुभूति से दमकता रहता है, अर्थात् अपने को अपने से प्रकाशित करता रहता है। प्रकाश के दो अर्थ हैं-ज्ञान और आनन्द। ज्ञान को प्रकाश और अज्ञान को अंधकार अजैन आचार्यों ने भी कहा है। तुलसीदास ने 'विनय पत्रिका' में एकाधिक स्थानों पर ज्ञान को प्रकाश लिखा है। स्वानुभूति ही ज्ञान रूप होती है। इसका अर्थ निकला कि ज्ञान स्वतः अपनी शक्ति से ही दीप्ति-वन्त होता है। स्वानुभूति का प्रकाश ही आनन्द भी है। ज्ञान और आनन्द में अन्तर नहीं है। पूर्ण ज्ञान ही चरम आनन्द है। अमृतचन्द्राचार्य का 'नमः समय-साराय स्वानुभूत्या चकासते' में 'स्वानुभूति' ज्ञान की द्योतक है और 'चकासते'

---

१. "सात पांच सहेलियाँ रे हिल-मिल पाणीड़े जायँ।
ताली दिये खल हँसै, वाकी मुरत गगरुआ मायँ॥
उदर भरण के कारणें रे गउवां वन में जायँ।
चारो चरैं चहुँ दिसि फिरैं, वाकी मुरत वछरुआ मायँ॥"
—आनन्दघन पद संग्रह, श्रीमद् बुद्धिसागर कृत गुजराती भावार्थ सहित, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, वि० सं० १९६९, पद ९५, पृ० ४१३–१५।

२. निर्जराद्वार। ३४, नाटक समयसार, पृ० ५४–५५।

प्रकाश का। इसका अर्थ हुआ कि ज्ञान ज्ञान से प्रकाशित होता है। तात्पर्य निकला कि ज्ञान से परम आनन्द मिलता है। तो वह चेतन ज्ञान और आनन्द दोनों रूप हैं। 'दोनों रूप' का अर्थ है--'प्रकाश रूप' है। चेतन प्रकाश है। बनारसीदास के "पन्ना के पकाये जैसे कंचन विमल होत, तैसें शुद्ध चेतन प्रकाशरूप भयौ है"[1] में भी चेतन के इसी 'प्रकाश रूप' की बात है। अतः उसकी अनुभूति में ज्ञान है और परम आनन्द भी। आनन्द और रस पर्यायवाची हैं। बनारसीदास का मत है, "चेतन कौ अनुभौ अराधैं जग तेई जीव, जिन्हकौं अखण्ड रस चाखिबे की क्षुधा है।"[2] यहाँ 'अखण्ड-रस' में परमानन्द की ही बात है। 'परमात्मप्रकाश' के टीकाकार ब्रह्मदेव ने चिदानन्दैकरूप, परमात्मप्रकाश और सिद्धात्मा को एक ही माना। उनकी वन्दना करते हुए लिखा, "चिदानन्दैक रूपाय जिनाय परमात्मने। परमात्मप्रकाशाय नित्यं सिद्धात्मने नमः।।" यह चेतन घट रूपी मन्दिर में रहता है। बनारसीदास ने उसकी वन्दना की है, "सोहै घट-मंदिर में चेतन प्रगट रूप, ऐसो जिनराज ताहि वंदत बनरसी।"[3] उन्होंने चेतन के माहात्म्य की बात अनेक बार कही। कभी तो "चिद्रूप स्वयम्भू चिन्मूरति धरमवंत, प्रानवंत, प्रानि जन्तुभूत भवभोगी है"[4] कहा और कभी "निराबाध चेतन अलख, जामैं सहज सुकीव। अचल अनादि, अनन्त नित, प्रगट जगत में जीव।।"[5] लिखा। तुलसी ने भी विनय पत्रिका में 'चिदानन्द' के सुधारस का पान करने के लिए मन को प्रेरित किया है। उनकी दृष्टि में संसार रविकर-जल के समान है, उसकी ओर दौड़ने से कुछ प्राप्त नहीं हो सकता, अतः मन को 'चिदानन्द' की ओर मोड़ने से ही लाभ है। जैन कवि भैया भगवतीदास भी 'चिदानन्द' के ही आराधक थे। उन्होंने बार-बार कहा कि 'चिदानन्द' की भक्ति करने से ही संसार के माया-जाल से मुक्ति मिल सकती है, अन्यथा नहीं।

जैन ब्रह्म निरञ्जन भी है। 'भी' यह प्रमाणित करने को लिखा कि निरञ्जन शब्द केवल अजैन पारिभाषिक शब्द नहीं है, वह जैन पदावली में समाहित होता है। आचार्य अकलंक ने 'अकलंक-स्तोत्र' में लिखा है, "सोऽस्मा-

---

१. जीव द्वार। ३४, नाटक समयसार, पृ० २०।

२. अजीव द्वार। ११, नाटक समयसार, पृ० २३।

३. जीव द्वार। २६, वही, पृ० १६।

४. नाटक समयसार, प्रारम्भिक स्तुतियाँ, २३ वाँ पद्य, पृ० ८।

५. अजीव द्वार। १०, नाटक समयसार, पृ० २३।

न्पातु निरञ्जनो जिनपतिः सर्वत्र सूक्ष्मः शिवः।"[1] आचार्य योगिन्दु ने 'परात्म प्रकाश' और 'योगसार' दोनों ही ग्रन्थों में 'निरञ्जन' का एकाधिक वार प्रयोग किया। उन्होंने निरंजन की परिभाषा लिखी, "जासु ण वण्णु ण गन्धु न रसु जासु ण सद्दुण फासु। जासु न जम्मंणु ण वि णाउ निरंजणु तासु।"[2] अर्थात् जिसके न वर्ण होता है, न गन्ध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, न जन्म और न मरण, वह निरञ्जन कहलाता है। इससे मिलती-जुलती वात मुनि रामसिंह ने 'पाहुड़दोहा' में कही है, वैण्णविहूणउ णाणमउ जो भावइ सब्भाउ। संत निरंजणु सो जि सिउ तहिं किज्जइ अणुराउ।[3] इसका तात्पर्य है कि जो वर्ण-विहीन है, ज्ञानमय है, सद्भाव को भाता है, वह संत और निरंजन है, वही शिव कहलाता है, उसी में अनुराग करना चाहिए। यहाँ मुनि जी ने शिव और 'निरंजन' को एक ही माना है। मूल स्वरूप की दृष्टि से दोनों में कोई भेद है भी नहीं। जैसे 'शिव' का ध्यान लगाने से चित्त का मैल दूर हो जाता है, वैसे ही "चित्ति णिरंजणु को वि धरि मुच्चहि जेम मलेण।"[4] निरंजन शब्द का अर्थ ही 'मलरहित' है। 'कल्प सुबोधिका' में लिखा है, "रंजनं रागाद्युपरञ्जनं तेन शून्यत्वात् निरञ्जनं।" स्थानांग सूत्र में भी "रंजनं रागाद्युपरञ्जनं तस्मान्निर्गतः" को निरंजन कहा है।[5] अञ्जन का अर्थ है मैल। राग भी मैल ही है, अतः उससे छुटकारा पाने वाला निरंजन है। मुनि कनकामर ने भी 'करण्डुचरिउ में जिन दो तीन स्थानों पर 'निरंजन' शब्द का प्रयोग किया है, वह भी इसी अर्थ में है। इस सवसे स्पष्ट है कि उस भगवान् को निरंजन कहो, सिद्ध, शिव या निर्गुण एक ही वात है। अपभ्रंश-साहित्य में जिस शब्द का सवसे अधिक प्रयोग हुआ, वह निरंजन है।

वनारसीदास इसी परम्परा से प्रभावित थे। उन्होंने भी निरंजन को सिद्ध के रूप में ही स्वीकार किया है। यह वात उनके द्वारा निरूपित सिद्ध के स्वरूप से प्रमाणित है। उन्होंने "अलख अमूरति अरूपी अविनासी अज, निराधार,

---

१. अकलंक स्तोत्र, १० वाँ श्लोक।

२. परमात्मप्रकाश, १।१९, पृ० २७।

३. मुनि रामसिंह, पहुड़दोहा, डॉ० हीरालाल जैन सम्पादित, कारंजा (वरार), वि० सं० १९९०, ३८ वाँ दोहा, पृ० १२।

४. अब्भितरचित्ति वि मइलियइ वाहिरि काइं तवेण।
चित्ति णिरंजणु कोवि धरि मुच्चहि जेम मलेण॥
—देखिये वही, ६१ वां दोहा, पृ० १८।

५. अभिधान राजेन्द्र कोश, चतुर्थ भाग, पृ० २१०८।

निगम निरंजन निरंध है ।[1]" कह कर सिद्ध का ही प्रतिपादन किया है । उनकी दृष्टि में यह निरंजन चिदाकार, निराकार, निरधार, निर्वाचक, निर्मम, निरजोग और चरित्रधाम है ।[2] यहाँ निर्मम का अर्थ क्रूर नहीं है, अहिंसा के प्रतीक जिनेन्द्र में उसकी सम्भावना नहीं हो सकती । निर्मम का 'मम' ममता का द्योतक है और ममता मोह को कहते हैं, अर्थ हुआ कि निरंजन मोह–रहित है । जैन सिद्धान्त के आठ कर्मों में 'मोहनीय' एक 'प्रबलतम' कर्म माना जाता है । उसका घात करना कठिन है । साधक को समूची साधना खपानी होती है । मोह के क्षीण हुए बिना ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त नहीं हो सकता । तो निरंजन निर्मम है, इसका अर्थ इतना ही है कि वह ज्ञान के अनिर्वचनीय रस से संयुक्त है । बनारसी-दास ने 'शिव पच्चीसी' में 'निर्गुण रूप निरंजन देवा' लिखकर 'निरंजन' को निर्गुण माना और साथ ही 'सगुण स्वरूप करै विधि सेवा' के द्वारा उसे सगुण भी कहा ।[3] निर्गुण ही मुख्य है, सगुण तो उसके भावलिंग की मूर्ति है, जो अव्यापक दोष से दूषित तो रहेगी ही । सगुण के महान् उपासक तुलसी भी 'ब्रह्म' का मूल रूप 'निर्गुण' ही स्वीकार करते हैं । यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो उनकी 'विनय पत्रिका' का मूलस्वर निर्गुण-परक है । बनारसीदास ने निरंजन को 'परमगुरु', 'परमपुरुष' और 'भगवान्' भी कहा । भगवान् भय-भञ्जन होता है और उनका 'निरंजन' भी ऐसा ही है । 'परमसमाधिगत' उस निरंजन की बनारसी ने श्रद्धापूर्वक वन्दना की है ।[1] उनका मत है कि संतोष को साधे बिना निरञ्जन की आराधना नहीं हो सकती ।[2] संतोष को साधने का अर्थ है—

---

१. बंध द्वार ५४, नाटक समय सार, पृष्ठ ७८ ।

२. चरित्रधाम चित् चमत्कार । चरनातम रूपी चिदाकार ।
निर्वाचक निर्मम निराधार । निरजोग निरञ्जन निराकार ॥
—सहस्रनाम, २३ वाँ पद्य, बनारसीविलास, पृ० ५ ।

३. भाव लिंग सो मूरति थापी । जो उपाधि सो सदा अव्यापी ।
निर्गुण रूप निरंजन देवा । सगुण स्वरूप करै विधि सेवा ॥
—शिव पच्चीसी, ७ वाँ पद्य, बनारसीविलास, पृ० १५० ।

४. परमनिरञ्जन परमगुरु, परमपुरुष परधान ।
वन्दहुँ परम समाधिगत, भय-भंजन भगवान् ॥
कर्म छत्तीसी, पद्य १, बनारसीविलास, पृ० १३६ ।

५. 'साधि सन्तोष अराधि निरंजन,
देइ सुसीख न लेइ अदन्ता ।'
निर्जरा द्वार । १०, नाटक समयसार, पृ० ४८ ।

तृष्णाओं पर विजय प्राप्त करना। अर्थात् तृष्णाओं पर विजय पाना अनिवार्य है। उसके बिना कोई 'निरञ्जन' की भक्ति चाहकर भी नहीं कर सकता। संसारी जीव के राग-द्वेष का मुख्य कारण है—मन की दुविधा। यदि 'दुविधा' हट जाय तो मन को निरञ्जननाथ पर केन्द्रित किया जा सकता है। जब भक्त अपने मन को भगवान् पर टिकाने के लिए बेचैन हो उठे, तो समझ लो कि उसकी मन की दुविधा चली ही जायगी। बनारसीदास की "दुविधा कब जैहै या मन की। कब निजनाथ निरञ्जन सुमिरौं तज सेवा जन-जन की।" 'अध्यात्मपद पंक्ति' से यह स्पष्ट ही है।[1]

जैन परम्परा के अनुसार जिनेन्द्र और निष्कलंक आत्मा में कोई अन्तर नहीं है। आत्मा के कलंक-रहित होने पर यदि कोई अपने आपको जिनेन्द्र कहने लगे तो असत्य न होगा। बनारसीदास ने 'परमार्थ हिण्डोलना' में 'स्व' को 'निरञ्जननाथ' माना और उसे 'अबन्ध' 'अदीन' तथा 'अशरण' कहा। यहाँ अशरण से उनका तात्पर्य 'अशरण शरण' है। जो अनाथों को शरण देता है, उसका स्मरण और जाप सभी करते हैं, बनारसी ने भी किया।[2] बनारसीदास की आत्मा और निरञ्जननाथ पर्यायवाची हैं। दोनों के स्वरूप में साम्य है और दोनों की भक्ति में कोई भेद नहीं है।

चाहे जैन अपभ्रंश साहित्य हो या हिन्दी काव्य, किसी में भी बौद्धों के सिद्ध साहित्य और निरंजनियाँ सम्प्रदाय की भाँति निरञ्जन के विकृत रूप के दर्शन नहीं होते। डॉ० द्विवेदी ने 'कबीरदास' में लिखा है कि आगे चलकर निरञ्जन एक पुरुष भर रह गया, जिसके चारों ओर जादू-टोना और धार्मिक आवरण में व्यभिचार मजबूत कदमों से शान के साथ चलने लगा। यह हुआ तभी जब 'निरञ्जन' अपने निर्गुण ब्रह्म के पद से नीचे गिर गया और विकृत सिद्धियों के केन्द्र के रूप में पूजा जाने लगा। पहले जो सात्विकता का प्रतीक था, अब राजसिकता का प्रतीक हो गया। अब उसके सहाय्य से साधारण मानव की लैंगिक और आर्थिक आकांक्षायें सन्तुष्ट हो उठीं। अब उसकी आराधना सहस्र-सहस्र कण्ठों और सहस्र विधियों से सम्पन्न होने लगी। किन्तु जैन साहित्य का कोना-कोना झांकने के बाद भी निरञ्जन का यह रूप कहीं उपलब्ध नहीं हुआ।

---

१. आध्यात्मपद पंक्ति, पद १३ वाँ, बनारसीविलास, पृष्ठ २३१।

२. कबहूँ अबंध अदीन अशरन, लखत आपहि आप।
   कबहूँ निरञ्जन नाथ मानत, करत सुमरन जाप॥
   परमार्थ हिण्डोलना, ६ठा पद्य, बनारसीविलास, पृ० २३८।

वह निष्कल ब्रह्म ही वना रहा और इसी रूप में उसकी साधना चलती रही। जैन साहित्य में भी मन्त्र और जादू दोनों की वातें हुईं। मन्त्र वने, उनकी क्रियायें रची गईं और तत्सम्वन्धी पुस्तकों का निर्माण हुआ। इन मन्त्रों के आराध्य देव और देवियों का विवेचन मैंने 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि' में किया है।[१] किन्तु वहाँ निरञ्जननाथ का नाम भी नहीं है। अन्य देव-देवियाँ हैं, सभी शालीन और उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित। वहाँ व्यभिचार-जैसी वात तो पनप ही नहीं सकी।

यद्यपि वनारसीदास के काव्य में अध्यात्म-मूला भक्ति ही प्रमुख है, किन्तु अर्हन्त-भक्ति के रूप में सगुण-भक्ति के दृष्टान्त भी अल्प नहीं हैं। बनारसी ने 'नाटक समयसार' में 'नवधा-भक्ति' का उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा है, "श्रवन कीरतन चितवन सेवन वन्दन ध्यान। लघुता समता एकता नौधा भक्ति प्रवान॥"[२] इसमें लघुता मुख्य है। जव तक भक्त अपने को लघुतम और आराध्य को महत्तम न मानेगा, उसमें भक्ति का निर्वाह सम्भव नहीं है। 'तुलसी की भक्ति' में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसी मान्यता को भक्ति का प्रथम और अनिवार्य सोपान कहा है। वनारसी के काव्य में लघुता का रूप ही मुख्य है। अपनी लघुता और आराध्य की महत्ता अविनाभावी हैं। एक-दूसरे के विना नहीं चल सकती। प्रभु की महिमा का वखान करते हुए वनारसी ने लिखा, "प्रभु का स्वरूप अत्यधिक अगम्य और अथाह है, हमसे उसका वर्णन नहीं हो सकता, जैसे दिन में अन्धा हो जाने वाला उलूक-पोत रवि-किरन के उद्योत का वर्णन नहीं कर सकता।[३]" एक दूसरे स्थान पर वनारसी का कथन है—"जैसे बालक अपनी भुजा फैलाकर भी सागर को पार करने में असमर्थ है, वैसे ही मैं मतिहीन होने के कारण प्रभु के असंख्य निर्मल गुणों का वर्णन कैसे करूँ?"[४] तीसरी जगह

---

१. 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि', भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, १९६३ ई०, पृ० १४१-१९६।

२. नाटक समयसार, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, वम्वई, पृ० २७७।

३. प्रभुस्वरूप अति अगम अथाह। क्यों हमसे यह होइ निवाह।
ज्यों दिन-अन्ध उलोको पोत। कहि न सकै रवि-किरन उदोत॥
कल्याण मन्दिर स्तोत्र भाषा, ४था पद्य, वनारसीविलास, पृ० १२४।

४. तुम असंख्य निर्मल गुणखानि। मैं मतिहीन कहौं निजवानि॥
ज्यों वालक निज वांह पसार। सागर परिमित कहै विचार॥
—वही, ६ ठा पद्य, वनारसी विलास, पृ० १२४।

वनारसी का भक्त असमंजस में पड़ा हुआ है कि "प्रभु के भारी गुणों की भक्ति का वोझ हलके-से दिल पर कैसे धारण किया जाये, किन्तु प्रभु की महिमा अपरम्पार है, जिसके कारण यह जीव लघु होकर ही संसार को पार कर सकता है।[1]" इस भाँति भक्त की लघुता और प्रभु की महिमा के अनेकानेक उदाहरण वनारसी-काव्य में छिटके पड़े हैं।

वनारसी के अराध्य की सबसे वड़ी विशेषता है, उसकी उदारता। उदारता भी ऐसी-वैसी नहीं—परले सिरे की। एक वार स्मरण करने मात्र से पापी-से-पापी के सव दुःख दूर हो जाते हैं। दुखों में मुख्य है भय। पापात्मा भयभीत हो काँपता रहता है। उसकी तड़फन, जो अभिव्यक्त नहीं हो पाती, उसे कोंचती ही रहती है। जिसके स्मरण से भय निर्मूल हो जायं, वह भगवान् वहुत वड़ा है और उतनी ही वड़ी है उसकी उदारता। ऐसे प्रभु के सहारे टिक पाता है भक्त का अटूट विश्वास और आशा की श्वांसों में वह जीवित रहता है। वनारसीदास प्रारम्भ से ही भगवान् पार्श्वनाथ के भक्त थे। वे जैन परम्परा में २३ वें तीर्थंकर माने जाते हैं। उनका जन्म ईसा से ८०० वर्ष पूर्व वनारस में हुआ था। उनका शरीर सजल जलद की भाँति था। उनके सिर पर सात फँण वाले सर्प का मुकुट सुशोभित रहता था। उन्होंने कमठ के मान का दलन किया था। वे मदन के विजेता और धर्म के हितैषी थे। वनारसीदास के समूचे भय, उनका नहीं, उनकी भक्ति का स्मरण करने से ही दूर हो गये—

"मदन–कदन – जित परम धरम हित,
सुमिरत्ति भगति भगति सव डरसी।
सजल – जलद – तन मुकुट सपत फन,
कमठ – दलन जिन नमत वनरसी ॥"[2]

जो प्रभु भक्त को अभय न दे सका, वह भले ही शील-सना हो और भले ही सौन्दर्य का अधिष्ठान हो, एकनिष्ठ श्रद्धा का अधिकारी नहीं हो पाता। भक्त किसी-भी कोटि का हो, भगवान् की शक्ति-सम्पन्नता पर ही रीझता है। जिनेन्द्र में शील-सौन्दर्य ही नहीं, शक्ति भी होती है। उन्हें 'अनन्त वीरज' का धनी भी

---

१. तुम अनन्त गरुवा गुण लिये। क्योंकर भक्ति धरूँ निज हिये॥
ह्वै लघुरूप तिरहि संसार। यह प्रभु महिमा अकथ अपार॥
—वही, १३ वाँ पद्य, बनारसी विलास, पृ० १२५।

२. पार्श्वनाथ स्तुति, नाटक समयसार, दिल्ली, पृ० १।

कहा जाता है। तभी तो वे बादल के समान पाप रूपी धूल को हरने में समर्थ होते हैं। उनके भक्त को संसार के आवागमन का भय नहीं रहता। वे यम को दल डालते हैं और नरक-पद को तो समाप्त ही कर देते हैं। उनका भक्त अगम्य और अतट भव-जल को तैर कर पार कर जाता है। उन्होंने स्वयं मदन-रूपी-वन को शांकरीय अग्नि के ताप से भस्म कर दिया है। ऐसे प्रभु के जै-जै के गीतों से सब दिशायें ध्वनित हो उठती हैं। बनारसी ने भी उनकी चरण-वन्दना करते हुए लिखा है—

"पर अघ रजहर जलद,
सकल जन--नत भव-भय – हर।
जम–दलन नरकपद–क्षय--करन,
अगम अतट भव--जल--तरन ।।
वर सबल–मदन--वन--हरदहन,
जय--जय परम अभय करन ।।"[1]

बनारसी का आराध्यदेव देव ही नहीं हैं, अपितु देवों का देव है। इन्द्रादिक उनके चरणों का स्पर्श कर धन्यभाग्य बनते हैं। ऐसा करने से मुक्ति स्वयं प्राप्त हो जाती है।[2] प्रयास नहीं करना पड़ता, तप नहीं तपना पड़ता, साधना नहीं साधनी पड़ती। वह मुक्ति जो चरणों का स्पर्श करते ही सध जाय, सच्ची मुक्ति है। उसमें ज्ञान की ऊष्मा नहीं, भाव-भीनी शीतलता होती है। यह ही मुक्ति भक्त कवियों की अनुभूति का विषय है। 'मुक्ति,' जिसे कबीर ने 'ब्रह्मलोक' कहा; सदैव दिव्य ज्योति से प्रकाशवन्त रहती है। बनारसी का देव भी सूर्य के समान प्रभा-मंडल से व्याप्त है। उसके प्रभाव से मिथ्यात्व-रूपी अन्धकार जड़-मूल से नष्ट हो जाता है और प्रकाश सतत छिटका रहता है।[3] मुक्ति उसी का प्रकाश पा दैदीप्यमान बनती है। ऐसा देव दीनदयालु होता ही है। उसके इसी गुण के सहारे भक्त दुःख

---

१. वही, दूसरी स्तुति, नाटक समयसार, पृ० १–२।

२. जगत में सो देवन को देव।
जासु चरन परसैं इन्द्रादिक होय मुकति स्वयमेव ।।
—अध्यात्मपदपंक्ति, १५ वाँ पद्य, बनारसी विलास, पृ० २३२।

३. सूर समान उदोत है, जग तेज प्रताप घनेरा।
देखत मूरत भावसौं, मिट जात मिथ्यात अंधेरा ।।
—वही, २१ वाँ पद्य, विलास, पृ० २३६।

और संकट से छुटकारा प्राप्त करने में समर्थ हो पाता है। बनारसी का कथन है—

"दीनदयालु निवारिये, दुख संकट जोनि बसेरा।
मोहि अभय पद दीजिये, फिर होय नहीं भव-फेरा ॥"[1]

ऐसे 'भगवन्त' की 'भगति' बनारसीदास के हृदय में बसी है। भक्ति कृत्रिम नहीं है, उसमें सहज भाव है। सरल हृदय में कृत्रिमता नहीं होती। वह दिखावे से दूर रहता है। बनारसी की भक्ति भी स्वाभाविक ही थी। यह बात और भी पुष्ट हो गई जब यह विदित हुआ कि 'कुमति' कहीं चुपचाप विलीन हो गई और 'सुमति' न-जाने कब आ विराजी है। वह हृदय, जो तमसाच्छन्न रहता था, अब विमल ज्योति से जगमगा उठा है। जो हृदय क्रूरता की उष्ण उसांसों से तप्तायमान था, अब 'दया' की मन्द-सुगन्ध पवन से शीतलता का अनुभव कर रहा है। लालसा अब भी जन्म लेती है, किन्तु वह भगवान् के दर्शन के अतिरिक्त और किसी की नहीं होती। यदि भक्त हृदय भगवान् के सम्मुख जा आरती करने को ललकता है, तो उसमें सन्निहित लालसा भगवद्परक होने के कारण दिव्य ही ठहरायी जायगी। उद्दाम भक्ति-भीने भाव हृदय में समाते नहीं, तो उमंगित हो, तटों को तोड़ बाहर फूट पड़ते हैं। उनका यह बलात् विस्फोट भक्ति का पावन चित्र है। सूरदास का 'शोभा-सिन्धु न अन्त लही री' इसका निदर्शन है और बनारसी का "कबहौं सुभारती ह्वै बाहिर बगति है" में भी वह ही बात है।[2]

---

१. आध्यात्म पद पंक्ति, २१ वाँ पद्य, बनारसीविलास, पृ० २३६।

२. कबहों सुमति ह्वै कुमति को विनाश करै,
कबहों विमल ज्योति अन्तर जगति है।
कबहों दया ह्वै चित्त करत दयाल रूप,
कबहों सुलालसा ह्वै लोचन लगति है॥
कबहों आरती ह्वै के प्रभु सनमुख आवे,
कबहों सुभारती ह्वै बाहरि बगति है।
धरै दसा जैसी तब करै रीति तैसी ऐसी,
हिरदै हमारे भगवन्त की भगति है॥
नाटक समयसार, १।१४, पृष्ठ ५।

बनारसी का आराध्य 'सुख-सागर' था। अर्थात् उसका सुख ऐसा था, जिसमें जन्म-मरण, लाभ-हानि और लीन-विलीन का अस्थैर्य नहीं था; वह सहज था। अर्थ है, स्वाभाविक था, दिव्य था, एकतान था। उसमें ज्ञान का उजाला था, वह भी सहज ही था, प्रयत्नपूर्वक कहीं से लाया नहीं गया था। अर्थात् वह आत्मा का स्वाभवरूप स्वतः ही खिल उठा था। जब अज्ञान की परतें हट जाती हैं तो ज्ञान 'रात्र्यँधकार' के उपरान्त जगमगाती ऊषा की भाँति स्वत: दमक उठता है। जिसमें उसका यह सहज शुभागमन हो चुका है, वह सहज सुख-सागर है। बनारसी ने 'नाटक समयसार' में उसे "ज्ञान को उजागर सहज सुख-सागर" कहा है। किन्तु यह सहज सुख तभी उत्पन्न हुआ, जबकि वह देव पहले से ही श्रेष्ठ गुण रूपी रत्नों का आगर था। श्रेष्ठ गुण के दो मोड़ होते हैं—एक संसार की ओर मुड़ता है और दूसरा दिव्य लोक की ओर। बिना श्रेष्ठ गुणों के सांसारिक वैभव उपलब्ध नहीं होते, यहाँ श्रेष्ठ गुणों का तात्पर्य ऐसे गुणों से है, जिनके सहारे यह जीव धनोपार्जन करता है और अन्य सांसारिक व्यवहारों में प्रतिष्ठित माना जाता है। दूसरा परमसुख से सम्बन्धित है। यहाँ 'श्रेष्ठ गुण' का अर्थ 'आध्यात्मिक गुण' से है। उनके बिना बड़े-से-बड़ा भक्त भव-सागर नहीं तैर सकता और न 'ब्रह्मलोक' पाने में समर्थ हो पाता है। इस प्रकार श्रेष्ठगुण दो अर्थों से समन्वित है, अर्थात् श्लेषवाची है। इस श्लेष-जन्य द्वैध को मिटाने के लिए बनारसीदास ने लिखा कि वह 'सगुन-रतनागर' तो है, किन्तु 'विराग-रस-भर्यौ' है। विराग-रस से भरा श्रेष्ठ गुण संसार से विरक्ति दिलाने वाला ही होगा। इसका तात्पर्य निकला कि उसमें चक्रवर्ती का पद और वैभव दिलाने की क्षमता होगी, किन्तु विराग-रस से संलग्न होने के कारण, वैभव-सम्पन्न, वैभवों को त्यागता हुआ वन की राह लेगा। धन और वन के प्रति उदासीनता, संसार और संसार के प्रति वैराग्य, दोनों साथ-साथ चलते हैं। दोनों का यह गठबन्धन जितना पावन है, उतना ही आकर्षक। बनारसी का "सगुण-रतनागर विराग रस भर्यौ है"[२] इसी का निदर्शन है।

इसी संदर्भ में वीतरागी भगवान् से 'वैभव-याचना' का अर्थ समझा जा सकता है। अपने-अपने आराध्य से भौतिक कामनाओं के पूर्ण होने की प्रार्थना वैष्णव और जैन दोनों ने की। दोनों को सफलता प्राप्त हुई, यह तथ्यांशों के

---

१. वही, १।५, प्रथम पंक्ति, पृष्ठ २।

२. नाटक समयसार, १।५, द्वितीय पंक्ति, पृष्ठ २।

रूप में उपलब्ध है। फिर भी दोनों में अन्तर था। एक की वैभव-याचना के मूल में वीतरागता का स्नेह सन्निहित था, दूसरे की विशुद्ध भौतिकता से सम्बन्धित थी। एक अपने आराध्य से सांसारिक वैभव मांगता, किन्तु उनसे विरक्त होने का भाव, साथ में स्वभावत: चिपका होता, तो दूसरे की वैभव-याचना जीवन-पर्यन्त उपभोग के लिए होती। वीतरागी परम्परा में जिन पुण्य प्रकृतियों से चक्रवर्ती की विभूति मिलती, उन्हीं से उसे त्यागने का भाव भी उपलब्ध होता। सम्राट् भरत, जिन्होंने कैलाश के शिखर पर समूचे विश्व का जयघोष किया था, एक दिन वन की राह लेने को मचल उठे। अकस्मात् 'उपयोग' जागृत होता है, और चक्रवर्ती सम्राट् को भी साम्राज्यों की लक्ष्मी प्रात: की वेश्या-इव फीकी और अनाकर्षक प्रतीत हो उठती है। उसे वैभव की चकाचौंध अटका नहीं पाती। वह सबके मध्य नग्न होकर तप साधने चल पड़ता है। खवास खड़े रह जाते हैं, धन-धान्य पड़े-के-पड़े ही रहते हैं और पुत्र-पौत्रादिक अड़े ही रहते हैं, किन्तु वह चला जाता है, रुकता नहीं। अन्त: की अदम्य प्रेरणा उसे रुकने नहीं देती। ऐसी होती है जैन भक्त की वैभव-याचना। भौतिकता की पृष्ठभूमि में निलीन आध्यात्मिकता की यह गौरवपूर्ण सुषमा विश्व-साहित्य के किस पृष्ठ पर अंकित मिलेगी? इससे जैन भक्ति-परम्परा का एक महत्वपूर्ण तथ्य भी सामने आ जात है कि राग ही विराग है, यदि उसके साथ 'विरक्ति' का भाव सन्निहित है। परिग्रह ही अपरिग्रह है, यदि उसके पीछे विरक्ति का आरकेस्ट्रा बजता ही रहता है। जीव ही ब्रह्म है, यदि उसका मूल स्वर विरक्ति के सांचे में ढला होता है। जैन भक्ति का यह एक विशिष्ट पहलू है, जो स्पष्ट होते हुए भी अभी तक अनभिव्यक्त की भाँति पड़ा रहा है।

बनारसीदास ने अपने आराध्य के नाम की महिमा सूर-तुलसी की भाँति ही समझी थी। उनको विश्वास था कि जिनेन्द्र के नामोच्चारण में अमित बल है। जिस भाँति पारस के स्पर्श से कुधातु स्वर्ण बन जाती है, ठीक वैसे ही जिनेन्द्र का नाम लेने से पापीजन भी पावन हो जाते हैं। विश्व में सुयश से भरा नाम दोनों का है-एक तो भगवान् का और दूसरे किसी बड़े आदमी का। भगवान् के नाम से भव-सिन्धु तैरा जा सकता है, क्योंकि वह स्वयं अनादि अनन्त है, उनके साथ मरने-जीने की व्याधि संलग्न नहीं है। किसी बड़े आदमी का सुयश विस्तृत अवश्य हुआ है, किन्तु वह अस्थिर है और असत्य। जो मृत्यु और जीवन के फेरों से उबर नहीं सका, वह क्या सत्य होगा और क्या स्थिर। भक्त को पूरा विश्वास है कि भगवान् के नाम की महिमा अगम और अपार है। एक वह

ही समूचे त्रिभुवन का आधार बनने की सामर्थ्य रखता है।[1] वह नाम किसी सरोवर के कमलों का स्पर्शकर मंद सुगन्ध शीतल पवन की भाँति ग्रीष्म की भयंकर जलन का निवारण करता है।[2] विश्व के संघर्ष ही ग्रीष्म की तपन हैं। भगवान् के नाम से यह जीव उनमें विजय प्राप्त कर शांति और शीतलता का अनुभव कर पाता है। नाम-मात्र से संघर्षों की यह जीत कितनी शानदार और शालीन है। तुलसी की विनयपत्रिका और सूरदास का सूरसागर 'नाम-महिमा' के ही निदर्शन हैं। वहाँ शत-शत पद केवल नाम की महत्ता मुखर हो-होकर घोषित करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि बनारसीदास इन वैष्णव कवियों की नाम-मूला भक्ति से प्रभावित थे। उनके पीछे अपनी ही एक समृद्धतर परम्परा थी। आचार्य समन्तभद्र (दूसरी शती वि० सं०) ने लिखा कि तीर्थंकर अजितनाथ का नाम लेने से घट में विराजे 'आतमराम' अर्थात् 'ब्रह्म' के तुरन्त दर्शन हो जाते हैं।[3] आचार्य 'मेरुतुंग' (वि० सं० सातवीं शती) का विश्वास है कि भगवान् का नाम एक ऐसा मन्त्र है, जिसमें असीम बल होता है। उसके उच्चारण से 'आपादकण्ठमुरुशृंखलवेष्टितांग:' अर्थात् पैर से कण्ठ तक शृंखलाओं से जकड़े और 'गाढ़ बृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघा:' अर्थात् मोटी-मोटी लोहे की जंजीरों से घिस गई हैं जंघायें जिनकी, ऐसे मनुष्य शीघ्र ही बंधनमुक्त होजाते हैं।[4] आचार्य सिद्धसेन (वि०स० ५ वीं शती) ने भी भगवन् के नाम की अचिन्त्य महिमा

---

१. "अनादि अनंत भगवन्त को सुजस नाम,
भव-सिन्धु तारण-तरण तहकीक है।
अवतरै मरै भी धरै जे फिर-फिर देह,
तिनको सुजस नाम अथिर अलीक है।"
'नाम निर्णय विधान', तीसरा कवित्त, बनारसीविलास, पृष्ठ १२५।

२. तुम जस महिमा अगम अपार। नाम एक त्रिभुवन आधार॥
अवै पवन पदमसर होय। ग्रीपम तपन निवारै सोय॥
कल्याणमन्दिर स्तोत्र भाषा, ८ वां पद्य, बनारसीविलास, पृष्ठ १२५।

३. देखिये स्वयम्भूस्तोत्र, दूसरा श्लोक, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली।

४. आपादकण्ठमुरुश्रृंखलवेष्टितांगा, गाढंबृहन्निगडकोटिनिघृष्टजंघा।
त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजा: स्मरंत:, सद्या: स्वयं विगतबन्धभया: भवन्ति।
भक्तामरस्तोत्र, मानतुंगाचार्य, ४६ वां श्लोक।

को स्वीकार किया है।[1] जैन, प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के विपुल साहित्य, जैन पुरातत्व और इतिहास में जिनेन्द्र की नाम-महिमा के शतशः उल्लेख अंकित हैं। इसी महिमा को लेकर अनेक सहस्रनामों की रचना हुई। उनमें भगवज्जिनसेनाचार्य (वि० सं० ९वीं शती), आचार्य हेमचन्द्र (वि० सं० १२-१३ वीं शती) और पं० आशाधर (१३ वीं शती वि० सं०) के सहस्रनाम ख्याति प्राप्त हैं। ऐसी कुछ अन्य कृतियाँ अभी पाण्डुलिपियों तक ही सीमित हैं। मैंने उनका 'जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि' में विवेचन किया है। इसी परम्परा से अनुप्राणित होकर बनारसीदास ने हिन्दी में एक सहस्रनाम लिखा था। वह ललित गुण-सम्पन्न रचना है। बनारसीविलास में उसका संकलन है।[2] तो इस लम्बी और दूर तक फैली परम्परा का बनारसी पर प्रभाव था। जैसा, कुछ विद्वान, वैष्णव-भक्ति पर बौद्धों की महायानी भक्ति का प्रभाव जताने की चेष्टा करते हैं, वैसी बात तो मैं नहीं करना चाहता, किन्तु जैन और वैष्णव भक्ति-काव्यों का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य होना चाहिए, उससे अनेक मौलिक तथ्यों के उद्भावन की सम्भावना है।

कवि बनारसीदास ने 'शृंगार' के स्थान पर 'शान्त' को रसों का नायक कहा है।[3] काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ इसे विवाद-ग्रस्त मान सकते हैं, किन्तु भक्ति के क्षेत्र में उसकी सत्ता का महत्व असंदिग्ध है। जैन और अजैन दोनों ही प्रकार के काव्यों में 'भक्ति' और 'शान्ति' पर्यायवाची हैं। किन्तु जहाँ भक्ति की पृष्ठभूमि हिंसात्मक हो, वहाँ शान्ति का पर्यायवाचित्त्व विचारणीय हो सकता है। मध्यकालीन भक्ति का एक पहलू हिंसा-मूलक था—बलि ही उसका जीवन था। प्रभास-पट्टन के प्रसिद्ध मन्दिर से संलग्न 'शक्ति' के अधिष्ठान की बात प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। वहाँ भाद्रपद की अमावस की रात को ११६ कुँआरी, सुन्दरी

---

१. आस्तामचिन्त्य महिमा जिनसंस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जयन्ति।
—कल्याण मन्दिर स्तोत्र, ७ वाँ श्लोक, काव्यमाला, सप्तम गुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पृ० ११।

२. देखिए बनारसी विलास, जयपुर, पृ० ३—१६।

३. प्रथम सिंगार वीर दूजौ रस, तीजो रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पंचम, छट्ठम रस बीभच्छ विभायक॥
सप्तम भय अष्टम रस अद्भुत, नवमो सांत रसनिकौ नायक।
ए नव रस एई नव नाटक, जो जहं मगन सोइ तिहि लायक॥
—नाटक समयसार, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १०।१३३, पृ० ३९१।

कन्याओं की वलि ही उत्तम श्रद्धांजलि थी। वज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय का भक्त श्मशान में मुर्दे की पीठ पर आसीन होकर, मदिरा के नशे में ध्वस्त, कपाल-पात्र में सद्यः जात नर-रुधिर का पान करता हुआ जिन मन्त्रों का उच्चारण करता है, वे भक्ति के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण थे। किन्तु इस सवके पीछे भी परब्रह्म का दर्शन ही मुख्य था, जो चिर शान्ति का प्रतीक है। अर्थात् भक्त इन हिंसात्मक साधनाओं के परिपेक्ष्य में भी शान्ति चाहता था। उसे अपने प्रयास के ढँग की चिन्ता नहीं थी, भले ही वह उपहासास्पद रहा हो। उसे शान्ति प्राप्त न हो सकी, क्योंकि उसके प्रयत्न गलत थे। अशान्त साधनों से शान्ति की खोज मृग-मरीचिका है। यह वैसा ही है, जैसा रुधिर से धोकर किसी वस्त्र को धवल रूप में प्राप्त करने की अभिलाषा और कीचड़ से मलकर किसी वर्तन की निर्मलता में विश्वास करना। वनारसीदास का जन्म विशुद्ध अहिंसक परम्परा में हुआ था। वे हिंसा की वात सोच भी नहीं सकते थे। वैसे मध्यकालीन जैन, संस्कृत-प्राकृत साहित्य मन्त्र-तन्त्र से प्रभावित हुआ। उनकी देवियाँ मन्त्राधिष्ठात्री वनीं, शक्ति का अवतार मानी गईं। वे भी दुर्जनों के लिए कराला और साधुओं के लिए उदारमना थीं।[1] किन्तु उनमें हिंसात्मक प्रवृत्ति नहीं पनप सकी, कैसे, यह एक लम्वा विपय है। जहाँ तक जैन हिन्दी कवियों का सम्वन्ध है, उन्होंने उस देवी की अधिक आराधना की, जो मन्त्र-तन्त्र से नितान्त अस्पर्श्य थी। वह थी देवी सरस्वती। जैन हिन्दी के अधिकांश काव्यों का प्रारम्भ सरस्वती-वन्दना से हुआ। महाकाव्यों और खण्ड काव्यों के मध्य 'सरस्वती' को प्रतिष्ठित स्थान मिला। मुक्तक रूप में भी उसकी स्तुतियों की रचना की गई। उन्होंने प्राचीन जैन पुरातत्व और संस्कृत-प्राकृत के स्तोत्रों की ही भाँति सरस्वती को शुक्लवर्णा, हंसवाहना, चतुर्भुजा, वरद कमलान्वितदक्षिणकरा और पुस्तकाक्षमालान्वितवामकरा के गीत गाये। वनारसीदास का 'शारदाष्टक' उसका प्रतीक है।[2] उसमें १० पद्य हैं। आगे की समूची सरस्वती-वन्दनाओं पर उसका प्रभाव है। उससे भूधरदास भी अछूते नहीं वच सके हैं। यद्यपि आज तक भारत के प्रत्येक जैन मन्दिर में भूधरदास की 'सरस्वती–वन्दना' का अधिक उच्चारण होता है, किन्तु इसका कारण उसका अधिक प्रचार और प्रकाशन ही कहा जा सकता है। जहाँ तक संगीतात्मक लय का सम्बन्ध है, वह वनारसी में ही अधिक है। एक उदाहरण देखिये—

"अकोपा अमाना अदम्भा अलोभा
श्रुतज्ञान-रूपी मतिज्ञान शोभा।

---

१. देखिए मेरा ग्रन्थ, 'जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि', पृ० १४१–१८२।

२. बनारसी विलास, जयपुर, पृ० १६५–६७।

महापावनी भावना भव्यमानी,
नमो देवि वागीश्वरी जैनवानी ।।
अशोका मुदेका विवेका विधानी,
जगज्जन्तुमित्रा, विचित्रावसानी ।
समस्तावलोका निरस्तानिदानी,
नमो देवि वागीश्वरी जैनवानी ।।"[1]

बनारसीदास ने आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी टीकाओं का तलस्पर्शी अध्ययन किया था । अतः उनमें अध्यात्म रस की प्रधानता हो गई थी । 'नाटक-समयसार' उनकी आत्मानुभूति का ही दीपस्तंभ है । आत्मा भले ही ज्ञान रूप हो, किन्तु उनकी अनुभूति भाव का विषय है, और उसका भावोन्मेष साहित्य का प्राण है । इसी कारण 'समयसार' दर्शन का ग्रन्थ था और 'नाटक समयसार' साहित्य का उत्तम निदर्शन माना गया है । बनारसी का पाठक यह स्वीकार करेगा ही कि उनमें भाव-तन्तु प्रधान थे और इसी कारण वे एक सफल व्यापारी नहीं बन सके । उन्होंने ज्ञान को भी भाव की 'टार्च' से देखा । उनका ऐसा देखना उमास्वाति के 'सम्यक्-दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग,' के अनुकूल ही था । दर्शन का प्रथम सन्निवेश भाव की प्राथमिकता को बताता है । इसके साथ ही यह भी सत्य है कि भाव ने ज्ञान को देखा निरन्तर । ज्ञान के बिना भाव चैतन्य-हीन होकर बालुका के कण-जैसा निस्पन्द रह जाता । ज्ञान के सतत प्रकाश ने भाव को जागृत रखा । दोनों एक-दूसरे के होकर जिये । इसी कारण बनारसी का काव्य ज्ञान-मूला भाव और भाव-मूला ज्ञान का प्रतीक है । अतः उनकी भक्ति कोरी भाव-मूला नहीं, अपितु ज्ञान समन्विता भी थी । उसे लोग भले ही ज्ञान-मूला भक्ति कहें । भाव-मार्गी उसे भक्ति मूलक ज्ञान भी कह सकते हैं । तात्पर्य है कि उनकी भक्ति में आत्म-ज्ञान का पुट मिला रहा । इसी कारण वह पुष्ट हुई, यह बात बनारसीदास के काव्य से स्पष्ट ही है । यदि भक्ति शांति की पर्यायवाची है तो आत्मज्ञान उसका सहचर है । दोनों का अविनाभावी संबंध है । इस सम्बन्ध से बनारसी की भक्ति में जैसा आकर्षण उत्पन्न हुआ, मध्यकालीन अन्य किसी हिन्दी कवि में नहीं । और इसी कारण उन्हें हिन्दी के भक्ति-साहित्य का मान-स्तंभ कहना चाहिए ।

---

१. शारदाष्टक, ६ठा और ९वाँ पद्य, बनारसीविलास, पृ० १६६-६७।

मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियों की शिक्षा-दीक्षा

कवि सधारु (वि० सं० १४११) ने अपने प्रद्युम्नचरित्र में लिखा है, "मैंने एरछ नगर में वस कर यह चरित्र सुना और मैं इस पुराण की रचना में समर्थ हो सका। जो कोई मनुष्य इसे पढ़ेगा वह स्वर्ग में देव होगा और वहाँ से चयकर मुक्ति रूपी स्त्री वरेगा। जो सुनेंगे उनके भी अशुभ कर्म दूर हो जायेंगे।" इससे स्पष्ट है कि उस समय जैन शिक्षा के प्रमुख केन्द्र जैन मन्दिरों में होने वाले शास्त्र-प्रवचन थे। इन प्रवचनों में ऐसे श्रोता भी आते थे जो न पढना जानते थे और न लिखना, केवल श्रवण-मात्र से ही वे जैन सिद्धांत में नैपुण्य प्राप्त कर लेते थे। जो श्रोता पढ़े-लिखे होते थे, वे पण्डित ही बनते थे। पद्य-मय पुराणादि के सुनने से उनमें कवित्व शक्ति का भी उन्मेष होता था। सधारु ने भी ऐसे ही किसी शास्त्र-प्रवचन में प्रद्युम्न चरित्र सुना था।

श्वेताम्बर आचार्य होनहार बालकों को कम उम्र में ही दीक्षा देकर साधु बना लेते थे। साधु बालक की शिक्षा संघ में ही आरम्भ होती थी। वहाँ वह विद्वान् भी बनता था और संयम का आचरण भी करता था। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि मेरुनन्दन उपाध्याय ने कम उम्र में ही, अपने गुरु जिनोदय सूरि से दीक्षा ली थी। जिनोदय सूरि भी केवल ८ वर्ष की उम्र में, जबकि वे समरा कहलाते थे, श्री जिनकुशल सूरि के पास दीक्षित हुए थे। सोमसुन्दर सूरि ने ७ वर्ष की ही वय में जयानन्द सूरि के पास दीक्षा धारण की थी। अपने-अपने गुरुओं के संघ में इन नव दीक्षित बाल साधुओं का अध्ययन चला। यह परम्परा ब्राह्मण आश्रमों की भाँति थी, किन्तु अन्तर इतना ही था कि आश्रम का विद्यार्थी २५ वर्ष के उपरान्त गृहस्थ जीवन में प्रवेश करता था, जबकि जैन दीक्षित बालक के लिए यह अवसर सदा-सर्वदा के लिए बन्द हो चुका रहता था।

सूरियों में विद्वत्ता की परम्परा चली आ रही थी। वे स्वयं तो प्राकृत-संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते ही थे, अपने शिष्यों को भी वैसा ही वनाने का प्रयास करते थे। सोमसुन्दर का जन्म वि० सं० १४३० में हुआ था। उन्होंने १४३७ में साधु पद धारण किया और वि० सं० १४५० में वे एक ख्याति प्राप्त विद्वान् माने जाने लगे थे। वि० सं० १४५७ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होते ही उनका यश चतुर्दिक में व्याप्त हो उठा। अर्थात् उन्हें प्रकाण्ड विद्वान् वनने में २० वर्ष लगे। नन्दिरत्न गणि आदि अनेक विद्वानों ने उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। वे जो कुछ वने अपने गुरु और संघ में रहकर ही।

वह युग वाद-विवादों का था। राज दरवारों में उन्हीं का सन्मान होता था जो विजयी होते थे। सूरियों के शिष्यों की प्रतिष्ठा समूचे भारतवर्ष में थी। कहा जाता है कि उपाध्याय जयसागर के शिष्य सुर-गुरु को भी पराजित करने में समर्थ थे। यह उनकी अखण्ड साधना के अनुकूल ही था। ये साधु-संघ में छोटे-छोटे वालकों को अनवरत परिश्रम के साथ संयम और विद्या के क्षेत्र में अनुपम वना देते थे। आज समूचे विश्व की कोई शिक्षा-संस्था ऐसा नहीं कर सकती। आज यदि कोई विद्वान् वन भी जाता है, तो या तो चरित्र-हीन होता है या अहंकारी। आधुनिक चरित्र की परिभाषा केवल सभा-परिषदों की शिष्टता तक ही सीमित रह गई है। भारतीय शिक्षा संस्थाओं में अनुशासनहीनता चरित्र की कृत्रिम परिभाषा स्वीकार कर लेने से हुई है। मध्यकाल के जैन साधु-संघों में अनुशासन की कोई समस्या नहीं थी। यद्यपि आश्रमों के रहने वाले शिष्य कभी-कभी विद्रोही भी हो जाते थे, जैसा कि 'भूलापारीय जातक' में लिखा है कि एक आश्रम के शिष्यों ने अध्यापकों की समानता का दावा करते हुए उनकी विनय करना त्याग दिया था। किन्तु जैन संघों के शिष्य विनय की मूर्ति ही होते थे। वहाँ एक ऐसा अनुशासन का वातावरण रहता था, जिसमें कोई शिष्य विरोधी विचार ला ही नहीं पाता था।

कलियुग का प्रभाव विद्या-केन्द्रों पर पड़ा था। गुरु के प्रति विद्यार्थी रोष दिखाते थे और अपने हठ पर ही चलते थे। हीरानन्द सूरि ने कलिकालरास का निर्माण वि० सं० १४८६ में किया था। उसमें तत्कालीन विद्यार्थियों और विद्या-केन्द्रों की हीनदशा का वर्णन है। किन्तु उस समय भी जैन संघों के वाल साधु अत्यधिक विनय और श्रद्धा के साथ विद्या ग्रहण में संलग्न थे। हीरानन्द सूरि जैसे चरित्र निष्ठ विद्वान् जिस संघ में वने थे, उसकी परम्परा पर कलियुग का प्रभाव नहीं था। हीरानन्द एक उत्कृष्ट कोटि के कवि भी थे। उन्होंने वस्तुपाल

तेजपालरास, दशार्णभद्ररास, जम्मू स्वामी विवाहला और स्थूलभद्रबारहमासा का निर्माण किया था।

भट्टारक और उनके सम्प्रदाय भी शिक्षा के जीवन्त केन्द्र थे। वे अपने शिष्यों को सूरियों की भाँति ही व्युत्पन्न बनाते थे। वे जैन दर्शन साहित्य और सिद्धांत के साथ-साथ अपने शिष्यों को मन्त्र, ज्योतिष और वैद्यक विद्या भी प्रदान करते थे। भट्टारक सकलकीर्ति संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने संस्कृत में १७ ग्रन्थ लिखे हैं। वे हिन्दी के सामर्थ्यवान् कवि थे। उन्होंने आराधना प्रतिबोधसार, णमोकारफलगीत, नेमीश्वरगीत, और मुक्तावलीगीत आदि अनेक मुक्तक कृतियों का निर्माण किया है। वे मन्त्र विद्या में पारंगत थे। सकलकीर्ति के छोटे भाई ब्रह्मजिनदास (वि० सं० १५२०) भी बहुत बड़े विद्वान् थे। उन्होंने हिन्दी में अनेक प्रबन्ध काव्यों का भी निर्माण किया है। उन्हें समूची शिक्षा-दीक्षा भट्टारक सकलकीर्त्ति से ही मिली। ब्रह्मजिनदास ने अपनी प्रत्येक रचना में अपने बड़े भाई को 'गुरु' भी कहा है। यह सच है कि भट्टारकों की शिष्य परम्परा अक्षुण्ण गति से चलती रही। उनका 'सरस्वती गच्छ' सरस्वती प्रदान करने में सदैव प्रसिद्ध रहा। उनके विद्यार्थी आध्यात्मिक चिन्तन और कवित्व शक्ति के केन्द्रीभूत प्रमाणित होते रहे हैं।

उस समय शिक्षा, दीक्षा और विद्या देने वाले गुरु पृथक्-पृथक् होते थे। दीक्षा वही दे सकता था जिसने विद्या और चरित्र को समान रूप से अपने जीवन में उतार लिया हो। उसे आचार्य कहते थे। सूरि और भट्टारक दोनों ही दीक्षा देने का कार्य करते थे। विद्या-गुरु को 'उपाध्याय' कहा जाता था। लघुराज को दीक्षा देने वाले थे श्री लक्ष्मीसागर सूरि (वि० सं० १५२६) और विद्या-गुरु थे श्री समयरत्न। दीक्षा के समय दीक्षागुरु नवदीक्षित को नया नाम देता था। लघुराज दीक्षा के बाद लावण्य समय कहलाये। दीक्षा के समय शिष्य की पात्रता की जांच की जाती थी। इस जांच के साधनों में ज्योतिष का प्रमुख स्थान था। मुनि समयरत्न ने लघुराज के जन्माक्षरों पर विचार करके ही कहा था कि तुम्हारा पुत्र तप का स्वामी होगा अथवा वह कोई तीर्थ करेगा।

सूरियों और भट्टारकों में कवित्व शक्ति का होना भी गौरव का विषय माना जाता था। उनके संघों का वातावरण ऐसा होता था कि दीक्षित बालक यथा समय स्वतः कविता कर उठता था। थोड़ा-बहुत प्रयत्न भी अवश्य ही किया जाता होगा। लावण्यसमय ने एक स्थान पर लिखा है, "सोलहवें वर्ष में मुझ पर

सरस्वती की कृपा हुई और कवित्व शक्ति का जन्म हुआ।" संवेगसुन्दर उपाध्याय (वि० सं० १५४८) भी ऐसे ही एक कवि थे। उनमें कवित्व शक्ति का जन्म गुरु के सान्निध्य से हुआ था। इनकी कवित्व शक्ति को स्फुरण देने के लिए प्रयत्न भले ही हुआ हो, किन्तु वे 'कृच्छ प्रयत्न-साध्य' नहीं थे, ऐसा उनकी कविता से प्रमाणित ही है।

मन्त्र विद्या का शिक्षण सूरिसंघ और भट्टारक सम्प्रदाय की विशेषता थी। यह विद्या १६ वर्ष से कम के विद्यार्थी को नहीं दी जाती थी। ईश्वर सूरि (वि० सं० १५६१) ने नाडलाई के मन्दिर की आदिनाथ की प्रतिमा का, मन्त्र के वल पर ही उद्धार किया था। यह वह प्रतिमा थी, जिसे यशोभद्र सूरि (वि० सं० ६६४ में) मन्त्र शक्ति के वल पर लाये थे। भट्टारक ज्ञानभूषण को जो असीम ख्याति प्राप्त हुई थी, उसका कारण विद्वत्ता और कवित्व शक्ति के साथ मन्त्र शक्ति भी थी। उन्हें ये तीनों शक्तियाँ अपने गुरु भुवनकीर्ति से प्राप्त हुई थीं। इनके आधार पर ही राजाधिराज देवराज ने उनके चरणों की आराधना की थी। भट्टारक शुभचन्द्र भी इसी परम्परा में हुए हैं। उन्हें तो 'त्रिविध विद्याधर' और 'षट्भाषा कवि चक्रवर्त्ती' कहा जाता है। वे भी मन्त्र-विशारद थे। दोनों उपर्युक्त भट्टारकों की गणना हिन्दी के उत्तम कवियों में की जाती है। इन विद्वानों के निर्माण का श्रेय गुरु को तो है ही, किन्तु संघों के उस वातावरण को भी है, जिसके निर्माण में परम्पराएँ खप गई होंगी। विद्यार्थी को प्रेरणा मिलती थी और वह अधिकाधिक जिज्ञासा के साथ आगे वढ़ता ही जाता था।

विद्वानों की विद्या-प्राप्ति में राजाओं के हस्तलिखित संग्रहालयों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने इन संग्रहालयों में वैठकर विद्याध्ययन किया और नवीन कृतियों का निर्माण भी किया। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपना प्रसिद्ध शोध ग्रन्थ 'समयसार' एक राजपुस्तकालय में ही वैठकर पूरा किया था। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि विनयचन्द्र मुनि (वि० सं० १५७६) ने अपना ख्याति प्राप्त काव्य 'चूनड़ी' गिरिपुर के नरेश अजयराज के राजविहार में वैठकर लिखा था।

हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह राजपुस्तकालयों के अतिरिक्त प्रत्येक जैन मन्दिर के सरस्वती भण्डारों में भी रहता था। आज भी जैन मन्दिर सरस्वती भण्डारों के बिना अधूरे ही माने जाते हैं। उस समय वड़े-वड़े नगरों के प्रमुख मन्दिरों के सरस्वती-भण्डार ऐसे हस्तलिखित ग्रन्थों से भरे रहते थे। उनसे

जनसाधारण तो लाभान्वित होता ही था, विद्वान् और मुनियों की खोजें भी उन्हीं पर आधारित थीं। कवि ठकुरसी ने चम्पावती के पार्श्व जिन मन्दिर में बैठकर ही अनेक काव्यों का निर्माण किया था। चम्पावती धन-धान्य से पूर्ण नगरी थी। उसके वैभव का वर्णन 'अन्तगडदसाओं' में किया गया है। वहाँ का जैन साध्वी विद्यालय प्रसिद्ध था। इसी विद्यालय में महाराज श्रेणिक की पत्नी काली और सुकाली ने जिन-दीक्षा लेकर अध्ययन किया था। इसकी आचार्या 'अज्जा-चन्दना' थी। ब्रह्म अजित (१६ वीं शती) ने भडौंच के जैन मन्दिर के सरस्वती भंण्डार में रहकर ही संस्कृत में 'हनुमच्चरित्र' की रचना की थी। इसमें २००० श्लोक हैं। भडौंच भी व्यापारिक कन्द्र होने के कारण एक समृद्धिशाली नगर था। इसी भाँति कुशललाभ (वि० सं० १६१६) ने जैसलमेर के रावल हरराज के प्रसिद्ध जैन मन्दिर में बैठकर 'पूज्यवाहणगीतम्' आदि भक्ति परक मुक्तक काव्यों का निर्माण किया था। जैसलमेर भारत का प्रमुख शिक्षा केन्द्र था।

कवि बनारसीदास के 'अर्धकथानक' से स्पष्ट है कि उस समय जौनपुर जैसे समृद्धिशाली नगर में भी कोई विशाल जैन विद्यालय नहीं था। उनके पिता खड्गसेन ने एक चटशाला में शिक्षा पाई थी। बनारसीदास भी उसी में पढ़े थे। उसके मुख्य विषय अक्षर-ज्ञान और गणित थे। और अधिक शिक्षा लेने के लिए बनारसीदास को पं० देवदत्त के पास भेजा गया। इन पडितों के घर हायर सेकेण्डरी स्कूल का काम करते थे। पं० देवदत्त के गृह-स्कूल के मुख्य विषय-कोष, ज्योतिष, साहित्य और धर्म के साथ-साथ कोकशास्त्र भी था। इससे प्रतीत होता है कि अनिवार्य विषयों में कोकशास्त्र की गणना थी। इसके अध्ययन से बालक मानव की मूल और प्रमुख मनोवृत्ति को सही रूप में समझ पाता था। बनारसीदास आसिखबाज बने थे, वह कोकशास्त्र का नहीं, अपितु उनकी संगति का प्रभाव था। किसी भी विषय की सही जानकारी, जीवन को सही मोड़ देती है, गलत नहीं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि पं० देवदत्त की शिक्षा भी कॉलिज-स्तर की नहीं थी। बनारसीदास को पंडित बनाने का श्रेय उस 'सैली' को है, जिसके वे स्थायी सदस्य थे। 'सैली' का अर्थ है 'गोष्ठी'। आगरे में एक ऐसी गोष्ठी थी, जिसमें निरन्तर आध्यात्मिक चर्चा हुआ करती थी। इस चर्चा को सुष्ठु रूप देने के लिए, गोष्ठी के सदस्य अपने व्यापारिक कृत्यों को छोड़कर भी अध्यात्म संबंधी ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। बनारसीदास और उनके साथियों ने पहले समयसार

की राजमल्लीय टीका पढ़ी और उससे वे कुपथगामी हो गये। जब पाण्डे रूपचन्द्र जी वहाँ आये तो उनसे गोम्मटसार पढ़ने के उपरान्त उनका ज्ञान निर्मल हुआ। बनारसीदास ने इस गोष्ठी में पढ़ा, सुना और मनन किया। परिणाम-स्वरूप वे पंडित बन गये। कवित्व शक्ति तो उन्हें जन्म से ही मिली थी। इस पाण्डित्य के समन्वय से उनकी रचनाएँ 'भावसंकुल ज्ञान' की प्रतीक हैं।

यह 'सैली' आगे चलकर 'वाणारसिया सम्प्रदाय' के नाम से अभिख्यात हुई। इस सम्प्रदाय की विशेषता थी आध्यात्मिक कविता। बनारसीदास के उपरान्त कुँअरपाल प्रमुख व्यक्ति थे, जिन्होंने इस आध्यात्मिक परम्परा को विकसित किया। महामहोपाध्याय मेघविजय जी ने अपने 'युक्ति प्रबोध' में, उनकी चतुर्दिक में व्याप्त ख्याति को स्वीकार किया है। कुँअरपाल की प्रेरणा से ही हेमराज ने 'सितपट चौरासी बोल' की रचना की थी। जगजीवन भी इस 'सैली' के गण्यमान्य व्यक्ति थे। उनके प्रोत्साहन से हेमराज ने पंचास्तिकाय की भाषा टीका लिखी थी। आगे चलकर वि० सं० १७८१ में भूधरदास भी इसी सम्प्रदाय के सदस्य बने। उन्होंने आध्यात्मिक चर्चा में रस लिया और प्रसाद गुण युक्त कविता भी रची। मनराम को तो बनारसीदास का सान्निध्य प्राप्त हुआ था। 'मनराम विलास' में भाव-गर्भित आध्यात्मिकता ही अभिव्यञ्जित हुई है।

कवि द्यानतराय (वि० सं० १७३३) के समय में आगरे में पं० मानसिंह और बिहारीदास की 'सैली' चलती थी। मानसिंह की 'सैली' से प्रभावित होकर द्यानतराय की जैन धर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा हुई थी। उस समय दिल्ली में पं० सुखानन्द की सैली मान्य थी। दिल्ली आने पर कवि द्यानतराय इस सैली के सदस्य बन गये थे। यद्यपि द्यानतराय की पूजाओं और आरतियों में भक्ति का स्वर ही प्रबल है, किन्तु उनके पद आध्यात्मिकता के प्रतीक हैं। आध्यात्मिकता से युक्त होते हुए भी ऐसे सरस पदों की रचना हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका। हिन्दी के इस महत्वपूर्ण योगदान का श्रेय पं० मानसिंह और पं० सुखानन्द की सैलियों को दिया जाना चाहिए। जयपुर, सांगानेर और बीकानेर में भी ऐसी ही सैलियाँ थीं। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि लक्ष्मीचन्द्र सांगानेर की 'सैली' में व्युत्पन्न बने थे।

सैलियों के अतिरिक्त कहीं-कहीं उच्च जैन शिक्षा देने के लिए विद्यालय भी थे। प्राचीनकाल में तो ऐसे विद्यालय चम्पा, राजगृह, वैशाली, हस्तिनापुर, बनारस और श्रावस्ती आदि अनेक नगरों में फैले हुए थे, किन्तु मध्यकाल तक आते-आते उनका नितान्त अभाव हो गया था। बनारस-जैसे एक दो स्थानों पर

ही अवशिष्ट रह गए थे। पांडे रूपचन्द्र को जैन दर्शन का अध्ययन करने के लिए बनारस भेजा गया था। वहाँ रहकर उन्होंने जैन व्याकरण, साहित्य और दर्शन में विचक्षणता प्राप्त की थी। बनारसीदास की शुद्ध आध्यात्मिक चेतना पांडे रूपचन्द की ही देन है। श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय जी उपाध्याय, जिन्होंने हिन्दी में 'जस विलास' का निर्माण किया था, एक गृहस्थ से पुरस्कार-स्वरूप धन पाकर बनारस गये और वहाँ तीन वर्ष तक विविध दार्शनिक ग्रंथों का अध्ययन करते रहे। विनयविजय जी को भी गम्भीर विद्वत्ता बनारस में अध्ययन करने से ही प्राप्त हुई थी। विनय विजय ने 'विनय विलास' की हिन्दी में रचना की थी। वह एक प्रसिद्ध कृति है।

मध्यकालीन जैन हिन्दी के कवियों को उर्दू और फारसी का भी अच्छा ज्ञान था। विशेषकर उन कवियों को जो दिल्ली और आगरा की ओर के रहने वाले थे। 'भैय्या' भगवतीदास के 'ब्रह्मविलास' में अनेक ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें उर्दू-फारसी के शब्दों की वहुलता है। कवि बनारसीदास ने जौनपुर के नवाब के बड़े वेटे किलिच को संस्कृत उर्दू-फारसी के माध्यम से ही पढ़ाई थी। द्यानतराय के पदों में उर्दू के शब्द बिखरे हुए हैं। विनोदीलालजी का 'नेमजी का रेखता' फारसी मिश्रित उर्दू में लिखा गया है।

इन कवियों को उर्दू-फारसी का ज्ञान दो प्रकार से मिला था—एक तो मकतबों और मदरसों से, दूसरे उस्तादों और मौलवियों से, जो बहुत कम रुपयों पर घर पढ़ाने चले जाते थे। इतिहास की किताबों में भले ही औरंगजेब को संकीर्ण विचारों का बताया गया हो, किन्तु यह सच है कि उसने मदरसों और मकतबों का जाल-सा विछा दिया था। उसके द्वारा शिक्षा प्रणाली में भी पर्याप्त सुधार किया गया। इसके लिए जैन कवियों ने औरंगजेब की प्रशंसा की है। प्रसिद्ध कवि रामचन्द्र और जगतराम ने उसके शासन को सख–चैन से भरा तथा न्यायपूर्ण बतलाया है।

उस समय मकतब तो नितांत राज्य की ओर से ही संचालित होते थे, किन्तु मदरसों में अधिकांश ऐसे थे, जो धनवंतों के सहयोग पर निर्भर थे। जैन श्रीमन्तों ने इन मदरसों को सब-से-अधिक दान दिया था। अकवर ने तो मदरसों के अतिरिक्त हिन्दू विद्यार्थियों के लिए अनेक विद्यालयों की भी स्थापना की थी। इनमें हिन्दू, जैन और बौद्ध साहित्य और दर्शन का अध्ययन होता था। अकवर ने आगरा में एक विशाल पुस्तकालय की भी स्थापना की थी। उसमें जैन धर्म के ग्रन्थों का अच्छा संचय था। सम्राट अकबर ने वि० सं० १६३८ में श्री हीर

विजइ सूरि को इस पुस्तकालय के जैन धर्म सम्वन्धी ग्रन्थ दिखाये थे। श्री हीर विजइ सूरि की विद्वत्ता से प्रभावित होकर सम्राट ने उन्हें 'गुरु' की उपाधि से विभूषित किया था।

उपर्युक्त विवेचन से प्रमाणित है कि जैन हिन्दी कवियों की शिक्षा पाठशालाओं, मकतवों, मदरसों, सैलियों, भट्टारक सम्प्रदायों, मुनि संघों और व्यक्तिगत गुरुओं के सान्निध्य में हुई थी। अधिकांश जैन कवि विद्वान् थे और सहृदय भी। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का कुछ ऐसा वातावरण मिला जिससे एक ओर तो वे कर्कश तर्क और दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन कर सके और दूसरी ओर कविता की सरस प्रस्विनी प्रवाहित करने में भी समर्थ हो सके। आध्यात्मिक अनुभूतियों का जैसा भावोन्मेष जैन कवियों के काव्य में दृष्टिगोचर होता है, अन्यत्र नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार नाम के जटिल ग्रन्थ को साहित्यक रूप देना वनारसीदास की कवि सामर्थ्य का द्योतक है। पाण्डे रूपचन्द्र गोम्मटसार जैसे शुष्क ग्रंथ के विशेषज्ञ थे। उन्होंने परमार्थी दोहाशतक, गीत परमार्थी, मंगलगीत, नेमिनाथ रासा, खटोलनागीत आदि रस-विभोर वना देने वाले मुक्तक काव्यों का भी निर्माण किया। यशोविजय और विनय विजय ने प्राकृत और संस्कृत में शताधिक सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना की। वे दोनों गुजराती और हिन्दी के प्रतिष्ठित कवि भी माने जाते हैं। सरस्वती गच्छ बलारकारगण की परम्परा में होने वाले भट्टारक सकलकीर्ति, ज्ञानभूषण और शुभचन्द्र आदि की विद्वत्ता और आध्यात्मिक कविता दोनों ही में समान गति थी।

परम्पराओं ने वातावरण वनाया था और वातावरण विद्वान् और कवि दोनों को एक साथ जन्म देने में समर्थ हो सका।

मध्यकालीन जैन हिन्दी कवियों की प्रेम साधना

भक्तिरस का स्थायी—भाव भगवद्विषयक अनुराग है। इसी को शाण्डिल्य ने 'परानुरक्तिः' कहा है। परानुरक्तिः गम्भीर अनुराग को कहते हैं। गम्भीर अनुराग ही प्रेम कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने रति अथवा अनुराग के गाढ़े हो जाने को ही प्रेम कहा है।[2] 'भक्ति रसामृत सिन्धु' में लिखा है, "सम्यङ्‌ मसृणित स्वान्तो ममत्वातिशयोक्तिः भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेम निगद्यते।[3]"

प्रेम दो प्रकार का होता है—लौकिक और अलौकिक। भगवद्विषयक अनुराग अलौकिक प्रेम के अन्तर्गत आता है। यद्यपि भगवान् का औतार मान कर उसके प्रति लौकिक प्रेम का भी आरोपण किया जाता है, किन्तु उसके पीछे अलौकिकत्व सदैव छिपा रहता है। इस प्रेम में समूचा आत्मसमर्पण होता है और प्रेम के प्रत्यागमन की भावना नहीं रहती। अलौकिक प्रेम जन्य तल्लीनता ऐसी विलक्षण होती है कि द्वैध भाव ही मृत हो जाता है। फिर प्रेम में प्रतीकार का भाव कहाँ रह सकता है।

नारियाँ प्रेम की प्रतीक होती हैं। उनका हृदय एक ऐसा कोमल और सरस थाला है, जिसमें प्रेम भाव को लहलहाने में देर नहीं लगती। इसी कारण भक्त भी कांताभाव से भगवान् की आराधना करने में अपना अहोभाग्य समझता

---

१. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, १।२, पृ० १

२. चैतन्यचरितामृत, कल्याण, भक्ति अंक, वर्ष ३२, अंक १, पृ० ३३३

३. श्री रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, गोस्वामी दामोदर-सम्पादित, अच्युत ग्रन्थ-माला कार्यालय, काशी, वि० सं० १९८८, प्रथम संस्करण, १।४।१

है। भक्त 'तिया' बनता है और भगवान 'पिय' यह दाम्पत्य भाव का प्रेम जैन कवियों की रचनाओं में भी होता है। बनारसीदास ने अपने 'अध्यात्मगीत' में आत्मा को नायक और 'सुमति' को उसकी पत्नी बनाया है। पत्नी पति के वियोग में इस भाँति तड़प रही है, जैसे जल के बिना मछली। उसके हृदय में पति से मिलने का चाव निरन्तर बढ़ रहा है। वह अपनी समता नाम की सखी से कहती है कि पति के दर्शन पाकर मैं उसमें इस तरह मग्न हो जाऊँगी, जैसे बूंद दरिया में समा जाती है। मैं अपनपा खोकर पिय सूं मिलूंगी, जैसे ओला गलकर पानी हो जाता है।[1] अन्त में पति तो उसे अपने घर में ही मिल गया। और वह उससे मिलकर इस प्रकार एकमेक हो गई कि द्विविधा तो रही ही नहीं। उसके एकत्व को कवि ने अनेक सुन्दर-सुन्दर दृष्टान्तों से पुष्ट किया है। वह करतूति है और पिय कर्ता, वह सुख-सींव है और पिय सुख-सागर, वह शिवनींव है और पिय शिवमन्दिर, वह सरस्वती है और पिय ब्रह्मा, वह कमला है और पिय माधव, वह भवानी है और पति शंकर, वह जिनवाणी है और पति जिनेन्द्र।[2]

---

१. मैं विरहिन पिय के आधीन,
त्यौं तलफौं ज्यौं जल बिन मीन।
होंहुँ मगन मैं दरशन पाय,
ज्यौं दरिया में बूंद समाय।
पिय सों मिलौं अपनपो खोय,
ओला गल पाणी ज्यौं होय।
अध्यात्मगीत, बनारसी विलास, पृ० १५९-६०।

२. पिय मोरे घट मैं पिय माहिं।
जल तरंग ज्यौं दुविधा नाहिं।
पिय मो करता मैं करतूति।
पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति।
पिय सुखसागर मैं सुख सींव,
पिय शिवमन्दिर मैं शिवनींव।
पिय ब्रह्मा मैं सरस्वति नाम,
पिय माधव मो कमला नाम।
पिय शंकर मैं देवि भवानि,
पिय जिनवर मैं केवलवानि।
अध्यात्मगीत, बनारसी विलास, पृ० १६१।

कवि ने सुमति रानी को 'राधिका' माना है। उसका सौंदर्य और चातुर्य सब कुछ राधा के ही समान है। वह रूप-सी रसीली है और भ्रम रूपी ताले को खोलने के लिए क़ीली के समान है। ज्ञान भानु को जन्म देने के लिए प्राची है और आत्म स्थल में रहने वाली सच्ची विभूति है। अपने धाम की खबरदार और राम की रमनहार है। ऐसी सन्तों की मान्य, रस के पंथ और ग्रन्थों में प्रतिष्ठित और शोभा की प्रतीक राधिका सुमति रानी है।[1]

सुमति अपने पति 'चेतन' से प्रेम करती है। उसे अपने पति के अनन्त ज्ञान, बल और वीर्य वाले पहलू पर एक निष्ठा है। किन्तु वह कर्मों की कुसंगत में पड़कर भटक गया है, अतः बड़े ही मिठास भरे प्रेम से दुलारते हुए सुमति कहती है, "हे लाल! तुम किसके साथ और कहाँ लगे फिरते हो। आज तुम ज्ञान के महल में क्यों नहीं आते। तुम अपने हृदय तल में ज्ञान-दृष्टि खोलकर देखो, दया, क्षमा, समता और शाँति-जैसी सुन्दर रमणियाँ तुम्हारी सेवा में खड़ी हुई हैं। एक-से-एक अनुपम रूप वाली हैं। ऐसे मनोरम वातावरण को भूलकर और कहीं न जाइये। यह मेरी सहज प्रार्थना है।[2]

बहुत दिन बाहर भटकने के बाद चेतन राजा आज घर आ रहा है। सुमति के आनन्द का कोई ठिकाना नहीं है। वर्षों की प्रतीक्षा के बाद पिय के

---

१. रूप की रसीली भ्रम कुलप की कीली, शील सुधा के समुद्र झील सीलि सुखदाई है।
प्राची ज्ञान भान की अजाची है निदान की, सुराची निरवाची ठौर सांची ठकुराई है।
धाम की खबरदार राम की रमनहार, राधा रसपंथनि में ग्रन्थनि में गाई है।
सन्तन की मानी निरवानी रूप की निसानी, यातैं सुबुद्धिरानी राधिका कहाई है।।
नाटक समयसार, प्राचीन हिन्दी जैन कवि, दमोह, पृ० ७९।

२. कहां-कहां कौन संग लागे ही फिरत लाल,
आवौ क्यों न आज तुम ज्ञान के महल में।
नैंकहू विलोकि देखो अन्तर सुदृष्टि सेती।
कैसी-कैसी नीकी नारि ठाढ़ी हैं टहल में।
एक-तें-एक बनी सुन्दर सुरूप घनी,
उपमा न जाय गनी वाम की चहल में।
ऐसी विधि पाय कहूँ भूलि और काज कीजे,
एतो कह्यो मान लीजै वीनती सहल में।
ब्रह्मविलास, भैया भगवतीदास, बम्बई, द्वितीया वृत्ति, सन् १९२६ ई०, शत अष्टोत्तरी, पद्य २७ वाँ, पृ० १४।

आगमन की बात सुनकर भला कौन प्रसन्न न होती होगी। सुमति आल्हादित होकर अपनी सखी से कहती है, "हे सखी देखो आज चेतन घर आ रहा है। वह अनादि काल तक दूसरों के वश में होकर घूमता फिरा, अब उसने हमारी सुध ली है। अब तो वह भगवान जिन की आज्ञा को मानकर परमानन्द के गुण गाता है। उसके जन्म-जन्म के पाप भी पलायन कर गये हैं। अब तो उसने ऐसी युक्ति रच ली है, जिससे उसे संसार में फिर नहीं आना पड़ेगा। अब वह अपने मन भाये परम अखंडित सुख का विलास करेगा।[1]

पति को देखते ही पत्नी के अन्दर से परायेपन का भाव दूर हो जाता है। द्वैध हट जाता है और अद्वैध उत्पन्न हो जाता है। ऐसा ही एक भाव बनारसीदास ने उपस्थित किया है। सुमति चेतन से कहती है, "हे प्यारे चेतन ! तेरी ओर देखते ही परायेपन की गगरी फूट गई। दुविधा का अंचल हट गया और समूची लज्जा पलायन कर गई। कुछ समय पूर्व तुम्हारी याद आते ही मैं तुम्हें खोजने के लिए अकेली ही राज पथ को छोड़कर भयावह कान्तार में घुस पड़ी थी। वहाँ काया नगरी के भीतर तुम अनन्त बल और ज्योति वाले होते हुए भी कर्मों के आवरण में लिपटे पड़े थे। अब तो तुम्हें मोह की नींद छोड़कर सावधान हो जाना चाहिए।[2]

---

१. देखो मेरी सखीये आज चेतन घर आवे।
काल अनादि फिर्यो परवश ही,
अब निज सुधहि चितावै, देखो ॥
जनम-जनम के पाप किये जे, छिन मांहि बहावैं।
श्री जिन आज्ञा सिर पर धरतो, परमानन्द गुण गावै ॥
देत जलांजुलि जगत फिरन को, ऐसी जुगति बनावै।
विलसै सुख निज परम अखण्डित, भैया सब मन भावै ॥
देखिये वही, परमार्थ पद पंक्ति, १४ वाँ पद, पृ० ११४।

२. बालम तुहुं तन चितवन गागरि फूटि।
अंचरा गौ फहराय सरम गै छूटि, बालम० ॥
पिउ सुधि पावत वन मैं पेसिउ पेलि।
छाड़त राज डगरिया भयउ अकेलि, बालम० ॥
काय नगरिया भीतर चेतन भूप,
करम लेप लिपटा बल ज्योति स्वरूप, बालम० ॥
चेतन बूझि विचार धरहु संतोष।
राग-दोष दुइ बन्धन छूटत मोष, बालम० ॥
बनारसी विलास, अध्यात्मपद पंक्ति, पृ० २२८-२९।

एक सखि सुमति को लेकर, नायक चेतन के पास मिलाने के लिए गई। पहले दूतियाँ ऐसा किया करती थीं। वहाँ वह सखी अपनी बाला सुमति की प्रशंसा करते हुए चेतन से कहती है, हे लालन! मैं अमोलक बाल लाई हूँ, तुम देखो तो वह कैसी अनुपम सुन्दरी है। ऐसी नारी तो संसार में दूसरी नहीं है। और हे चेतन! इसकी प्रीति भी तुमसे ही सनी हुई है। तुम्हारी और इस राधे की एक दूसरे पर अनन्त रीझ है। उसका वर्णन करने में मैं पूर्ण असमर्थ हूँ।[1]

आध्यात्मिक विवाह

इसी प्रेम के प्रसंग में आध्यात्मिक विवाहों को लिया जा सकता है। ये 'विवाहला', 'विवाह', 'विवाहलउ', और 'विवाहलौ आदि के नाम से अभिहित हुए हैं। इनको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है--एक तो वह जब दीक्षा ग्रहण के समय आचार्य का दीक्षाकुमारी अथवा संयमश्री के साथ विवाह सम्पन्न होता है, और दूसरा वह जब आत्मा रूपी नायक के साथ उसी के किसी गुण रूपी कुमारी की गांठें जुड़ती हैं। इनमें प्रथम प्रकार के विवाहों का वर्णन करने वाले कई रास 'ऐतिहासिक काव्य संग्रह' में संकलित हैं। दूसरे प्रकार के विवाहों में सबसे प्राचीन 'जिनप्रभसूरि' का 'अंतरंग विवाह' प्रकाशित हो चुका है। उपर्युक्त सुमति और चेतन दूसरे प्रकार के पति और पत्नी हैं। इसी के अन्तर्गत वह दृश्य भी आता है, जबकि आत्मा रूपी नायक 'शिवरमणी' के साथ विवाह करने जाता है। अजयराज पाटणी के 'शिवरमणी विवाह' का उल्लेख हो चुका है। वह १७ पद्यों का एक सुन्दर रूपक काव्य है। उन्होंने 'जिन जी की रसोई' में तो विवाहोपरांत सुस्वादु भोजन और वन-विहार का भी उल्लेख किया है।[2]

बनारसीदास ने तीर्थंकर शांतिनाथ का शिवरमणी से विवाह दिखाया है। शांतिनाथ विवाह मंडप में आने वाले हैं। होने वाली बधू की उत्सुकता

---

१. लाई हों लालन बाल अमोलक, देखहु तो तुम कैसी बनी है।
ऐसी कहुँ तिहुँ लोक में सुन्दर, और न नारि अनेक घनी हैं।।
याहि तें तोहि कहूँ नित चेतन, याहू की प्रीति जु तो सौं सनी है।
तेरी और राधे की रीझि अनंत जु, मो पै कहुँ यह जात गनी है।।

ब्रह्मविलास, शत अष्टोत्तरी, २८ वाँ पद्य, पृ० १४।

२. देखिये 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', भारतीय ज्ञानपीठ काशी, छठा अध्याय, पृष्ठ ६५६।

दवाये नहीं दवती । वह अभी से उनको अपना पति मान वैठी है। वह अपनी सखी से कहती है, "हे सखी ! आज का दिन अत्यधिक मनोहर है, किन्तु मेरा मन-भाया अभी तक नहीं आया। वह मेरा पति सुख-कन्द है और चन्द्र के समान देह को धारण करने वाला है। तभी तो मेरा मन-उदधि आनन्द से आन्दोलित हो उठा है और इसी कारण मेरे नेत्र-चकोर सुख का अनुभव कर रहे हैं। उसकी सुहावनी ज्योति की कीर्ति संसार में फैली हुई है। उनकी वाणी से अमृत झरता है। मेरा सौभाग्य है जो मुझे ऐसे पति प्राप्त हुए।"[1]

तीर्थंकर अथवा आचार्यों के संयम श्री के साथ विवाह होने के वर्णन तो वहुत अधिक हैं। उनमें से 'जिनेश्वर सूरि और जिनोदय सूरि विवाहला' एक सुन्दर काव्य है। इसमें इन सूरियों का संयमश्री के साथ विवाह होने का वर्णन है। इसकी रचना वि० सं० १३३१ में हुई थी। हिन्दी के कवि कुमुदचन्द्र का 'ऋषभनाथ का आदीश्वर विवाहला' भी वहुत ही प्रसिद्ध है। विवाह के समय भगवान् ने जिस चूनड़ी को ओढ़ा था, वैसी चूनड़ी छपाने के लिए न-जाने कितनी पत्नियाँ अपने पतियों से प्रार्थना करती रही हैं। १६ वीं शती के विनयचन्द्र की 'चूनड़ी' हिन्दी साहित्य की प्रसिद्ध रचना है। साधुकीर्ति की चूनड़ी में तो संगीतात्मक प्रवाह भी है।

तीर्थंकर नेमीश्वर और राजुल का प्रेम

नेमीश्वर और राजुल के कथानक को लेकर जैन हिन्दी के भक्त कवि दाम्पत्य भाव प्रकट करते रहे हैं। राजशेखर सूरि ने विवाह के लिए राजुल को ऐसा सजाया है कि उसमें मृदुल काव्यत्व ही साक्षात् हो उठा है। किन्तु वह वैसी ही उपास्य वुद्धि से संचालित है, जैसे राधासुधानिधि में राधा का सौंदर्य। राजुल की शील-सनी शोभा में कुछ ऐसी वात है कि उससे पवित्रता को प्रेरणा मिलती है, वासना को नहीं। विवाह मंडप में विराजी वधू जिसके आने की प्रतीक्षा कर

---

१. सहि एरी ! दिन आज सुहाया मुझ भाया आया नहीं घरे।
सहि एरी ! मन उदधि अनंदा सुख-कन्दा चन्दा देह धरे।
चन्द जिवां मेरा वल्लभ सोहे, नैंन चकोरहिं सुक्ख करे।
जग ज्योति सुहाई कीरति छाई, वहु दुख तिमिर वितान हरे।
सहु काल विनानी अमृतवानी, अरु मृग का लांछन कहिये।
श्री शांति जिनेश नरोत्तम को प्रभु, आज मिला मेरी सहिये।
वनारसी विलास, श्री शांति जिन स्तुति, पद्य १, पृ० १८९।

रही थी, वह मूक पशुओं के करुण क्रन्दन से प्रभावित होकर लौट गया। उस समय वधू की तिलमिलाहट और पति को पा लेने की बेचैनी का जो चित्र हेमविजय ने खींचा है, दूसरा नहीं खींच सका। हर्षकीर्ति– का 'नेमिनाथ राजुलगीत' भी एक सुन्दर रचना है। इसमें भी नेमिनाथ को पा लेने की बेचैनी है, किन्तु वैसी सरस नहीं जैसी कि हेमविजय ने अंकित की है।

कवि भूधरदास ने नेमीश्वर और राजुल को लेकर अनेक पदों का निर्माण किया है। एक स्थान पर राजुल ने अपनी मां से प्रार्थना की, "हे मां! देर न करो मुझे शीघ्र ही वहाँ भेज दो, जहाँ हमारा प्यारा पति रहता है। यहाँ तो मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता, चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा दिखाई देता है। न जाने नेमि-रूपी दिवाकर का मुख कब दिखाई पड़ेगा। उनके बिना हमारा हृदय रूपी अरविन्द मुरझाया पड़ा है।"[1] पिय मिलन की ऐसी विकट चाह है, जिसके कारण लड़की मां से प्रार्थना करते हुए भी नहीं लजाती। लौकिक प्रेम–प्रसंग में लज्जा आती है, क्योंकि उसमें काम की प्रधानता होती है, किन्तु यहाँ तो अलौकिक और दिव्य प्रेम की बात है। अलौकिक तल्लीनता में व्यावहारिक उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रहता।

राजुल के वियोग में 'सम्वेदना' की प्रधानता है। भूधरदास ने राजुल के अन्तःस्थ विरह को सहज स्वाभाविक ढंग से अभिव्यक्त किया है। राजुल अपनी सखी से कहती है, "हे सखि! मुझे वहाँ ले चल, जहाँ प्यारे जादौंपति रहते हैं। नेमि-रूपी चन्द्र के बिना यह आकाश का चन्द्र मेरे सब तन–मन को जला रहा है। उसकी किरण नाविक के तीर की भाँति अग्नि के स्फुलिंगों को बरसाती है। रात्रि के तारे तो अँगारे ही हो रहे है।"[1] कहीं-कहीं राजुल के विरह में

---

१. मां विलम्ब न लाव पठाव वहाँ री, जहाँ जगपति पिय प्यारो।
और न मोहि सुहाय कछू अब, दीसे जगत अंधारो री॥
मैं श्री नेमि दिवाकर कौं अब, देखौं वदन उजारो।
बिन पिय देखें मुरझाय रह्यौ है, उर अरविन्द हमारो री॥
भूधरविलास, भूधरदास, कलकत्ता, १३ वाँ पद, पृ० ८।

१. तहाँ ले चल री जहाँ जादौपति प्यारो।
नेमि निशाकर बिन यह चन्दा, तन-मन दहत सकल री॥तहाँ॥
किरन किधौं नाविक-शर-तति के, ज्यौं पावक की झलरी।
तारे हैं अंगारे सजनी, रजनी राकस दल री॥तहाँ॥ ।वही, ४५ वां पद, पृ० २५।

'ऊहा' के दर्शन होते हैं, किन्तु उसमें नायिका के 'पेंडुलम' होजाने की बात नहीं आ पाई है। यद्यपि राजुल का 'उर' भी ऐसा जल रहा है कि हाथ उसके समीप नहीं ले जाया जा सकता, किन्तु ऐसा नहीं कि उसकी गर्मी से जड़काले में लुयें चलने लगी हों। राजुल अपनी सखी से कहती है, "नेमिकुमार के बिन जिय रहता नहीं है। हे सखी! देख मेरा हृदय कैसा तप रहा है। तू अपने हाथ को निकट लाकर देखती क्यों नहीं। मेरी विरह-जन्य उष्णता कपूर और कमल के पत्तों से दूर नहीं होगी। उनको दूर हटादे। मुझे तो 'सियरा कलाधर' भी 'करूर' लगता है। प्रियतम प्रभु नेमिकुमार के बिना मेरा हियरा' शीतल नहीं हो सकता।"[1] प्रिय के वियोग में राजुल भी पीली पड़ गई। किन्तु ऐसा नहीं विदित हुआ कि उसके शरीर में एक तोला मांस भी न रहा हो। विरह से भरी नदी में उसका हृदय भी वहा है, किन्तु उसकी आंखों से खून के आंसू कभी नहीं ढुलके। हरी तो वह भी भर्त्ता से भेंट कर ही होगी, किन्तु उसके हाड़ सूख कर सारंगी कभी नहीं बने।[2]

बारह मासा

नेमीश्वर और राजुल को लेकर जैन हिन्दी साहित्य में बारहमासों की भी रचना हुई है। उन सब में कवि विनोदीलाल का 'बारहमासा' उत्तम है। प्रिया को प्रिय के सुख के अनिश्चय की आशंका सदैव रहती है, भले ही प्रिय सुख से रह रहा हो। तीर्थंकर नेमीश्वर वीतरागी होकर निराकुलता पूर्वक गिरिनार पर तप कर रहे हैं। किन्तु राजुल को शंका है, जब सावन में घनघोर घटायें जुड़ आयेंगी चारों ओर से मोर शोर करेंगे, कोकिल कुहुक सुनावेगी, दामिनी दमकेगी और

---

१. नेमि बिना न रहे मेरो जियरा।
हेर री हेली तपत उर कैसो,
लावत क्यों निज हाथ न नियरा॥
करि-करि दूर कमल-दल,
लगत करूर कलाधर सियरा॥
भूधर के प्रभु नेमि पिया बिन,
शीतल हीय न राजुल हियरा॥

वही, २० वां पद, पृ० १२।

२. देखिये वही, १४ वां पद, पृ० ९ और मिलाइये जायसी के नागमती विरह-वर्णन से।

पुरवाई के झोंके चलेंगे, तो वह सुख पूर्वक तप न कर सकेंगे।[1] पौस के लगने पर तो राजुल की चिन्ता और भी बढ़ गई है। उसे विश्वास है कि पति का जाड़ा विना रजाई के नहीं कटेगा। पत्तों की धुवनी से तो काम चलेगा नहीं। उस पर भी काम की फौजें इसी ऋतु में निकलती हैं, कोमलगात के नेमीश्वर उससे लड़ न सकेंगे।[2] वैशाख की गर्मी को देखकर राजुल और भी अधिक व्याकुल है, क्योंकि इस गर्मी में नेमीश्वर को प्यास लगेगी तो, तो शीतल जल कहाँ मिलेगा, और तीव्र धूप से तपते पत्थरों से उनका शरीर दग जायेगा।[3]

कवि लक्ष्मीवल्लभ का 'नेमिराजुल बारहमासा' भी एक प्रसिद्ध रचना है। इसमें कुल १४ पद्य हैं। प्रकृति के रमणीय सन्निधान में विरहिणी के व्याकुल भावों का सम्मिश्रण हुआ है, "श्रावण का माह है, चारों ओर से विकट घटायें उमड़ रही हैं। यामिनी में कुम्भस्थल जैसे स्तनों को धारण करने वाली भामिनियों को पिय का संग भा रहा है। स्वाति नक्षत्र की बूंदों से चातक की पीड़ा दूर हो गई है। शुष्क पृथ्वी की देह हरियाली को पाकर दिप उठी है। किन्तु राजुल का न तो पिय आया और न पतियाँ।"[4] ठीक इसी भाँति एक बार जायसी की नागमती भी विलाप करते हुए कह उठी थी, "चातक के मुख में स्वाति नक्षत्र की बूंदें पड़ गईं और समुद्र की सब सीपें भी मोतियों से भर गईं।

---

१. पिया सावन में व्रत लीजे नहीं, घनघोर घटा जुर आवैंगी।
चहुँ ओर ते मोर जु शोर करैं, वन कोकिल कुहक सुनावैंगी॥
पिय रैन अंधेरी में सूझै नहीं, कछु दामिनी दमक डरावैंगी।
पुरवाई की झोंक सहोगे नहीं, छिन में तप-तेज छुड़ावैंगी॥
कवि विनोदीलाल, बारहमासा नेमि-राजुल का, बारहमासा-संग्रह, कलकत्ता, ४२ वाँ पद्य, पृ० २४।

२. देखिये वही, १४ वाँ पद्य, पृ० २७।

३. वही, २२ वाँ पद्य, पृ० २६।

४. उमड़ी विकट घनघोर घटा, चहुं ओरनि मोरनि सोर मचायो।
चमकै दिवि दामिनि यामिनि कुंभय भामिनि कुं पिय को संग भायो॥
चिउ चातक पीड़ ही पीड़ लई, भई राजहरी मुंह देह दिपायो।
पतियाँ पै न पाई री प्रीतम की, अली श्रावण आयो पै नेम न आयो।
कवि लक्ष्मीवल्लभ, नेमी-राजुल बारहमासा, पहला पद्य, 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', पृ० ५६४।

हंस स्मरण कर-करके अपने तालावों पर आये, सारस वोलने लगे और खंजन भी दिखाई पड़ने लगे। कांसों के फूलों से वन में प्रकाश हो गया, किन्तु हमारे कन्त न फिरे, कहीं विदेश में ही भूल गये।"[1] कवि भवानीदास ने भी 'नेमिनाथ' बारहमासा' लिखा था, जिसमें कुल १२ पद्य हैं। श्री जिनहर्ष का 'नेमि बारहमासा' भी एक प्रसिद्ध काव्य है। उसके १२ सवैयों में सौंदर्य और आकर्षण व्याप्त है। श्रावण मास में राजुल की दशा को उपस्थित करते हुए कवि ने लिखा है, "श्रावण मास है, घनघोर घटायें उनै आई हैं। झलमलाती हुई बिजुरी चमक रही है, उसके मध्य से बज्र-सी ध्वनि फूट रही है, जो राजुल को विष बेलि के के समान लगती है। पपीहा पिउ-पिउ रट रहा है। दादुर और मोर बोल रहे हैं। ऐसे समय में यदि नेमीश्वर मिल जायें तो राजुल अत्यधिक सुखी हो।[2]"

आध्यात्मिक होलियाँ

जैन साहित्यकार आध्यात्मिक होलियों की रचना करते रहे हैं। जिनमें होली के अंग-उपांगों का आत्मा से रूपक मिलाया गया है। उनमें आकर्षण तो होता ही है। पावनता भी आ जाती है। ऐसी रचनाओं को 'फागु' कहते हैं। कवि बनारसीदास के 'फागु' में आत्मारूपी नायक ने शिवसुन्दरी से होली खेली है। कवि ने लिखा है, "सहज आनन्दरूपी बसन्त आगया है और शुभ भावरूपी पत्ते लहलहाने लगे हैं। सुमति रूपी कोकिला गहगही होकर गा उठी है, और मनरूपी भंवरे मदोन्मत्त होकर गुंजार कर रहे हैं। सुरति रूपी अग्नि-ज्वाला प्रकट हुई है, जिसमें अष्ट कर्मरूपी वन जल गया है। अगोचर अमूर्तिक आत्मा

---

१. स्वांति बूंद चातक मुख परे। समुद सीप मोती सब भरे।।
सरवर संवरि हंस चलि आये। सारस कुरलहिं खंजन देखाये।।
भा परगास कांस वन फूले। कन्त न फिरे विदेसहिं भूले।।
जायसी ग्रन्थावली, पं० रामचन्द्र शुक्ल सम्पादित, का० ना० प्र० सभा, तृ० सं०, वि० सं० २००३, ३०१७, पृ० १५३।

२. घन की घनघोर घटा उनही, विजुली चमकति झलाहलि-सी।
विचि गाज अगाज, अवाज करत सु लागत मो विषवेलि जिसी।।
पपीहा पिउ-पिउ रटत रयण जु, दादुर मोर वदै ऊरलिसी।
ऐसे श्रावण में यदु नेमि मिले, सुख होत कहै जसराज रिसी।।
जिनहर्ष, नेमि बारहमासा, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, छठा अध्याय, पृ० ५०२।

धर्मरूपी फाग खेल रहा है। इस भाँति आत्मध्यान के वल से परम ज्योति प्रकट हुई, जिससे अष्ट कर्म रूपी होली जल गई है और आत्मा शांत रस में मग्न होकर शिवसुन्दरी से फाग खेलने लगा।"[1]

कवि द्यानतराय ने दो जत्थों के मध्य होली की रचना की है। एक ओर तो बुद्धि, दया, क्षमारूपी नारियाँ हैं और दूसरी ओर आत्मा के गुणरूपी पुरुष हैं। ज्ञान और ध्यान रूपी डफ तथा ताल वजा रहे हैं, उनमें अनहद रूपी घनघोर नाद निकल रहा है। धर्मरूपी लाल रंग का गुलाल उड़ रहा है और समता रूपी रंग दोनों ही पक्षों ने घोल रखा है। दोनों ही दल प्रश्न के उत्तर की भाँति एक दूसरे पर पिचकारी भर-भर कर छोड़ते हैं। इधर से पुरुष वर्ग पूछता है कि तुम किसकी नारी हो, उधर से स्त्रियाँ पूछती हैं कि तुम किसके छोरा हो। आठ कर्मरूपी काठ अनुभवरूपी अग्नि में जलभुन कर शांत हो गये। फिर तो सज्जनों के नेत्र रूपी चकोर, शिवरमणी के आनन्दकन्द की छबि को टकटकी लगाकर देखते ही रहे।[2] भूधरदास की नायिका ने भी अपनी सखियों

---

१. विषम विरष पूरो भयो हो, आयो सहज वसंत।
प्रगटी सुरुचि सुगन्धिता हो, मन मधुकर मयमंत।
सुमति कोकिला गहगही हो, वही अपूरव वाउ।
भरम कुहर वादर फटे हो, घट जाड़ो जड़ताउ॥
शुभ दल पल्लव लहलहे हो, होंहि अशुभ पतझार।
मलिन विषय रति मालती हो, विरत वेलि विस्तार॥
सुरति अग्नि ज्वाला जगी हो, समकित भानु अमंद।
हृदय कमल विकसित भयो हो, प्रगट सुजश मकरंद॥
परम ज्योति प्रगट भई हो, लागि होलिका आग।
आठ काठ सव जरि बुझे हो, गई तताई भाग॥
वनारसीविलास, जयपुर, अध्यात्मफाग, पृ० १५४-५५।

२. आयो सहज वसंत खेलैं सव होरी होरा।
उत बुधि दया छिमा वहु ठाढ़ीं, इत जिय रतनसजे गुन जोरा॥
ज्ञान ध्यान डफ ताल वजत हैं, अनहद शब्द होत घनघोरा।
धरम सुहाग गुलाल उड़त है, समता रंग दुहू ने घोरा॥
परसन-उत्तर भरि पिचकारी, छोरत दोनों करि-करि जोरा।
इत तैं कहैं नारि तुम काकी, उत तैं कहैं कौन को छोरा॥
आठ काठ अनुभव पावक मैं, जल बुझ शान्त भई सब ओरा।
द्यानत शिव आनन्द चन्द छबि, देखहिं सज्जन नैन चकोरा॥
द्यानत पद संग्रह, द्यानतराय, कलकत्ता, ८६ वाँ पद, पृ० ३६-३७।

के साथ श्रद्धा गगरी में आनन्द रूपी जल और रुचि रूपी केशर घोलकर रंगे हुए नीर को उमंग रूपी पिचकारी में भर कर अपने प्रियतम के ऊपर छोड़ा। इस भाँति उसने अत्यधिक आनन्द का अनुभव किया।[1]

प्रेम में अनन्यता का होना आवश्यक है। प्रेमी को प्रिय के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही न दे, तभी वह सच्चा प्रेम है। माँ-बाप ने राजुल से दूसरे विवाह का प्रस्ताव किया, क्योंकि राजुल की नेमीश्वर के साथ भांवरें नहीं पड़ने पाई थीं। किन्तु प्रेम भांवरों की अपेक्षा नहीं करता। राजुल को तो सिवा नेमीश्वर के अन्य का नाम भी रुचिकारी नहीं था। इसी कारण उसने माँ-बाप को फटकारते हुए कहा, "हे तात! तुम्हारी जीभ खूब चली है, जो अपनी लड़की के लिए भी गालियाँ निकालते हो। तुम्हें हर बात सम्हाल कर कहना चाहिए। सब स्त्रियों को एक सी न समझो। मेरे लिए तो इस संसार में केवल नेमि प्रभु ही एकमात्र पति हैं।[2]

महात्मा आनन्दघन अनन्य प्रेम को जिस भाँति अध्यात्म पक्ष में घटा सके, वैसा हिन्दी का अन्य कोई कवि नहीं कर सका। कबीर में दाम्पत्य भाव है और आध्यात्मिकता भी, किन्तु वैसा आकर्षण नहीं, जैसा कि आनन्दघन में है। जायसी के प्रबन्ध-काव्य में अलौकिक की ओर इशारा भले ही हो, किन्तु लौकिक कथानक के कारण उसमें वह एकतानता नहीं निभ सकी है जैसी कि आनन्दघन के मुक्तक पदों में पाई जाती है। सुजान वाले घनानन्द के बहुत से पद भगवद्भक्ति में वैसे नहीं खप सके, जैसे कि सुजान के पक्ष में घटे हैं। महात्मा आनन्दघन जैनों के एक पहुँचे हुए साधु थे। उनके पदों में हृदय की तल्लीनता है। उन्होंने

---

१. सरधा गागर रुचि रूपी, केसर घोरि तुरन्त।
आनन्द नीर उमंग पिचकारी, छोड़ी नीकी भंत।
होरी खेलोंगी, आये चिदानन्द कन्त॥
भूधरदास, 'होरी खेलोंगी' पद, अध्यात्म पदावली, भारतीय ज्ञान पीठ, काशी, पृ० ७५।

२. काहे न बात सम्भाल कहो, तुम जानत हो यह बात भली है।
गालियां काढ़त हो हमको सुनो तात भली तुम जीभ चली है॥
हम सब को तुम तुल्य गिनो, तुम जानत ना यह बात रली है।
या भव में पति नेमि प्रभू, वह लाल विनोदी को नाथ बली है।
नेमि-व्याह, विनोदीलाल, हस्तलिखित प्रति, जैन सिद्धांत भवन, आरा।

एक स्थान पर लिखा है, "सुहागिन के हृदय में निर्गुण ब्रह्म की अनुभूति से ऐसा प्रेम जगा है कि अनादिकाल से चली आने वाली अज्ञान की नींद समाप्त होगई। हृदय के भीतर भक्ति के दीपक ने एक ऐसी सहज ज्योति को प्रकाशित किया है, जिससे घमण्ड स्वयं दूर हो गया और अनुपम वस्तु प्राप्त हो गई। प्रेम एक ऐसा अचूक तीर है जिसके लगता है, वह ढेर होजाता है। वह एक ऐसा वीणा का नाद है, जिसको सुनकर आत्मारूपी मृग तिनके तक चरना भूल जाता है। प्रभु तो प्रेम से मिलता है, उसकी कहानी कही नहीं जा सकती।"[1]

भक्त के पास भगवान् स्वयं आते हैं, भक्त नहीं जाता। जब भगवान् आता है, तो भक्त के आनन्द का पारावार नहीं रहता। आनन्दघन की सुहागिन नारी के नाथ भी स्वयं आये हैं और अपनी 'तिया' को प्रेमपूर्वक स्वीकार किया है। लम्बी प्रतीक्षा के बाद आये नाथ की प्रसन्नता में, पत्नी ने भी विविध भाँति के शृंगार किये हैं। उसने प्रेम-प्रतीति, राग और रुचि के रंग में रंगी साड़ी धारण की है, भक्ति की महंदी रांची है और भाव का सुखकारी अंजन लगाया है। सहज स्वभाव की चूड़ियाँ पहनी हैं और पिरीति का भारी कंगन धारण किया है। ध्यान रूपी उरवसी गहना वक्षस्थल पर पड़ा है और पिय के गुण की माला को गले में पहना है। सुरत के सिन्दूर से मांग को सजाया है और निरत की वेणी को आकर्षक ढंग से गूंथा है। उसके घर त्रिभुवन की सबसे अधिक प्रकाशमान ज्योति का जन्म हुआ है। वहाँ से अनहद का नाद भी

---

१. सुहागण जागी अनुभव प्रीति, सुहागण ॥
नींद अज्ञान अनादि की मिटि गई निज रीति ॥ सुहा० ॥ १ ॥

घट मन्दिर दीपक कियो, सहज सुज्योति सरूप।
आप पराई आप ही ठानत वस्तु अनूप ॥ सुहा० ॥ २ ॥

कहाँ दिखावु और कूं, कहा समझाऊं भोर।
तीर अचूक है प्रेम का, लागे सो रहे ठौर ॥ सुहा० ॥ ३ ॥

नाद-विलुद्धो प्राण कूं, गिनै न तृण मृग लोय।
आनन्दघन प्रभु प्रेम का, अकथ कहानी वोय ॥ सुहा० ॥ ४ ॥

आनन्द धनपदसंग्रह, महात्मा आनन्दघन, अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मण्डल, वम्बई चौथा पद, पृ० ७।

उठने लगा है। अब तो उसे लगातार एकतान में पिय-रस का आनन्द उपलब्ध हो रहा है।[1]

ठीक उसी भाँति बनारसीदास की नारी के पास भी निरंजन देव स्वयं प्रकट हुए हैं। वह इधर-उधर भटकी नहीं, उसने अपने हृदय में ध्यान लगाया और निरंजन देव आ गये। अब वह अपने खंजन-जैसे नेत्रों से उसे पुलकायमान होकर देख रही हैं और प्रसन्नता से भरे गीत गा रही है। उसके पाप और भय दूर भाग गये हैं। परमात्मा-जैसा साजन साधारण नहीं है, वह कामदेव जैसा सुन्दर और सुधारस-सा मधुर है। वह कर्मों का क्षय कर देने से तुरन्त मिल जाता है।[2]

---

१. आज सुहागन नारी ॥ अवधू० आज० ॥
मेरे नाथ आप सुध लीनी, कीनी निज अंगचारी ॥ अवधू० ॥ १ ॥
प्रेम प्रतीत राग रुचि रंगत, पहिरे जिन सारी।
मेंहदी भक्ति रंग की रांची, भाव अंजन सुखकारी ॥ अवधू० ॥ २ ॥
सहज सुभाव चूरियां पेनी, थिरता कंगन भारी।
ध्यान उरवसी उर में राखी, पिय गुनमाल अधारी ॥ अवधू० ॥ ३ ॥
सुख-सिन्दूर मांग रंग राति, निरते वेनि संभारी।
उपजी ज्योति उद्योत घट त्रिभुवन, आरसी केवल कारी ॥ अवधू० ॥ ४ ॥
उपजी धुनि अजपा की अनहद, जीत नगारे वारी।
झड़ी सदा आनन्दघन बरखत, बिन मोरे इक तारी ॥ अवधू० ॥ ५ ॥
वही, २० वां पद।

२. म्हारे प्रगटे देव निरंजन।
अटको कहां कहां सिर भटकत कहा कहूँ जन-रंजन ॥ म्हारे० ॥ १ ॥
खंजन दृग, दृग-नयनन गाऊं चाऊं चितवत रंजन।
सजन घट अन्तर परमात्मा सकल दुरित भय रंजन ॥ म्हारे० ॥ २ ॥
वो ही कामदेव होय, कामघट वो ही मंजन।
और उपाय न मिले बनारसी सकल करमषय खंजन ॥ म्हारे० ॥ ३ ॥
बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, 'दो नये पद', पृ० २४० क।

मध्यकालीन जैन हिन्दी काव्य में शान्ता भक्ति

पहले के आचार्यों ने 'शान्ति' को साहित्य में अनिर्वचनीय आनन्द का विधायक नहीं माना था, किन्तु पण्डितराज के अकाट्य तर्कों ने उसे भी रस के पद पर प्रतिष्ठित किया। तब से अभी तक उसकी गणना रसों में होती चली आ रही है। उसे मिलाकर नौ रस माने जाते हैं। जैनाचार्यों ने भी इन्हीं नौ रसों को स्वीकार किया है, किन्तु उन्होंने 'शृंगार' के स्थान पर शान्त को 'रसराज' माना है। उनका कथन है कि अनिर्वचनीय आनन्द की सच्ची अनुभूति, रागद्वेष नामक मनोविकार के उपशम हो जाने पर ही होती है। रागद्वेष से सम्बन्धित अन्य आठ रसों के स्थायी भावों से उत्पन्न हुए आनन्द में वह गहरापन नहीं होता, जो शान्त में पाया जाता है। स्थायी आनन्द की दृष्टि से तो शान्त ही एक मात्र रस है। कवि बनारसीदास ने 'नवमो सान्त रसनिकौ नायक'[1] माना है। उन्होंने तो आठ रसों का अन्तर्भाव भी शान्तरस में ही किया है। डॉ० भगवान्

---

१. प्रथम सिंगार वीर दूजौ रस,
तीजौ रस करुना सुखदायक।
हास्य चतुर्थ रुद्र रस पंचम,
छट्ठम रस बीभच्छ विभायक॥
सप्तम भय अट्ठम रस अद्भुत,
नवमो सान्त रसनिकौ नायक।
ए नव रस एई नव नाटक,
जो जहँ मगन सोई तिहि लायक॥

नाटक समयसार; पं० बुद्धिलाल श्रावक की टीका सहित, जैन ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय; बम्बई, १०।१३३, पृ० ३९१।

दास ने भी अपने 'रस मीमांसा' नाम के निबन्ध में, अनेकानेक संस्कृत उदाहरणों के साथ, 'शान्त' को 'रसराज' सिद्ध किया है।

जहाँ तक भक्ति का सम्बन्ध है, जैन और अजैन सभी ने 'शान्त' को ही प्रधानता दी। यदि शाण्डिल्य के मतानुसार 'परानुरक्तिरीश्वरे' ही भक्ति है, तो यह भी ठीक है कि ईश्वर में 'परानुरक्तिः' तभी हो सकती है, जब अपर की अनुरक्ति समाप्त हो। अर्थात् जीव की मनः प्रवृत्ति संसार के अन्य पदार्थों से अनुराग-हीन होकर, ईश्वर में अनुराग करने लगे, तभी वह भक्ति है, अन्यथा नहीं। और संसार को असार, अनित्य तथा दुःखमय मान कर मन का आत्मा अथवा परमात्मा में केन्द्रित हो जाना ही शान्ति है। इस भाँति ईश्वर में 'परानुरक्तिः' का अर्थ भी 'शान्ति' ही हुआ। स्वामी सनातनदेवजी ने अपने 'भाव भक्ति की भूमिकाएँ' नामक निबन्ध में लिखा है, "भगवदनुराग बढ़ने से अन्य वस्तु और व्यक्तियों के प्रति मन में वैराग्य हो जाना भी स्वाभाविक ही है। भक्ति-शास्त्र में भगवत्प्रेम की इस प्रारम्भिक अवस्था का नाम ही 'शान्तभाव' है"।[1] नारद ने भी अपने 'भक्तिसूत्र' में 'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च,' को भक्ति माना है।[2] इसमें पड़े हुए 'परमप्रेम' से यह ही ध्वनि निकलती है कि संसार से वैराग्योन्मुख होकर एकमात्र ईश्वर से प्रेम किया जाये। शान्ति में भी वैराग्य की ही प्रधानता है। 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में 'अन्याभिलाषिताशून्यं कृष्णानुशीलनं उत्तमा भक्ति':[3] उपर्युक्त कथन का ही समर्थन करती है। यह कहना उपयुक्त नहीं हैं कि अनुरक्ति में सदैव जलन होती है, चाहे वह ईश्वर के प्रति हो अथवा संसार के, क्योंकि दोनों में महदन्तर है। सांसारिक अनुरक्ति दुःख की प्रतीक है और ईश्वरानुरक्ति दिव्य सुख को जन्म देती है। पहली में जलन है, तो दूसरी में शीतलता, पहली में पुनः-पुनः भ्रमण की बात है, तो दूसरी में मुक्त हो जाने की भूमिका।

जैनाचार्य शान्ति के परम समर्थक थे। उन्होंने एक मत से, राग-द्वेषों से विमुख होकर वीतरागी पथ पर बढ़ने को ही शान्ति कहा है। उसे प्राप्त करने के दो उपाय हैं—तत्व-चिन्तन और वीतरागियों की भक्ति। वीतराग में किया गया

---

१. कल्याण, भक्ति विशेषांक, वर्ष ३२, अंक १, पृ० ३६६।

२. 'नारद प्रोक्त भक्ति सूत्रं', वाराणसी, प्रथम सूत्र।

३. भक्ति रसामृतसिन्धु, गोस्वामी दामोदर शास्त्री सम्पादित, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय, काशी, वि० सं० १६८८, प्रथम संस्करण।

अनुराग साधारण राग की कोटि में नहीं आता। जैनों ने शान्तभाव की चार अवस्थाएँ स्वीकार की हैं—प्रथम अवस्था वह है जब मन की प्रवृति, दु:खरूपात्मक संसार से हट कर आत्म-शोधन की ओर मुड़ती है। यह व्यापक और महत्वपूर्ण दशा है। दूसरी अवस्था में उस प्रमाद का परिष्कार किया जाता है, जिसके कारण संसार के दु:ख-सुख सताते हैं, तीसरी अवस्था वह है जबकि विषय-वासनाओं का पूर्ण अभाव होने पर निर्मल आत्मा की अनुभूति होती है। चौथी अवस्था केवल ज्ञान के उत्पन्न होने पर पूर्ण आत्मानुभूति को कहते हैं। ये चारों अवस्थाएं आचार्य विश्वनाथ के द्वारा कही गई युक्त, वियुक्त और युक्त-वियुक्त दशाओं के समान मानी जा सकती हैं।[१] इनमें स्थित 'शम' भाव ही रसता को प्राप्त होता है।

जैनाचार्यों ने 'मुक्ति दशा' में 'रसता' को स्वीकार नहीं किया है, यद्यपि वहाँ विराजित पूर्ण शांति को माना है। अर्थात् सर्वज्ञ या अर्हन्त जब तक इस संसार में हैं, तभी तक उनकी 'शान्ति' शान्तरस कहलाती है, सिद्ध या मुक्त होने पर नहीं। 'अभिवान राजेन्द्र कोश' में रस की परिभाषा लिखी है, "रस्यन्तेऽन्तरात्मनाऽनुभूयन्ते इति रसा:"।[२] अर्थात् अन्तरात्मा की अनुभूति को रस कहते हैं। सिद्धावस्था में अन्तरात्मा अनुभूति से ऊपर उठकर आनन्द का पुञ्ज ही हो जाती है, अत: अनुभूति की आवश्यकता ही नहीं रहती। जैनाचार्य वाग्भट्ट ने अपने 'वाग्भट्टालंकार' में रस का निरूपण करते हुए लिखा है, "विभावैरनुभावैश्च, सात्विकैर्व्यभिचारिभि:। आरोप्यमाणं उत्कर्षं स्थायीभाव: स्मृतो रस":।[३] अर्थात् विभाव, अनुभाव, सात्विक और व्यभिचारियों के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुआ स्थायी भाव ही रस कहलाता है। सिद्धावस्था में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि भावों के अभाव में रस नहीं बन पाता।

जैन आचार्यों ने भी अन्य साहित्य-शास्त्रियों की भाँति ही 'शम' को शान्त रस का स्थायीभाव माना है। भगवज्जिनसेन ने 'अलंकार चिन्तामणि' में 'शम' को विशद करते हुए लिखा है, "विरागत्वादिना निर्विकार मनस्त्वं शम:"

---

१. युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तस्मिन्संचार्यादिः स्थितिश्च न विरुद्धा॥
आचार्य विश्वनाथ, सहित्यदर्पण, ३।२५०।

२. अभिधानराजेन्द्रकोश, 'रस', शब्द।

३. आचार्य वाग्भट्ट, वाग्भट्टालंकार।

अर्थात् विरक्ति आदि के द्वारा मन का निर्विकार होना शम है।[1] यद्यपि आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' को 'शान्तरस का स्थायीभाव माना है, किन्तु उन्होंने "तत्वज्ञान जन्यनिर्वेदस्यैव शमरूपत्वात्" लिखकर निर्वेद को शम रूप ही स्वीकार किया है।[2] आचार्य विश्वनाथ ने शम' और 'निर्वेद' में भिन्नता मानी है और उन्होंने पहले की स्थायी भाव में तथा दूसरे की संचारी भाव में गणना की है।[1] जैनाचार्यों ने वैराग्योत्पत्ति के दो कारण माने हैं—प्रथम-तत्वज्ञान, द्वितीय इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग। इसमें पहले में उत्पन्न हुआ वैराग्य स्थायीभाव है और दूसरा संचारी। इस भाँति उनका अभिमत भी आचार्य मम्मट से मिलता-जुलता है। इसके साथ-साथ उन्होंने मम्मट तथा विश्वनाथ की भाँति ही अनित्य जगत को आलम्बन, जैन मन्दिर, जैन तीर्थ क्षेत्र, जैन मूर्ति और जैन साधु को उद्दीपन, धृत्यादिकों को संचारी तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह के अभाव अर्थात् सर्व समत्व को अनुभाव माना है।

शान्ति का अर्थ है निराकुलता। आकुलता राग से उत्पन्न होती है। रत होना राग है। इसी को आसक्ति कहते है। आसक्ति ही अशान्ति का मूल कारण है। सांसारिक द्रव्यों का अर्जन और उपभोग बुरा नहीं है; किन्तु उसमें आसक्त होना ही दुःखदायी है। आचार्य कुन्द-कुन्द ने कहा है कि जैसे अरति भाव से पी गई मदिरा नशा उत्पन्न नहीं करती, वैसे ही अनासक्त भाव से द्रव्यों का उपभोग कर्मों का बन्ध नहीं करता।[3] कर्मों का बन्ध अशान्ति ही है। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह बन्ध जिनेन्द्र के चरणों की स्तुति से स्वतः उपशम हो जाता है जैसे कि मन्त्रों के उच्चारण से सर्प का दुर्जय विष शान्त हो जाताहै।[4] जैसे

---

१. भगवज्जितसेनाचार्य, अलंकारचिन्तामणि।

२. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश, चौखम्बा संस्कृत माला, संख्या ५६, १६२७ ई०, चतुर्थ उल्लास; पृ० १६४।

३. जहमज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव॥
आचार्यकुन्दकुन्द, समयसार, श्री पाटणी दि० जैन ग्रन्थमाला, मारौठ (मारवाड़), १९५३ ई०, १९६वीं गाथा, पृ० २९६।

४. क्रुद्धाशीविषदष्टदुर्जयविषज्वालावली विक्रमो,
विद्याभेषज मंत्रतोयहवनैर्याति प्रशान्तिं यथा।
तद्वत्ते चरणाम्बुजयुग स्तोत्रोन्मुखानां नृणाम्,
विघ्नाः कायविनाशकाश्च सहसा शाम्यन्त्यहो विस्मयः॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृतशान्तिभक्ति, 'दशभक्तिः', शोलापुर, १९२१ ई०, २रा श्लोक, पृ० ३३५।

ग्रीष्म के प्रखर सूर्य से संतप्त हुए जीव को जल और छाया में शान्ति मिलती है, वैसे ही संसार के दुःखों से बेचैन प्राणी भगवान् के चरण कमलों में शान्ति पाता है।[1] मुनि शोभन शाश्वत शान्ति चाहते हैं। उनका विश्वास है कि भगवान् की वाणी का श्रवण करने मात्र से वह उपलब्ध हो सकती है।[2] आचार्य सोमदेव शिव-सुख देने वाली शान्ति चाहते हैं। वही भव दुःख रूपी अग्नि पर घनामृत की वर्षा कर सकती है। वह शान्ति भगवान् शान्तिनाथ प्रदान कर सकते हैं।

"भव दुःखानलाशान्तिर्धर्मामृतवर्षजनितजनशान्तिः।
शिवशर्मास्रवशान्तिः शान्तिकरः स्ताज्जिनः शान्तिः॥[3]

जैन ग्रन्थों के अन्तिम मंगलाचरण प्रायः शान्ति की याचना में ही समाप्त होते हैं। शान्ति भी केवल अपने लिए नहीं, संघ, आचार्य, साधु, धार्मिक जन और राष्ट्र के लिए भी। आचार्य पूज्यपाद का "संपूजकानां प्रतिपालकानां यतीन्द्र सामान्य तपोधनानाम्। देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञःकरोतु शान्ति भगवान् जिनेन्द्रः।[4] इसी का द्योतक है। पं० श्री मेधावी के धर्मसंग्रह श्रावकाचार का

---

१. न स्नेहाच्छरणं प्रयान्ति भगवन्पादद्वयं प्रजाः,
हेतुस्तत्र विचित्र दुख निचयः संसारघोरार्णवः।
अत्यन्त स्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्ण भूमंडलो,
ग्रैष्मः कारयतीन्दु पादसलिलच्छायानुरागं रविः॥
आचार्य पूज्यपाद, संस्कृतशान्तिभक्ति, पहला श्लोक, पृ० १७४।

२. शान्ति वस्तनुतान्मियोऽनुगमनाद्यन्न गमनाद्यैर्नयै,
रक्षोमं जन हेऽतुलां जितमदोदीर्णांगजालं कृतम्।
तत्पूज्यैर्जगतां जिनैः प्रवचनं द्रप्यत्कुवाद्यावली,
रक्षोमं जन हेतुलांछितमदो दीर्णांग जालं कृतन्॥
मुनिशोभन, चतुर्विंशतिजिनस्तुतिः, काव्यमाला, सप्तमगुच्छक, निर्णयसागर प्रस, बम्बई, ३रा श्लोक, पृ० १३३।

३. K. K. Handiqui, yasastilak and Indian culture, Sholapur, 1949. P. 311.

४. दशभक्त्यादिसंग्रह, पृ० १८१, श्लोक १४वां।

मंगलाचरण भी ऐसा ही है। उन्होंने भी राजा, प्रजा और मुनि, सभी के लिए शान्ति चाही है।[1]

शान्ति दो प्रकार की होती है—शाश्वत और क्षणिक। पहली का सम्बन्ध मोक्ष से है और दूसरी का भौतिक संसार से। भक्त जन दोनों के लिए याचना करते रहे हैं। जिनेन्द्र की अनुकम्पा से उन्हें दोनों की प्राप्ति भी हुई है। इस दिशा में जैन मंत्रों का महत्वपूर्ण योग रहा है। जैनों का प्राचीन मंत्र 'णमो अरिहन्ताणं' मंत्र है। इसमें पंच परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। पूरा मंत्र है "णमो अरिहन्ताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए-सव्वसाहूणं।" इसका अर्थ है—अर्हन्तों को नमस्कार हो, सिद्धों को नमस्कार हो, आचार्यों को नमस्कार हो, उपाध्यायों को नमस्कार हो और लोक के सर्व साधुओं को नमस्कार हो। जैन आचार्यों ने इस मंत्र में अपूर्व शक्ति स्वीकार की है। भद्रबाहु स्वामी ने अपने 'उवसग्गहर स्तोत्र' में लिखा है, "तुह सम्मत्ते लद्धे चिंतामणिकप्प पायवब्भहिए। पावंति अविग्घेणं जीवा अयरामरं ठाणं ॥"[2] इसका तात्पर्य है कि पंचनमस्कार मंत्र से चिंतामणि और कल्पवृक्ष से भी अधिक महत्वशाली सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, जिसके कारण जीव को मोक्ष मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द का विश्वास है, "अरुहा, सिद्धायरिया उवझाया साहु पंचपरमेट्ठि। एदे पंचणमोयारा भवे भवे मम सुहं दिंतु ॥"[3] अर्थात् अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु मुझे भव-भव में सुख देवें। आचार्य पूज्यपाद का कथन है कि यह 'पंच नमस्कार' का मंत्र सब पापों को नष्ट करने वाला है और जीवों का कल्याण करने में सबसे ऊपर है।[4] मुनि वादिराज ने 'एकीभाव स्तोत्र' में लिखा है, "जब पापाचारी कुत्ता भी णमोकार मंत्र को सुनकर देव हो गया, तब यह

---

१. शान्तिः स्याज्जिनशासनस्य सुखदा शान्तिर्नृपाणां सदा,
सुप्रजाशांतयोमरभृतां शान्तिर्मुनीनां सदा।
श्रोतृणां कविताकृतां प्रवचनव्याख्यातृकाणां पुनः,
शान्ति शान्तिरथाग्नि जीवनमुचः श्री सज्जनस्यापि च ॥
पण्डित श्री मेधावी, धर्मसंग्रहश्रावकाचार, अन्तिमप्रशस्ति, प्रशस्तिसंग्रह, जयपुर, १९५० ई०, ३५वां श्लोक, पृ० २५।

२. उवसग्गहरंस्तोत्त, चौथीगाथा, जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग २, मुनिचतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, वि० सं० १९९२, पृ० ११।

३. 'पंचगुरुभक्ति', सातवीं गाथा, दशभक्तिः, शोलापुर, १९२१ ई०, पृ० ३५८।

४. एष पंचनमस्कारः सर्वपापप्रणाशनः। मंगलानां च सर्वेषां प्रथमं मंगलं भवेत् ॥
देखिए वही, सातवां श्लोक, पृ० ३५३।

निश्चित है कि उस मंत्र का जाप करने से यह जीव इन्द्र की लक्ष्मी को पा सकता है।[1]

श्री जिनप्रभसूरि ने 'विविध तीर्थकल्प' के 'पंच-परमेष्ठी नमस्कार कल्प' में स्वीकार किया है, "इस मंत्र की आराधना करने वाले योगीजन, त्रिलोक के उत्तम पद को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ तक ही नहीं, किन्तु सहस्त्रों पापों का सम्पादन करने वाले तिर्यञ्च भी इस मंत्र की भक्ति से स्वर्ग में पहुँच जाते हैं।[2] जैनाचार्यों ने 'णमोकार मंत्र' की शक्ति को देवता कहा है। उसमें आध्यात्मिक, आधि भौतिक और आधिदैविक तीनों ही प्रकार की शक्तियाँ सन्निहित हैं। वह मोह के दुर्गमन को रोकने में पूर्ण रूप से समर्थ है।[3] जैन परम्परा में यह मंत्र अनादि निधन माना जाता है। वैसे भगवान् महावीर से पहले 'चौदह पूर्वों' का अध्ययन-अध्यापन प्रचलित था। भगवान् ने अपने गणधरों को इनकी विद्या प्रदान की थी।[4] उनमें 'विद्यानुवाद' नाम के पूर्व का प्रारम्भ णमोकार मंत्र

---

१. प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः,
पापाचारी मरणसमये सारमेयोऽपि सौख्यं।
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्री प्रभुत्वं,
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कार चक्रं ॥
एकीभावस्तोत्र, १२वां श्लोक, काव्यमाला सप्तमगुच्छक, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पृ० १६।

२. एतमेव महामन्त्रं समाराध्येह योगिनः। त्रैलोक्याऽपि महीयन्तेऽधिगताः परमं पदम्।
कृत्वा पापसहस्राणि हत्वा जन्तुशतानि च। अमुं मन्त्रं समाराध्य तिर्यञ्चोऽपि दिवंगताः।
जिनप्रभसूरि, पंचपरमेष्ठि नमस्कारकल्प, विविधतीर्थकल्प, मुनिजिनविजय सम्पादित, शान्तिनिकेतन, १९३४ ई०, प्रथम भाग, पृ० १०८, श्लोक ५-६।

३. स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रियततो मोहस्य सम्मोहनं।
पायात्पंचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥
नमस्कार मंत्र, तीसरा श्लोक, धर्मध्यानदीपक, पृ० २।

४. "The original doctrine was contained in the Fourteen Purvas (old texts), which Mahavira himself had taught to his Ganadharas."
Dr. Jagdish chandra Jain, Ancient India as depicted in Jain Canons, New book Company Ltd., Bombay, 1947. P. 32.

से ही हुआ था। विद्यानुवाद मंत्र-विद्या का अपूर्व ग्रन्थ था।[1] श्री मोहनलाल भगवानदास झवेरी ने जैन मन्त्र-शास्त्र का प्रारम्भ ईसा से ८५० वर्ष पूर्व, अर्थात् तीर्थंकर पार्श्वनाथ के समय से स्वीकार किया है।[2] हो सकता है कि पार्श्वनाथ के समय में भी '१४ पूर्व' पहले से आई हुई 'विद्या' के रूप में प्रतिष्ठित रहे हों। उपलब्ध पुरातात्विक सामग्री के आधार पर 'णमोकार मंत्र' का प्राचीनतम उल्लेख 'हाथी-गुम्फ' के शिलालेख में प्राप्त होता है, जिसके निर्माता सम्राट् खारवेल ईसा से १७० वर्ष पूर्व हुए हैं।[3]

'शान्ति' का आधार केवल 'णमोकार मंत्र' ही नहीं है, अन्य अनेक मंत्र भी हैं। यहाँ सबका उल्लेख सम्भव नहीं है। वे एक पृथक् निबन्ध का विषय हैं। मंत्र क्षेत्र में यंत्रों की भी गणना होती है। उनमें एक शान्ति यंत्र भी है। मन्दिरों में इसकी स्थापना की जाती है और उसकी पूजा-अर्चा होती है। 'मंत्राधिराज कल्प' नाम के ग्रन्थ में 'शान्ति यंत्र' को पूजा दी हुई है। इसके रचयिता एक सागरचन्द्र सूरि नाम के साधु थे। उनका समय १५ वीं शताब्दी माना जाता है। उन्होंने एक स्थान पर 'शान्ति यंत्र' की महत्ता के सम्बन्ध में लिखा है, "शमयतिदुरितश्रेणिं दमयत्यरिसन्तर्तिं सततमसौ। पुष्णाति भाग्यनिचयं मुष्णाति व्याधि सम्बाधाम्॥"[4] तात्पर्य है—शांति यंत्र की पूजा से रोग, पाप, शत्रु और व्याधियां उपशम हो जाती हैं, और सौभाग्य का उदय होता है। शांति के लिए

---

१. कहा जाता है कि मुनि सुकुमारसेन (७वीं शती ईसवी) के विद्यानुशासन में विद्यानुवाद की बिखरी सामग्री का संकलन हुआ था। विद्यानुशासन की हस्तलिखित प्रति जयपुर और अजमेर के शास्त्र भाण्डरों में मौजूद है।

२. "Mr. Jhaveri thinks that the Mantrasastra among the Jains is also of hoary antiquity. He claims that its antiquity goes back to the days of Parsvanatha, the 23rd Tirthankara, who flourished about 850 B. C."

Dr. A. S. Altekar, 'Mantrashastra and Jainism,' Jain cultural Research Society, Hindu University, Varanasi, P. 9.

३. V. A. Smith, Early History of India, Oxford, 1908, P. 38. N. I.

४. श्री सागर चन्द्र सूरि, मन्त्राधिराजकल्प, जैनस्तोत्रसन्दोह, भाग २, मुनि चतुरविजय सम्पादित, अहमदाबाद, सन् १९३६, ३३वां श्लोक, पृ० २७७।

'शांति पाठ' भी किये जाते हैं। वे मंत्र-गर्भित होते हैं। अनेक दिन विधिवत् उनका पाठ होता है। आज भी उनका प्रचलन है। प्रति वर्ष अनेक स्थानों पर उनके पाठ का आयोजन किया जाता है। इन मंत्र-यंत्रों में इहलौकिक शान्ति की अमोध शक्ति मानी गई है, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य पारलौकिक शाश्वत शान्ति ही है। उनका मूल स्वर 'आध्यात्मिक' है 'भौतिक' नहीं। यह ही कारण है कि उनमें बज्रयानी तान्त्रिक सम्प्रदाय की भाँति व्यभिचार, मदिरा और मांस वाली बातें नहीं पनप सकीं। जैन देवियाँ मन्त्र की शक्तिरूपा थीं। उन्हें मन्त्र के बल पर ही साधा जा सकता था। किन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ कि उन मन्त्रों के साथ नीच कुलोत्पन्न कन्याओं के आसेवन की बात चली हो। ऐसा भी नहीं हुआ कि भाद्रपद की अमावस की रात में एक सौ सोलह कुँआरी, सुन्दरी कन्याओं की बलि से वे यत्किञ्चित् भी प्रसन्न हुई हों। वे कराला थीं, किन्तु उनकी करालता व्यभिचार या मदिरा-मांस से तृप्त नहीं होती थी। सतगुणों का प्रदर्शन ही उन्हें सन्तुष्ट बना सकता था। इसी भांति जैन साधु मन्त्र विद्या के पारंगत विद्वान् थे, किन्तु उन्होंने राग सम्बन्धी पदार्थों में उनका कभी उपयोग नहीं किया। जैन मन्त्र सांसारिक वैभवों के देने में सामर्थ्यवान होते हुए भी वीतरागी बने रहे। वीतरागता ही शान्ति है। उसका जैसा शानदार समर्थन जैन मन्त्र कर सके, अन्य नहीं।

जैन भक्ति काव्य और मन्त्रों की सबसे बड़ी विशेषता है, उनकी शान्तिपर-कता। कुत्सित परिस्थितियों और संगतियों में भी वे शान्तरस से दूर नहीं हटे। उन्होंने कभी भी अपनी ओट में शृंगारिक प्रवृत्तियों को प्रश्रय नहीं दिया। दाम्पत्य रति-मूला भगवद्भक्ति बुरी नहीं है। यह भी भक्ति की एक विधा है। जैन काव्यों के 'आध्यात्मिक विवाह' इसी कोटि में आते हैं। नेमीश्वर और राजुल को लेकर शतशः काव्यों का निर्माण हुआ। वे सभी सात्त्विकी भक्ति के निदर्शन हैं। उनमें कहीं भी जगन्माताओं की सुहागरातों का नग्न विवेचन नहीं है। जिसे मां कहा, उसके अंग-प्रत्यंग में मादकता का रंग भरना उपयुक्त नहीं है। इससे मां का भाव लुप्त होता है और सुन्दरी नवयौवना नायिका का रूप उभरता है। घनाश्लेष में आवद्ध दम्पति भले ही दिव्यलोक-वासी हों, पाठक या दर्शक में पवित्रता नहीं भर सकते। भगवान् पति की आरती के लिए भगवती पत्नी का अँगूठों पर खड़ा होना ठीक है, किन्तु साथ ही पीनस्तनों के कारण उनके हाथ की पूजा-थाली के पुष्पों का बिखर जाना कहां तक भक्ति परक

है ।[1] राजशेखर सूरि के 'नेमिनाथफागु' में राजुल का अनुपम सौन्दर्य अंकित है, किन्तु उसके चारों ओर एक ऐसे पवित्र वातावरण की सीमा लिखी हुई है, जिससे विलासिता को सहलन प्राप्त नहीं हो पाती । उसके सौन्दर्य में जलन नहीं, शीतलता है । वह सुन्दरी है किन्तु पावनता की मूर्ति है । उसको देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है । मैंने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि' में लिखा है, "जबकि भगवान् के मंगलाचरण भी वासना के कैमरे से खींचे जा रहे थे, नेमीश्वर और राजुल से संबंधित मांगलिक पद दिव्यानुभूतियों के प्रतीक भर ही रहे । उन्होंने अपनी पावनता का परित्याग कभी नहीं किया ।"[2] जिन पद्मसूरि के 'थूलिभद्दफागु'[3] में कोशा के मादक सौन्दर्य और कामुक विलास चेष्टाओं का चित्र खींचा गया है । युवा मुनि स्थूलभद्र के संयम को डिगाने के लिए सुन्दरी कोशा ने अपने विलास-भवन में अधिकाधिक प्रयास किया, किंतु कृतकृत्य न हुई । कवि को कोशा की मादकता निरस्त करना अभीष्ट था, अतः उसके रति-रूप और कामुक भावों का अंकन ठीक ही हुआ । तप की दृढ़ता तभी है, जब वह बड़े-से-बड़े सौन्दर्य के आगे भी दृढ़ बना रहे । कोशा जगन्माता नहीं, वेश्या थी । वेश्या भी ऐसी-वैसी नहीं, पाटलिपुत्र की प्रसिद्ध वेश्या । यदि पद्मसूरि उसके सौंदर्य को उन्मुक्त भाव से मूर्तिमन्त न करते तो अस्वाभाविकता रह जाती । उससे एक मुनि का संयम सुदृढ़ प्रमाणित हुआ । इसमें कहीं अश्लीलता नहीं है । सच तो यह है कि दाम्पत्य रति को रूपक ही रहना चाहिए था, किंतु जब उसमें रूपकत्त्व तो रहा नहीं, रति ही प्रमुख हो गई, तो फिर अशालीनता का उभरना भी ठीक ही था । जैन कवि और काव्य इससे बचे रहे । इसी कारण उनकी शांतिपरकता भी बची रही ।

हिन्दी के जैनभक्त कवियों ने संस्कृत-प्राकृत की शांतिधारा का अनुगमन किया । बनारसीदास ने 'नाटक समयसार' में 'नवमों सांत रसनि कौ नायक' स्पष्ट

---

१. पादाग्रस्थितया मुहुः स्तनभरेणानीतया नम्रतां
शम्भोः सस्पृहलोचनत्रयपथं यान्त्या तदाराधने ।
ह्रीमत्या शिरसीहितः सपुलकस्वेदोद्गमोत्कम्पया
विश्लिष्यन्कुसुमाञ्जलिर्गिरिजया क्षिप्तोऽन्तरे पातु वः ।।
श्री हर्ष, रत्नावली, प्रथम मंगलाचरण ।

२. देखिए 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', प्रथम अध्याय, पृ० ४ ।

३. यह काव्य प्राचीन गुर्जर ग्रन्थमाला, ३, वि० सं० २०११, पृ० ३७ पर प्रकाशित हो चुका है ।

रूप से स्वीकार किया। उनकी रचनायें इसकी प्रतीक हैं। आगे के कवि उनसे प्रभावित हैं। हिंदी के इन जैन कवियों का मंत्र, तंत्र और शांति पाठों की रचना में मन न लगा। इनसे संबंधित हिंदी काव्य संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों के अनुवाद-भर हैं। देवी पद्मावती, अम्बिका आदि मंत्राधिष्ठात्री देवियों की स्तुतियाँ भी पूर्व काव्यों की छाया ही हैं। इनका मन लगा, संसार की आकुलता और राग-द्वेषों के चित्रांकन में। उन्होंने पुनः-पुनः मन को वीतरागता की ओर आकर्षित किया। इस दिशा में उनका पद-काव्य अनुपम है। मानव की मूलवृत्तियों के समन्वय ने उसे भाव-भीना बना दिया है। वे साहित्यिक कृतियाँ हैं। उनमें उपदेश की रूक्षता तो किञ्चिन्मात्र भी नहीं है। कोई भी बात, चाहे उपदेशपरक ही क्यों न हो, भावों के साँचे में ढल कर साहित्य बन जाती है। जैन हिंदी के प्रबंध और खण्ड काव्यों का मूल स्वर शांत रस ही है। अन्य रस भी हैं, किंतु उनका समाधान शांतरस में ही हुआ है। ऐसा करने में कहीं भी खींचतान नहीं है, सब कुछ प्रासंगिक और स्वाभाविक है।

जैन हिंदी के भक्ति-काव्यों में यदि एक ओर सांसारिक राग-द्वेषों से विरक्ति है, तो दूसरी ओर भगवान् से चरम शांति की याचना। उनको शांति तो चाहिए किंतु अस्थायी नहीं। वे उस शांति के उपासक हैं जो कभी पृथक् न हो। जब तक मन की दुविधा न मिटेगी, वह कभी भी शांति का अनुभव नहीं कर सकता। और यह दुविधा निजनाथ निरंजन के सुमिरन करने से ही दूर हो सकती है। कवि बनारसीदास अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं, "न जाने कब हमारे नेत्र चातक अक्षयपद रूपी घन की बूँदें चख सकेंगे, तभी उनको निराकुल शांति मिलेगी। और न जाने वह घड़ी कब आयेगी जब हृदय में समता भाव जगेगा। हृदय के अन्दर जब तक सुगुरु के वचनों के प्रति दृढ़ श्रद्धा उत्पन्न नहीं होगी, परमार्थ सुख नहीं मिल सकता। उसके लिए एक ऐसी लालसा का उत्पन्न होना भी अनिवार्य है, जिसमें घर छोड़ कर बन में जाने का भाव उदित हुआ हो।[1]

---

१. कब जिननाथ निरञ्जन सुमिरों,
तजि सेवा जन जन की, दुविधा कब जैहै या मन की ॥१॥
कब रुचि सों पीवें दृग चातक बूँद अखयपद घन की।
कब शुभ ध्यान धरों समता गहि करूं न ममता तन की, दुविधा० ॥२॥

टिप्पणी अगले पेज पर देखिये

कवि बनारसीदास ने 'शांतरस' को 'आत्मिक रस' कहा है, उसका आस्वादन करने से परम आनन्द मिलता है। वह आनन्द कामधेनु, चित्रावेलि और पंचामृत भोजन के समान समझना चाहिए।[1] इस आनन्द को साक्षात् करने वाला चेतन जिसके घट में विराजता है, उस जिनराज की बनारसीदास ने वंदना की है।[2]

यह जीव संसार के बीच में भटकता फिरता है किन्तु उसे शांति नहीं मिलती। वह अपने अष्टादश दोषों से प्रपीड़ित है और आकुलता उसे सताती ही रहती है। भैया भगवतीदास का कथन है, हे जीव! इस संसार के असंख्य कोटि सागर को पीकर भी तू प्यासा ही है और इस संसार के दीपों में जितना अन्न भरा है, उसको खाकर भी तू भूखा ही है। यह सब कुछ अठारह दोषों के कारण है। वे तभी जीते जा सकते हैं जब तू भगवान् जिनेन्द्र का ध्यान करे और उसी

कब घट अन्तर रहै निरन्तर,
दृढ़ता सुगुरु वचन की।
कब सुख लहौं भेद परमारथ,
मिटै धारना धन की, दुविधा० ॥३॥
कब घर छांड़ होहुं एकाकी,
लिये लालसा वन की।
ऐसी दशा होय कब मेरी,
हौं बलि बलि वा छन की, दुविधा० ॥४॥
बनारसीदास, अध्यात्मपदपंक्ति, १३वां पद,
बनारसीविलास, जयपुर, १९५४ ई०, पृ० १३१–३२।

१. अनुभौ की केलि यहै कामधेनु, चित्रावेलि,
अनुभौ को स्वाद पंच अमृत को कौर है॥
नाटक समयसार, उत्थानिका, १९वां पद्य।

२. सत्य-सरूप सदा जिन्ह कै
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात निकंदन।
सांत दसा तिन्ह की पहिचानि
करै कर जोरि बनारसि वंदन॥
वही, छठा पद्य, पृ० ७।

पथ का अनुसरण करें, जिस पर वे स्वयं चले थे।[1] भैया की दृष्टि से अष्टादश दोष ही अशांति के कारण हैं और वे भगवान् जिन के ध्यान से जीते जा सकते हैं। तभी यह जीव उस शांति का अनुभव करेगा, जो भगवान् जिनेन्द्र में साक्षात् ही हो उठी थी। भैया का स्पष्ट अभिमत है कि राग-द्वेष में प्रेम करने के ही कारण यह जीव अपने परमात्म-स्वरूप के दर्शनों का आनन्द नहीं ले पाता अर्थात् वह चिदानन्द के सुख से दूर ही रहता है। राग-द्वेष का मुख्य कारण है मोह, इसलिए मोह के निवारण से राग-द्वेष स्वयं नष्ट हो जायेंगे, और राग-द्वेषों के टलने से मोह तो यत्किंचित् भी न रह पायेगा। कर्म की उपाधि को समाप्त करने का भी यह ही एक उपाय है। जड़ के उखाड़ डालने से भला वृक्ष कैसे ठहर सकता है। और फिर तो उसके डाल-पात, फल-फूल भी कुम्हला जायेंगे। तभी चिदानन्द का प्रकाश होगा और यह जीव सिद्धावस्था में अनन्त सुख विलस सकेगा।

मोह के निवारे राग द्वेषहू निवारे जाहिं,
राग-द्वेष टारें मोह नेकहूँ न पाइए।
कर्म की उपाधि के निवारिवे को पंच यहै,
जड़ के उखारे, वृक्ष कैसे ठहराइए।
डार-पात फल-फूल सबै कुम्हलाय जाय,
कर्मन के वृक्षन को ऐसे कै नसाइए।
तबै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप,
विलसै अनन्त सुख सिद्ध में कहाइए ॥[2]

---

१. जे तो जल लोक मध्य सागर असंख्य कोटि
ते तो जल पियो पै न प्यास याकी गयी है।
जे ते नाज दीप मध्य भरे हैं अवार ढेर
ते तो नाज खायो तोऊ भूख याकी नई है।
तातैं ध्यान ताको कर जातैं यह जाय हर
अष्टादश दोष आदि ये ही जीत लई है।
वहे पंथ तू ही साज अष्टादश जाँहि भाजि
होय बैठि महाराज तोहि सीख दई है॥
भैय्या भगवतीदास, ब्रह्मविलास, जैनग्रंथरत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १६२६ ई०, शैत अष्टोत्तरी, १६वां कवित्त, पृ० ३२।

२. मिथ्यात्वविध्वंसन चतुर्दशी, ८ वां कवित्त, पृ० १२१।

अनन्त सुख ही परम शान्ति है। भैया ने एक सुन्दर-से पद में जैन मत को शान्तिरस का मत कहा है। शान्ति की बात करने वाले ही ज्ञानी हैं, अन्य तो सब अज्ञानी ही कहे जायेंगे।[1]

भूधरदासजी के स्वामी की शरण तो इसीलिए सच्ची है कि वे समर्थ और सम्पूर्ण शान्ति-प्रदायक गुणों से युक्त हैं। भूधरदास को उनका बहुत थोड़ा भरोसा है। उन्होंने जन्म-जरा आदि वैरियों को जीत लिया है और मरन की टेव से छुटकारा पा गये हैं। उनसे भूधरदास अजर और अमर बनने की प्रार्थना करते हैं। क्योंकि जब तक यह मनुष्य संसार के जन्म-मरण से छुटकारा नहीं पायेगा, शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। जैन परम्परा में देवों को अमर नहीं कहते। यहाँ अमरता का अर्थ है मोक्ष, जहाँ किसी प्रकार की आकुलता नहीं होती, ऐसी शान्ति वह दे सकता है, जिसने स्वयं प्राप्त कर ली है। वे संसारी 'साहिब', जो बारम्बार जनमते हैं, मरते हैं, और जो स्वयं भिखारी हैं, दूसरों का दारिद्र्य कैसे हर सकते हैं।[2] भगवान् 'शान्तिजिनेन्द्र', जो स्वयं शान्ति के प्रतीक हैं, सहज में ही अपने सेवकों के भाव-द्वन्द्वों को हर सकते हैं। भूधरदास उन्हीं से ऐसा करने की याचना भी करते हैं।[3] यह जीव सांसारिक कृत्यों के करने में तो बहुत ही उतावला रहता है, किंतु भगवान् के सुमरन में सीरा हो जाता है। जैसे कर्म करता है, वैसे फल में शांति और निराकुलता चाहता है, जो कि पूर्ण रीत्या असम्भव है। आक बोयेगा, आम कैसे मिलेंगे, नग हीरा नहीं हो सकता। जैसे यह जीव विषयों के बिना एक क्षण भी नहीं रह सकता, वैसे ही यदि प्रभु को निरंतर जपे तो सांसारिक अशांति को पार कर निश्चय शांति पा सकता है।[4]

शान्तभाव को स्पष्ट करने के लिए भूधरदास ने एक पृथक् ही ढंग अपनाया है। वे सांसारिक वैभवों की क्षणिकता को दिखाकर और तज्जन्य बेचैनी को उद्घोषित कर चुप हो जाते हैं और उसमें से शांति की ध्वनि, संगीत की झंकार की तरह फूटती ही रहती है। धन और यौवन के मद में उन्मत्त जीवों को सम्बोधन

---

१. शान्तरसवारे कहैं मन को निवारे रहैं
वेई प्रानप्यारे रहैं और सरवारे हैं।।
वही, ईश्वरनिर्णयपच्चीसी, छठा कवित्त, पृ० २५३।

२. भूधरविलास, कलकत्ता, ५३वां पद, पृ० ३०।

३. वही, ३४ वां पद, पृ० १९।

४. वही, २२ वां पद, पृ० १३।

करते हुए उन्होंने कहा, "ए निपट गंवार नर। तुझे घमण्ड नहीं करना चाहिए। मनुष्य की यह काया और माया झूठी है, अर्थात् क्षणिक है। यह सुहाग और यौवन कितने समय का है, और कितने दिन इस संसार में जीवित रहना है। हे नर! तू शीघ्र ही चेत जा और विलम्ब छोड़े दे। क्षण-क्षण पर तेरे बंध बढ़ते जायेंगे, और तेरा पल-पल ऐसा भारी हो जायेगा, जैसे भीगने पर काली कमरी।"[1] भूधरदास ने एक दूसरे पद में परिवर्तन शीलता का सुन्दर दृश्य अंकित किया है। उन्होंने कहा, "इस संसार में एक अजब तमाशा हो रहा है, जिसका अस्तित्व-काल स्वप्न की भाँति है, अर्थात् यह तमाशा स्वप्न की तरह शीघ्र ही समाप्त भी हो जायेगा। एक के घर में मन की आशा के पूर्ण हो जाने से मंगल-गीत होते हैं, और दूसरे घर में किसी के वियोग के कारण नैन निराशा से भर-भर कर रोते हैं। जो तेज तुरंगों पर चढ़ कर चलते थे, और खासा तथा मलमल पहनते थे, वे ही दूसरे क्षण नंगे होकर फिरते हैं, और उनको दिलासा देने वाला भी कोई दिखाई नहीं देता। प्रातः ही जो राजतख्त पर बैठा हुआ प्रसन्न-बदन था, ठीक दोपहर के समय उसे ही उदास होकर वन में जाकर निवास करना पड़ा। तन और धन अत्यधिक अस्थिर हैं, जैसे पानी का बताशा। भूधरदासजी कहते हैं कि इनका जो गर्व करता है, उसके जन्म को धिक्कार है।[2]" यह मनुष्य मूर्ख है, देखते हुए भी अंधा बनता है। इसने भरे यौवन में पुत्र का वियोग देखा, वैसे ही अपनी नारी को काल के मार्ग में जाते हुए निरखा, और इसने उन पुण्यवानों को, जो सदैव यान पर चढ़े ही दिखाई देते थे, रंक होकर बिना पनहो के मार्ग में पैदल चलते हुए देखा, फिर भी इसका धन और जीवन से राग नहीं घटा। भूधरदास का कथन है कि ऐसी सूसे की अँधेरी के राजरोग का कोई इलाज नहीं है।

"देखौ भरि जोवन में पुत्र वियोग आयो,
तैसे ही निहारी निज नारी काल-मग में।
जे जे पुण्यवान जीव दीसत हैं यान ही पै,
रंक भये फिरैं तेऊ पनही न पग में।
ऐते पै, अभाग धन जीतव सौं धरैं राग,
होय न विराग जानै रहूँगो अलग मैं।

---

१. वही, ११ वां पद, पृ० ७।

२. वही, ९ वां पद, पृ० ६।

आँखिन विलोकि अन्ध सूसे की अँधेरी,
करै ऐसे राजरोग को इलाज कहा जग मैं ॥"[1]

एक वृद्ध पुरुष की दृष्टि घट गयी है, तन की छवि पलट चुकी है, गति मंद हो गयी है और कमर झुक गयी है। उसकी घर वाली भी रूठ चुकी है, और वह अत्यधिक रंक होकर पलंग से लग गया है। उसकी नार (गर्दन) काँप रही है और मुंह से लार चू रही है। उसके सब अंग-उपांग पुराने हो गये हैं, किन्तु हृदय में तृष्णा ने और भी नवीन रूप धारण किया है।[2] जब मनुष्य की मौत आती है, तो उसने संसार में रच-पच के जो कुछ किया है, सब कुछ यहाँ ही पड़ा रह जाता है। भूधरदास जी ने कहा है, "तीव्रगामी तुरंग, सुन्दर रंगों से रंगे हुए रथ, ऊँचे-ऊँचे मत्त मतंग, दास और खवास, गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ और करोड़ों की सम्पत्ति से भरे हुए कोश, इन सब को यह नर अंत में छोड़ कर चला जाता है। प्रासाद खड़े-के-खड़े ही रह जाते हैं, काम यहाँ ही पड़े रहते हैं, धन-सम्पत्ति भी यहाँ ही डली रहती है और घर भी यहाँ ही धरे रह जाते हैं।" वह पद है—

"तेज तुरंग सुरंग भले रथ, मत्त मतंग उतंग खरे ही।
दास खवास अवास अटा, धन जोर करोरन कोश भरे ही॥
एसे बढ़े तो कहा भयो हे नर, छोरि चले उठि अन्त छरे ही।
धाम खरे रहे काम परे रहे दाम डरे रहे ठाम धरे ही॥"[3]

---

१. भूधरदास, जैनशतक, कलकत्ता, ३५ वां पद, पृ० ११।

२. दृष्टि घटी, पलटी तन की छवि,
बंक भई गति लंक नई है।
रूस रही परनी घरनी अति,
रंक भयो परियंक लई है।
कांपत नार वहै मुख लार,
महामति संगति छोरि गई है।
अंग-उपंग पुराने परे
तिसना उर और नवीन भई है॥
जैनशतक, कलकत्ता, ३८ वां सवैय्या, पृ० १२।

३. वही, ३१ वां पद, पृष्ठ ११,

श्री द्यानतराय ने भी भगवान् जिनेन्द्र को शांति प्रदायक ही माना है। वे उनकी शरण में इसलिये गये हैं कि शांति उपलब्ध हो सकेगी। उन्होंने कहा "हम तो नेमिजी की शरण में जाते हैं. क्योंकि उन्हें छोड़कर और कहीं हमारा मन भी नहीं लगता। वे संसार के पापों की जलन को उपशम करने के लिए बादल के समान हैं। उनका विरद भी तारन-तरन है। इन्द्र, फणीन्द्र और चन्द्र भी उनका ध्यान करते हैं। उनको सुख मिलता है और दुःख दूर हो जाता है।"[1] यहाँ बादल से झरने वाली शीतलता परम शांति ही है। शांति को ही सुख कहते हैं और वह भगवान् नेमिनाथ के सेवकों को प्राप्त होती ही है। द्यानतराय की दृष्टि में भी राग-द्वेष ही अशांति है और उनके मिट जाने से ही 'जियरा सुख पावैगा', अर्थात् उसको शांति मिलेगी। अरहंत का स्मरण करने से राग-द्वेष विलीन हो जाते हैं, अतः उनका स्मरण ही सर्वोत्तम है। द्यानतराय भी अपने बावरे मन को सम्बोधन करते हुए कहते हैं, "हे बावरे मन ! अरहंत का स्मरण कर। ख्याति, लाभ और पूजा को छोड़कर अपने अन्तर में प्रभु की लौ लगा। तू नर-भव प्राप्त करके भी उसे व्यर्थ में ही खो रहा है और विषय-भोगों को प्रेरणा दे-देकर बढ़ा रहा है। प्राणों के जाने पर हे मानव ! तू पछतायेगा। तेरी आयु क्षण-क्षण कम हो रही है। युवती के शरीर, धन, सुत, मित्र, परिजन, गज, तुरंग और रथ में तेरा जो चाव है, वह ठीक नहीं है। ये सांसारिक पदार्थ स्वप्न की माया की भाँति हैं, और आँख मीचते-मीचते समाप्त हो जाते हैं। अभी समय है, तू भगवान् का ध्यान कर ले और मंगल-गीत गा ले। और अधिक कहाँ तक कहा जाये फिर उपाय करने पर भी सध नहीं सकेगा।"[2]

---

१. अब हम नेमिजी की शरन।
 और ठौर न मन लगत है, छांड़ि प्रभु के शरण ॥१॥
 सकल भवि-अघ-दहन वारिद, विरद तारन तरन।
 इन्द्र चंद फनिंद ध्यावैं, पाय सुख दुख हरन ॥२॥
 द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, पहला पद, पद २।

२. अरिहन्त सुमर मन बावरे।
 ख्याति लाभ पूजा तजि भाई, अन्तर प्रभु लौ लाव रे।
 नर भव पाय अकारथ खोवै, विषय भोग जु बढ़ावरे।
 प्राण गये पछितैहैं मनवा, छिन छिन छीजै आवरे।
 युवती तन धन सुत मित परिजन, गज तुरंग रथ चावरे।

टिप्पणी अगले पृष्ठ पर देखिये

शुक्लध्यान में निरत तीर्थंकर शांति के प्रतीक होते हैं। उनमें से सभी प्रकार की बेचैनियाँ निकल चुकी होती हैं। उन्हें जन्म से ही पूर्व संस्कार के रूप में वीतरागता मिलती है। उसी स्वर में वे पलते, बढ़ते, भोग-भोगते और दीक्षा लेते हैं। कभी विलासों में तैरते-उतराते, कभी राज्यों का संचालन करते और कभी शत्रुओं को पराजित करते; किन्तु वह स्वर सदैव पवन की भांति प्राणों में भिदा रहता। अवसर पाते ही वह उन्हें वन-पथ पर ले छोड़ता। चिंताएँ स्वत: पीछे रह जातीं। वीतरागता शुक्लध्यान के रूप में फूल उठती। नासिका के अग्र भाग पर टिकी दृष्टि 'चिताभिनिरोध' को स्पष्ट कहती। वह एकाग्रता की बात कहती रहती। और फिर मुख पर आनन्द का अनवरत प्रकाश छिटक उठता। अनुभव रस अपनी परमावस्था में प्रकट हो जाता। उसकी झलक से तीर्थंकर का सौंदर्य अलौकिक रूप को जन्म देता, जिसे इन्द्र, सूर्य और चन्द्र जैसे रूपवन्तों का गर्व विगलित हो बह जाता। यह सच है कि उन परमशांति का अनुभव करते तीर्थंकर के दर्शन से 'अशुभ' नामधारी कोई कर्म टिक नहीं सकता था फिर यदि उनके स्मरण से अनहद बाजा बज उठता हो, तो गलत क्या है। जगराम ने लिखा है—

निरखि मन मूरति कैसी राजै।
तीर्थंकर यह ध्यान करत हैं, परमातम पद काजै।
नासा अग्र दृष्टि कौं धारैं, मुख मुलकति मा गाजै।
अनुभव रस झलकत मानौ, ऐसा आसन शुद्ध विराजै।
अद्भुत रूप अनुपम महिमा, तीन लोक में छाजै।
जाकी छवि देखत इन्द्रादिक, चन्द्र सूर्य गण लाजै।
धरि अनुराग विलोकत जाकौं, अशुभ करम तजि भाजै।
जो जगराम बनै सुमिरन तौ, अनहद बाजा बाजै ॥[1]

संसार के दु:खों से त्रस्त यह जीव शांति चाहता है। यहाँ शांति का अर्थ शाश्वत शांति से है। अर्थात् वैभव और निर्धनता दोनों ही में उसे शांति नहीं मिलती। अथवा वह सांसारिक वैभवों से उत्पन्न सुख-विलास को शांति नहीं

यह संसार सुपन की माया, आंख मीचि दिखराव रे।
ध्याव-ध्याव रे अब है दाव रे, नाहीं मंगल गाव रे।
द्यानत बहुत कहाँ लौं कहिये, फेर न कछू उपाव रे।
द्यानत पद संग्रह, ७० वां पद, पृ० २९-३०।

१. हस्तलिखित 'पद-संग्रह', नं० ४९२, पत्र ७९, बधीचन्द जी का मन्दिर, जयपुर।

मानता। राग चाहे सम्पत्ति से सम्बन्धित हो या पुत्र-पौत्रादिक से, सदैव दाहकारी ही होता है, मखमल और कमख्वाब के गद्दों पर पड़े लोगों को भी बेचैनी से तड़फते देखा गया है। दूसरी ओर गरीबी तो नागिन-जैसी जहरीली होती ही है। भूधरदास की यह पंक्ति "कहूँ न सुख संसार में सब जग देख्यो छान" देश-काल से परे एक चिरंतन तथ्य है। इहलौकिक आकुलता से संतप्त यह जीव भगवान् की शरण में पहुँचता है और जो शांति मिलती है, वह मानों सुधाकर का बरसना ही है, चिंतामणिरत्न और नवनिधि का प्राप्त करना ही है। उसे ऐसा प्रतीत होता है, जैसे आगे कल्पतरु लगा हुआ है। उसकी अभिलाषायें पूर्ण हो जाती हैं। अभिलाषाओं के पूर्ण होने का अर्थ है कि सांसारिक रोग और संताप सदा-सदा के लिए उपशम हो जाते हैं। फिर वह जिस सुख का अनुभव करता है वह कभी क्षीण नहीं होता और उससे अनुस्यूत शांति भी कभी घटती बढ़ती नहीं। कवि कुमुदचन्द्र की यह विनती शांतरस की प्रतीक है—

प्रभु पायं लागौं करूं सेव थारी
तुम सुन लो अरज श्री जिनराज हमारी।
घणौं कस्ट करि देव जिनराज पाम्यौ
है सवै संसारनौं दुख वाम्यौ ।।
जब श्री जिनराजनौ रूप दरस्यौ।
जबै लोचना सुष सुधाधार वरस्यौ ।।
लह्या रतनचिंता नवनिधि पाई।
मानौं आगणैं कलपतर आजि आयौ ।।
मनवांछित दान जिनराज पायौ।
गयो रोग संताप मोहि सरव त्यागी ।।[1]

संसार की परिवर्तनशील दशा के अंकन में जैन कवि अनुपम हैं। परिवर्तनशीलता का अर्थ है— क्षणिकता, विनश्वरता। संसार का यह स्वभाव है। अत: यदि यहाँ संयोग मिलने पर कोई आनन्द-मग्न और वियोग होने पर दु:ख-संतप्त होता है तो वह अज्ञानी है। यहाँ तो जन्ममरण, संपत्ति-विपत्ति, सुख-दु:ख चिर-सहचर हैं। संसार में यह जीव नाना प्रकार से विविध अवस्थाओं को भोगता

---

१. देखिए हस्तलिखित गुटका नं० १३३, लेखनकाल-वि० सं० १७७९; मंदिर ठोलियान, जयपुर।

हुआ चक्कर लगाता है वह नट की भाँति नाना भेष और रूप धारण कर नृत्य करता है। नृत्य करने की बात सूरदास ने भी, 'अब मैं नाच्यो बहुत गुपाल' शीर्षक पद में भली भाँति स्पष्ट की है। यहाँ नृत्य का अर्थ है कि जीव का संसार के चक्कर में फंसना और तज्जन्य सुख-दुःख भोगना। वह जब तक आवागमन के चक्कर में फंसा है, उसे नाचना पड़ेगा। यदि वह हर्ष और शोक को समान समझ कर सहज रूप में उनसे उदासीन हो जावे तो वह ज्ञानी कहलाये और शांति का अनुभव करे। गीता का यह वाक्य 'सुख दुःखे समे कृत्वा' जैन-शासन में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। कवि त्रिभुवनचन्द्र (१७वीं शताब्दी) ने उसका सुन्दर निरूपण किया है—

"जहाँ है संयोग तहाँ वियोग सही,
जहाँ है जनम तहाँ मरण को वास है।
संपति विपति दोऊ एकही भवनदासी,
जहाँ बसै सुप तहाँ दुप को विलास है।
जगत में बार-बार फिरै नाना परकार,
करम अवस्था झूठी थिरता आस है।
नट कैसे भेष और रूप होंहि तातैं,
हरप न सोग ग्याता सहज उदास है॥"[1]

संसार में आनेवाला यह जीव एक महार्घ तत्व से सम्बन्धित है। वह है उसका निजी चेतन। उसमें परमात्मशक्ति होती है। वह अपने आत्मप्रकाश से सदैव प्रदीप्त रहता है। किंतु यह जीव उसे भूल जाता है। इसी कारण उसे संसार में नृत्य करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार भवन में 'भरमते-भरमते' उसे अनादिकाल बीत जाता है। उसे सम्बोधन कर पाण्डे रूपचन्द ने लिखा है—अहो जगत के राय! तुम क्षणिक इन्द्रिय सुख में लगे हो, विषयों में लुभा रहे हो। तुम्हारी तृष्णा कभी बुझती नहीं। विषयों का जितना अधिक सेवन करते हो, तृष्णा उतनी ही बढ़ती है, जैसे खारा जल पीने से प्यास और तीव्र ही होती है। तुम व्यर्थ ही इन दुखों को झेल रहे हो। अपने घर को क्यों नहीं संभालते। अर्थात् तुम्हारा घर शिवपुर है। तुम शिवरूप ही हो। तुम अपना-पर भूल गये हो। तुम इस संसार के मालिक हो। चेतन को यदि यह स्मरण

---

१. अनित्यपंचाशत (हस्तलिखित प्रति), लेखनकाल वि० सं० १६५२, गुटका नं० ३५, लूणकरण जी का मन्दिर, जयपुर।

हो जाये कि वह स्वयं भगवान् है तो संसार के सभी दुख स्वतः उपशम हो जाय—जहाँ-के-तहाँ पड़े रहें। संसार में जन्म लेने के साथ ही यह जीव विस्मरणशील मनोवेग साथ लाता है। कस्तूरीमृग को यह विदित नहीं रहता कि वह सुगन्धि उसकी नाभि में मौजूद है, जिसके लिए वह भटकता फिरता है। मन्दिर, मस्जिद और कावे में परमात्मा को ढूँढनेवाला यह जीव नहीं जानता कि वह तो उसके भीतर ही रहता है। इसीलिए जीव अज्ञानी कहलाता है। इसीलिए वह सांसारिक आकुलताओं में व्याकुल बना रहता है। उसकी शांति का सबसे बड़ा उपाय है कि वह अपने को पहचाने। पाण्डे रूपचन्द्र ने लिखा है—

अपनो पद न विचारि, के अहो जगत के राय।
भव वन छायक हो रहे, शिवपुर सुधि विसराय।।
भव-भव भरमत ही तुम्हें, बीतो काल अनादि।
अब किन घरहिं संवारई, कत दुख देखत वादि।।
परम अतीन्द्रिय सुख सुनो, तुमहिं गयो सुलझाय।
किंचित् इन्द्रिय सुख लगे, विषयन रहे लुभाय।।
विषयन सेवत हो भले, तृष्णा तो न बुझाय।
ज्यौं जल खारो पीवतें, बाढ़े तिस अधिकाय।।[1]

श्री सुमित्रानन्दन पंत ने 'परिवर्तन' में लिखा है, "मूँदती नयन मृत्यु की रात, खोलती नवजीवन की प्रात, शिशिर की सर्व प्रलयंकर वात, बीज बोती अज्ञात।" उनका तात्पर्य है कि मौत में जन्म और जन्म में मौत छिपी है। यह संसार अस्थिर है। जीवन अमर नहीं है। संसार के सुख चिरन्तन नहीं हैं। श्री पंत जी की कविता का स्वर 'जैन टोन' है। यदि यह कहा जाये कि पंत जी की अन्य कविताओं का आध्यात्मिक स्वर जैन परम्परा से हू-बहू मिलता-जुलता है, तो अत्युक्ति न होगी। जैन सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में उन सबका अध्ययन होना आवश्यक है। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ (१७०५) में एक जैन कवि पं० मनोहरदास हुए हैं। भावधारा की दृष्टि से उन्हें श्री पंत जी का पूर्व संस्करण ही कहा जा सकता है। उन्होंने एक जगह लिखा है, "हे लाल! दिन-दिन आव घटती है, जैसे अंजली का जल शनैः शनैः रिस कर नितांत चू जाता है। संसार की कोई वस्तु स्थिर नहीं है, इसे मन में भलीभाँति समझ ले। तूने अपना बाल-

---

१. देखिए, पाण्डे रूपचन्द जी रचित परमार्थी दोहा शतक', यह 'रूपचन्द-शतक' के नाम से 'जैन हितैषी' भाग ६, अंक ५-६ में प्रकाशित हो चुका है

मृत्यु की आशंका नहीं रह पाती। यह जीव मृत से अमृत की ओर बढ़ जाता है। मौत का भय ही दुख है। उसके दूर होने पर सुख स्वतः प्राप्त हो जाता है। ऐसा सुख जो क्षीण नहीं होता। इसे ही शाश्वत आनन्द कहते हैं। किंतु उसे वही प्राप्त कर पाता है, जो वीतरागता की ओर बढ़ रहा है।"[1] ऐसी शर्त तुलसी ने 'ज्ञान-भक्ति विवेचन' में भी लगायी है।[2] उनकी दृष्टि में हर कोई भगवान् का नाम नहीं ले सकता। पहले उसमें नाम लेने की पात्रता चाहिए। इसका अर्थ यह भी है कि पहले मन का भगवान् की ओर उन्मुख होना आवश्यक है। ऐसा हुए बिना नाम लेने की बात नहीं उठती। उसके लिए एक जैन परिभाषिक शब्द है 'भव्य,' उसका तात्पर्य है—भवसागर से तरने की ताकत। जिसमें वह नहीं उस पर भगवान की कृपा नहीं होती। भव्यत्त्व उपार्जित करना अनिवार्य है। यदि भगवान् के नाम को कोई भव्य जीव लेता है तो उसके भवसागर तरने में कोई कमी नहीं रहती। इस भव्यत्त्व को वैष्णव और जैन दोनों ही कवियों ने स्वीकार किया।

भारतीय भक्ति परम्परा की एक प्रवृत्ति रही है कि अपने आराध्य की महत्ता दिखाने के लिए अन्य देवों को छोटा दिखाया जाये। तुलसी के राम और सूर के कृष्ण की ब्रह्म, शिव, सनक, स्यन्दन आदि सभी देव आराधना करते हैं। तुलसी ने यहाँ तक लिखा है कि जो स्वयं भीख मांगते हैं, वे भक्तों की मनोकामनाओं को कैसे पूरा करेंगे। सूरदास ने अन्य देवों से भिक्षा मांगने को रसना का

---

१. तेरो नाम कल्पवृक्ष इच्छा को न राखे उर,
तेरो नाम कामधेनु कामना हरत है।
तेरो नाम चिन्तामनि चिन्ता को न राखे पास,
तेरो नाम पारस सो दारिद हरत है॥
तेरो नाम अमरत पिये तैं जरा रोग जाय,
तेरो नाम सुख मूल दुख को हरत है।
तेरो नाम वीतराग धरैं उर वीतरागी,
भव्य तोहि पाय भवसागर तरत है॥
सुपंथ—कुपंथ पंचासिका, ब्रह्मविलास, भैया भगवतीदास, पृ० १८०।

२. भाव सहित खोजइ जो प्रानी।
पाव भगति मनि सब सुख खानी॥
देखिए, रामचरितमानस, ज्ञान-भक्ति विवेचन।

व्यर्थ प्रयास कहा।[1] तुलसी का कथन है कि अन्य देव माया से विवश हैं, उनकी शरण में जाना व्यर्थ है।[2] तुलसी की दृष्टि में राम ही शील, शक्ति और सौन्दर्य के चरम अधिष्ठाता हैं। कृष्ण भी वैसे नहीं हो सकते। सूर का समूचा 'भ्रमर गीत' निर्गुण ब्रह्म के खण्डन में ही खपा-सा प्रतीत होता है। जैन कवियों ने भी सिवा जिनेन्द्र के अन्य किसी को आराध्य नहीं माना। मैंने अपने ग्रन्थ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि' में भक्तिधारा की इस प्रवृत्ति का समर्थन किया है। मेरा तर्क है कि भक्त कवियों ने यह काम आराध्य में एकनिष्ठ भाव जगाने के लिए ही किया होगा। किन्तु साथ ही मैंने यह भी स्वीकार किया है कि इस 'एकनिष्ठता' की ओट में वैष्णव और जैन दोनों ही कड़वाहट नहीं रोक सके। दोनों ने शालीनता का उल्लंघन किया। फिर भी अपेक्षाकृत जैनकवि अधिक उदार रहे। उनमें अनेक ने तो पूर्ण उदारता वरती। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि प्रभास पट्टन के सोमनाथ के मन्दिर के उद्धार में सम्राट कुमारपाल को आचार्य हेमचन्द्र का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त था। हेमचन्द्र ने विना तरतमांश के उस देव को नमस्कार किया, जिसके रागादिक दोष क्षय को प्राप्त हो गये हों, फिर वह देव ब्रह्मा, विष्णु, हर या जिन कोई भी हो। उनका एक श्लोक है—

"भववीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
यत्र तत्र समये यथा तथा योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोषकलुषः स चेद्भवानेक एव भगवन्नमोस्तु ते॥"[3]

इसी भाँति एक अन्य जैन भक्त कवि देवी पद्मावती की आराधना करने को उद्यत हुआ तो अन्य देवियों की निन्दा न कर सका। उसने कहा कि देवी पद्मावती ही सुगतागम में तारा, शैवागम में गौरी, कौलिक शासन में वज्रा और

---

१. जाँचक पै जाँचक कह जांचै
जो जांचै तो रसना हारी॥
सूरसागर, प्रथम स्कन्ध, ३४ वां पद, पृ० ३०।

२. देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया-विवस विचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपुनपौ हारे॥
विनयपत्रिका, पूर्वार्ध, १०१ वां पद, पृ० १९२।

३. आचार्य हेमचन्द्र का श्लोक, देखिए मेरा ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', पहला अध्याय, पृ० १२।

पन खेल में खो दिया। जवानी मस्ती में बिता दी। इतने राग-रंगों में मस्त रहा कि वृद्धावस्था में शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। यदि तूने यह सोचा था कि वृद्ध होने पर जप-तप कर लूंगा, तो वह तेरा अनुमान असत्य की छाया ही थी। तू संसार के उन पदार्थों में तल्लीन है, जिनका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। वे सेमल के फूल की तरह झूठे हैं। प्रातः के ओस कणों की भाँति शीघ्र ही विलुप्त हो जायेंगे।" वे पंक्तियाँ हैं—

दिन दिन आव घटै है रे लाल,
ज्यौं अंजली को नीर मन माहिं ला रे।
कीयो जाय ठोकर लै रे लाल,
थिरता नहीं संसार मन माहिं ला रे।।
वालपणौं खोयो ख्याल मैं रे लाल,
ज्वांणपणौं उनमान मन मांहि ला रे।
वद्धपणौ सकति घटी रे लाल,
करि करि नाना रंगि मन माहिं ला रे।
समकित स्यौं परच्यौ करौ रे लाल,
मिथ्या संगि निवारि मन माहिं ला रे।
ज्यौं सुष पावै अति घणा रे लाल,
मनोहर कहैय विचारि मन माहिं ला रे।।[१]

भारतीय मन सदैव भक्ति-धारा से सिञ्चित होता रहा। उसके जन्म-जन्म के संस्करण भक्ति के साँचे में ढले हैं। हो सकता है कि उसकी विधायें विकृत दिशा की ओर मुड़ गई हों, किन्तु मूल में विराजी भक्ति किंचिन्मात्र भी इधर-से-उधर नहीं हुई, यह सच है। एक विलायत से लौटा भारतीय भी मन से भक्त होता है। विज्ञान की प्रयोगशालाओं में डूबा वैज्ञानिक भगवान् को निरस्त नहीं कर पाता। आधुनिकता के पैरोकार परमपिता का नाम लेते देखे गये हैं। वैदिक और श्रमण दोनों परम्परायें भगवान् के नाम में अमित वल स्वीकार करती हैं। सच्चे हृदय से लिया गया नाम कभी निष्फल नहीं जाता। उससे विपत्तियां दूर हो जाती हैं। बेचैन, व्याकुल और तड़फता मन शांति का अनुभव करता है, यह केवल अतिशयोक्ति नहीं है कि गणिका, गज और अजामिल नाम लेने मात्र से

---

१. देखिए, 'सुगुरुसीप', पं० मनोहरदास रचित, हस्तलिखित गुटका नं० ५४, वेष्टन नं० २७२, जैन मन्दिर, वड़ौत (मेरठ)।

तर गए थे। अवश्य ही उसने उनके हृदय में परम शांति को जन्म दिया होगा। परम शांति ही परम पद है—मोक्ष है, संसार से तिरना है। यह बात केवल तुलसी और सूर ने ही नहीं लिखी, जैन कवि भी पीछे नहीं रहे। महा कवि मनराम ने लिखा, "अर्हन्त के नाम से आठ कर्म रूपी शत्रु नष्ट हो जाते हैं।"[1] यशोविजय जी का कथन है, "अरे ओ चेतन ! तू इस संसार के भ्रम में क्यों फंसा है। भगवान् जिनेन्द्र के नाम का भजन कर। सद्गुरु ने भगवान् का नाम जपने की बात कही है।"[2] द्यानतराय का अटूट विश्वास है, "रे मन ! भज दीनदयाल। जाके नाम लेत इक छिन में, कटै कोट अघजाल।"[3] कवि विश्वभूषण की दृष्टि में इस बौरे जीव को सदैव जिनेन्द्र का नाम लेना चाहिए। यदि यह परम तत्त्व प्राप्त करना चाहता है तो तन की ओर से उदासीन हो जाये। यदि ऐसा नहीं करेगा तो भव-समुद्र में गिर जायेगा और उसे चहुँगति में घूमना होगा। विश्व-भूषण भगवान् पदपंकज में इस भाँति रांच गए हैं, जैसे कमलों में भौंरा—

"जिन नाम लै रे बौरा, जिन नाम लै रे बौरा।
जो तू परम तत्त्व कौं चाहै तौ तन कौ लगै न जौरा।।
नातरु कै भवदधि में परिहै भयौ चहुँगति दौरा।
विसभूषण पदपंकज राच्यौ ज्यों कमलन बिच भौंरा।।"[4]

"भैया" भगवतीदास ने 'ब्रह्मविलास' में भगवद्नाम की महिमा का नाना-प्रकार से विवेचन किया है। उनकी मान्यता है कि "भगवान का नाम कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामणि और पारस के समान है। उससे इस जीव की इच्छायें भरती हैं। कामनायें पूर्ण होती हैं। चिन्ता दूर हो जाती है और दारिद्र्य डर जाता है। नाम एक प्रकार का अमृत है, जिसके पीने से जरा रोग नष्ट हो जाता है। अर्थात्

---

१. करमादिक अरिन कौं हरै अरिहन्त नाम,
सिद्ध करै काज सब सिद्ध को भजन है।।
मनराम विलास, (हस्तलिखित प्रति), मन्दिर ठोलियान, जयपुर।

२. "जिनवर नाम सार भज आतम, कहा भरम संसारे।
सुगुरु वचन प्रतीत भये तब, आनन्द घन उपगारे।।"
आनन्दघन अष्टपदी, आनन्दघन, आनन्दघन बहत्तरी,
रायचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई।

३. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, ६६ वां पद, पृ० २८।

४. हस्तलिखित पद संग्रह, नं० ५८, दि० जैन मन्दिर, बड़ौत, पृ० ४८।

सांख्यागम में प्रकृति कहलाती है। उनमें कोई अन्तर नहीं है। सब समान हैं। सब की शक्तियाँ समान हैं। उस माँ भारती से समस्त विश्व व्याप्त है। ऐसा आराधक ही सच्चा भक्त है, जिसमें दूसरों के प्रति निन्दा और कटुता का भाव आ गया, वह सात्त्विकला की बात नहीं कर सकता। उसका भाव दूषित है। जिसने भक्ति क्षेत्र में भी पार्टीबन्दी की बात की वह भक्त नहीं और चाहे कुछ हो। ऐसा व्यक्ति शान्ति का हामी नहीं हो सकता। उसका काम व्यर्थ होगा और आराधना निष्फल। वीतरागियों की भक्ति पूर्ण रूप से अहिंसक होनी चाहिए, यदि ऐसी नहीं हुई तो भक्त के भावों की विकृति ही माननी पड़ेगी। किन्तु इस क्षेत्र में बहुत हद तक अहिंसा को प्रश्रय मिला, यह मिथ्या नहीं है। उपर्युक्त श्लोक है—

"तारात्वं सुगतागमे, भगवती गौरीति शैवागमे।
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता॥
गायत्री श्रुतिशालिनी प्रकृतिरित्युक्तासि सांख्यागमे।
मातर्भारति! किं प्रभूत भणितं, व्याप्तं, समस्तं त्वया॥"[1]

यह पावनता जैन हिन्दी कवियों में भी पनपी। उनके काव्य में अपने आराध्य की महत्ता है, अन्य देवों की बुराई भी। किन्तु अनेक स्थल तरतमांश से ऊपर उठे हैं, या उन्हें बचाकर निकल गए हैं। महात्मा आनन्दघन का ब्रह्म अखंड सत्य था। अखंड सत्य वह है जो अविरोधी हो, अर्थात् उनमें किसी भी दृष्टि से विरोध की सम्भावना न हो। कोई धर्म या आदर्श, जिसका दूसरे धर्मों से विरोध हो, अपने को अखण्ड सत्य नहीं कह सकते। वे खण्ड रूप से सत्य हो सकते हैं। आनन्दघन का ब्रह्म राम, रहीम, महादेव, ब्रह्मा और पारसनाथ सब कुछ था। उनमें आपस में कोई विरोध नहीं था। वे सब एक थे। न उनमें तरतमांश था और न उनके रूप में भेद था। महात्मा जी का कथन था कि जिस प्रकार मिट्टी एक होकर भी पात्र-भेद से अनेक नामों से पुकारी जाती है, उसी प्रकार एक अखण्ड रूप आत्मा में विभिन्न कल्पनाओं के कारण अनेक नामों की कल्पना कर ली जाती है। उनकी दृष्टि से निज पद में रमने वाला राम है, रहम करने वाला रहमान है, कर्मों का कर्षण करने वाला कृष्ण है, निर्वाण पाने वाला महादेव है, अपने रूप का स्पर्श करने वाला पारस है, ब्रह्म को पहचानने

---

1. पद्मावती स्तोत्र, २०वां श्लोक, भैरवपद्मावती कल्प, अहमदाबाद, परिशिष्ट ५, पृ० २८।

वाला ब्रह्म है। वे इस जीव के निष्कर्म चेतन को ब्रह्म कहते हैं। उनका कथन है—

"राम कहो, रहमान कहो कोऊ, कान कहो महादेव री।
पारसनाथ कहो, कोई ब्रह्मा, सकल ब्रह्म स्वयमेव री।
भाजन भेद कहावत नाना, एक मृतिका रूप री।
तैसे खण्ड कल्पना रोपित, आप अखण्ड सरूप री।
निज पद रमै राम सो कहिए, रहिम करे रहिमान री।
कर्षे करम कान सो कहिए, महादेव निर्वाण री।
परसे रूप पारस सो कहिए, ब्रह्म चिन्हे सो ब्रह्म री।
इह विधि साधो आनन्दघन, चेतनमय निष्कर्म री।।"[1]

इस प्रकार की उदार परम्पराओं ने जैन काव्यों में शान्ता भक्ति के रूप को शालीनता के साथ पुष्ट किया था। इसी सन्दर्भ में माया की वात भी आ जाती है। माया, मोह और शैतान पर्यायवाची हैं। संत, वैष्णव और जैन तीनों ही कवियों ने शान्ति के लिए उसके निरसन को अनिवार्य माना। वह अज्ञान की प्रतीक है। उसके कारण ही यह जीव संसार के आवागमन में फंसा रहता है। यदि वह हट जाय तो समस्त विश्व ब्रह्म रूप प्रतिभासित हो उठे। वह दो प्रकार से हट सकती है—ज्ञान से और भक्ति से। सांख्यकारिका में एक अत्यधिक मनोरंजक दृष्टान्त आया है। प्रकृति सुन्दरी है और पुरुष को लुभाने में निपुण है, किन्तु जब पुरुष उसे ठीक से पहचान जाता है, तो लज्जा से अपना बदन ढक दूर हो जाती है। ठीक से पहचानने का अर्थ है कि जब पुरुष को ज्ञान उत्पन्न हो जाता है और वह प्रकृति के मूल रूप को समझ जाता है तो वह प्रकृति-माया पलायन कर जाती है।[2] जैन सिद्धांत में ज्ञान ही आत्मा है। यहाँ आत्मा का अर्थ है—विशुद्ध आत्मा अर्थात् जब जीवात्मा में विशुद्धता आती है तो मोह स्वतः ही

---

१. महात्मा आनन्दघन, आनन्दघनपदसंग्रह, अध्यात्मज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई, ६७ वां पद।

२. प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति।
या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ।।
सांख्यकारिका, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, प्रथम संस्करण, वि० सं० १९९७, ६१ वां श्लोक।

हटता जाता है। जैन आचार्यों ने आठ कर्मों में मोहनीय को प्रबलतम माना है। 'स्व' को सही रूप में पहचानने में वह ही सबसे बड़ा बाधक है। उसकी जड़ को निर्मूल करने में ज्ञानी आत्मा ही समर्थ है। बनारसीदास का कथन है, "माया बेली जेती तेती रेते में धारेती सेती, फंदा ही को कंदा खोदे खेती को सो जोधा है।[1] सांख्य-की-सी बात भैय्या भगवतीदास ने 'ब्रह्म विलास' में कही है। उन्होंने लिखा कि काया रूपी नगरी में चिदानन्द रूपी राजा राज्य करता है। वह माया रूपी रानी में मग्न रहता है। जब उसका सत्यार्थ की ओर ध्यान गया, तो ज्ञान उपलब्ध हो गया और माया की विभोरता दूर हो गई, "काया-सी जु नगरी में चिदानन्द राज करै, माया-सी जु रानी पै मगन बहु भयौ है।"[2] कबीरदास ने भी जब उसका भेद पा लिया तो वह बाहर जा पड़ी। उसका भेद पाना, ज्ञान प्राप्त करना ही है। ज्ञान के बिना माया मजबूत चिपकन के साथ संसारी जीव को पकड़े रहती है।

तुलसीदास ने भक्ति के बिना माया का दूर होना असम्भव माना है। इस सम्बन्ध में रघुपति की दया ही मुख्य है। वह भक्ति से प्राप्त होती है। तुलसी ने विनय पत्रिका में लिखा है, 'माधव अस तुम्हारि यह माया, करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया।'[3] जैन कवि भूधरदास ने मोह-पिशाच को नष्ट करने के लिए 'भगवन्त भजन' पर बल दिया। उसको भूलने पर तो मोह से कोई छुटकारा नहीं पा सकता। उन्होंने लिखा है, "मोह पिशाच छल्यो मति मारै, निजकर कंध बसूला रे। भज श्री राजमतीवर भूधर दो दुरमति सिर धूला रे। भगवंत भजन क्यों भूला रे।[4]" कबीर की दृष्टि में माया से छुटकारा प्राप्त करने के लिए सतगुरु की कृपा आवश्यक है। कबीर ने सतगुरु को गोविन्द से बड़ा माना है। उनका कथन है कि यदि गुरु की कृपा न होती तो वह इस जीव को नष्ट कर डालती क्योंकि वह मीठी शक्कर की भाँति शीरनी होती है।[5] जायसी ने भी माया का लोप करने के लिए सतगुरु की कृपा

---

१. नाटक समयसार, मोक्षद्वार, ३ रा पद्य।

२. शत अष्टोत्तरी, २८ वां सवैय्या, ब्रह्मविलास, पृ० १४।

३. विनयपत्रिका, पूर्वार्ध, ११६ वां पद।

४. भूधरविलास, कलकत्ता, १६ वां पद, पृष्ठ ११ वां।

५. कबीर माया मोहनी, जैसी मीठी खांड।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तो करती भांड़।।
'माया को अंग', ७वीं साखी, कबीर ग्रन्थावली, काशी, चतुर्थ संस्करण, पृ० ३३।

को महत्वपूर्ण समझा था । उन्होंने लिखा है कि जब तक कोई गुरु को नहीं पहचानता उसके और परमात्मा के मध्य अन्तराल बना ही रहता है । जब पहचान लेता है तो जीव और ब्रह्म एक हो जाते हैं । उनका मध्यन्तर मिट जाता है । जायसी की मान्यता है कि यह अन्तर माया जन्य ही है ।[1] भैय्या भगवतीदास को पूरा विश्वास है कि सतगुरु के वचनों से मोह विलीन होता है और आत्मरस प्राप्त होता है ।[2] बनारसीदास ने गुरु को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । मोह जन्य बेचैनी दूर होने का एकमात्र उपाय गुरु का आदेश है । यदि आत्मा 'अलख अखय निधि' लूटना चाहती है तो उसे गुरु की सद्वाणी से लाभान्वित होना ही चाहिए । उनका कथन है, "गुरु उपदेश सहज उदयागति, मोह विकलता छूटे । कहत बनारसि है करुनारसि अलख अखयनिधि लूटै ।[3] इस घट में सुधा सरोवर भरा है। जिससे सब दुख विलीन हो जाते हैं । इस सरोवर का पता लगना आवश्यक है । वह सतगुरु से लग सकता है । सतगुरु भक्ति से प्रसन्न होते हैं । उन पर मन केन्द्रित करना पड़ता है । कवि विनय विजय ने लिखा—

"सुधा सरोवर है या घट में, जिसतें सब दुख जाय ।
विनय कहे गुरु देव दिखावे, जो लाऊँ दिल ठाय ।।
प्यारे काहे कूं ललचाय ।।[4]

आत्मरस ही सच्ची शांति है । वही अलख अखय निधि है । वह अनुभूति के बिना नहीं होता । ब्रह्म की, भगवान की या परमात्मा की अनुभूति ही आत्मरस है । अनुभूति के बिना लाखों करोड़ों भवों में जप-तप भी निरर्थक हैं । एक स्वांस

---

१. जब लगि गुरु कौ अहा न चीन्हा ।
कोटि अन्तरपट बीचहि दीन्हा ।।
जब चीन्हा तब और न कोई ।
तब मन जिउ जीवन सब सोई ।।
पद्मावत, जायसी, का० ना० प्र० सभा, काशी ।

२. सतगुरु वचन धारिले अब के, जातें मोह विलाय ।
तब प्रगटै आतमरस भैया, सो निश्चय ठहराय ।।
परमार्थ पद पंक्ति, भैया भगवतीदास, २५ वां पद, ब्रह्मविलास, पृ० ११८ ।

३. अष्टपदीमल्हार, ८ वां पद्य. बनारसीविलास, जयपुर, पृ० २३९ ।

४. 'प्यारे काहे कूं ललचाय' शीर्षक पद, विनयविजय, अध्यात्मपदावली, भारतीयज्ञान-पीठ, काशी, पृ० २२१ ।

की अनुभूति जितना काम करती है, भव-भव की तपस्या और साधना नहीं। द्यानतराय ने लिखा है,"लाख कोटि भव तपस्या करतैं. जितो कर्म तेरो जर रे। स्वास उस्वास माहि सो नासै जब अनुभव चित धर रे।"[1] बनारसीदास ने अनुभूति को अनुभव कहा है। उसका आनन्द कामधेनु, चित्राबेलि के समान है। उसका स्वाद पंचामृत भोजन जैसा है।[2] कवि रूपचन्द ने 'अध्यात्मसवैया' में स्वीकार किया है, "आत्म ब्रह्म की अनुभूति से यह चेतन दिव्य प्रकाश से युक्त हो जाता है। उसमें अनन्तज्ञान प्रकट होता है और यह अपने आप में ही लीन होकर परमानन्द का अनुभव करता है।"[3] आत्मा के अनूपरस का संवेदन करने वाले अनाकुलता प्राप्त करते हैं। आकुलता बेचैनी है। जिससे बेचैनी दूर हो जाय, वह रस अनुपम ही कहा जायेगा। यह रस अनुभूति से प्राप्त होता है, तो अनुभूति करने वाला जीव शाश्वत सुख को विलसने में समर्थ हो जाता है। पं० दीपचन्द शाह ने ज्ञानदर्पण में लिखा है, "अनुभौ विलास में अनंत सुख पाइयतु। भव की विकारता की भई है उछेदना।।" उन्होंने एक दूसरे स्थान पर लिखा, "अनुभौ उल्हास में अनंतरस पायौ महा।।" यह अखण्ड रस और कुछ नहीं साक्षात् ब्रह्म ही है। अनुभूति की तीव्रता इस जीव को ब्रह्म ही बना देती है। आत्मा परमात्मा हो जाता है। अनुभव से संसार का आवागमन मिटता है। यदि अनुभव न जगा तो, "जगत की जेती विद्या भासी कर रेखावत, कोटिक जुगांतर जो महा तप कीने हैं। अनुभौ अखण्डरस उरमें न आयौ जो तो सिव पद पावै नाहिं पर रस भीनें हैं।।"[4] किन्तु यह महत्वशाली तत्व भगवान की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है। महात्मा आनन्दघन का कथन है, "मोकौं दे निज अनुभव स्वामी-निज अनुभूति निवास स्वधामी।"[5] इस अनुभूति से जो संयुक्त है वही अनन्त गुणातम धाम है। अनुभव रूप होने के कारण ही भगवान नाम भी दुख हरण करने वाला और अतिभव को दूर करने वाला है। महात्मा का कथन हैं कि प्रभु के समान और कोई नटवा नहीं है। उसमें से हेयोपादेय प्रकट होते हैं।

---

१. द्यानतपदसंग्रह, कलकत्ता, पद ७३ वां, पृ० ३१।

२. नाटक समयसार, बनारसीदास, बम्बई, १९ वां पद्य, पृ० १७-१८।

३. देखिए अध्यात्मसवैया, रूपचन्द, मन्दिर बधीचन्द जी, जयपुर की हस्तलिखित प्रति।

४. ज्ञानदर्पण, पं० दीपचन्द शाह, तीनों उद्धरण क्रमशः—पद्य नं० १८१, १७५, १२६, संकलित अध्यात्म पंचसंग्रह, पं० नाथूलाल जैन सम्पादित, इन्दौर, वि० सं० २००५, पृष्ठ संख्या—६१, ५९, ४४ क्रमशः।

५. आनन्दघनपदसंग्रह, महात्मा आनन्दघन, बम्बई, २१ वां पद।

अनुभव रस का देने वाला इष्ट है, वह परम प्रकृष्ट और सब कष्टों से रहित है। उसकी अनुभूति ही चित्त की भ्रांति को हर सकती है। वही सूर्य की किरण की भाँति अज्ञान के तमस को नष्ट करती है। वह माया रूपी यामिनी को काटकर दिन के प्रकाश को जन्म देती है। वह मोहासुर के लिए काल रूपा है—

"या अनुभूति रावरी हरै चित्त की भ्रांति।
सा शुद्धा तुव भानु की किरण जु परम प्रशान्ति ॥
किरण जु परम प्रशान्ति तिमिर यवन जु कौं नासै।
माया यामिनी मेटि बोध दिवसै जु विभासै ॥
मोहासुर क्षयकार ज्ञानमूला जु विभूती।
भाषै दौलति ताहि रावरी या अनुभूती ॥"[1]

जैन कवियों के प्रबन्ध और खण्ड काव्यों में 'शान्त-रस' प्रमुख है। अन्य रसों का भी यथा प्रसंग सुन्दर परिपाक हुआ है, किन्तु वे सब इसके सहायक भर हैं। जिस प्रकार अवान्तर कथायें मुख्य कथा को परिपुष्ट करती हैं, उसी प्रकार अन्य रस प्रमुख रस को और अधिक प्रगाढ़ करते हैं। एक प्रबन्ध काव्य में मुख्य रस की जितनी महत्ता होती है, सहायक रसों की उससे कम नहीं। पं० रामचन्द्र शुक्ल अवान्तर कथाओं को रस की पिचकारियाँ कहते थे, सहायक रस भी वैसे ही होते हैं। वे अवान्तर कथाओं और प्रासंगिक घटनाओं के संघटन में सन्निहित होते हैं और वहाँ ही काम करते हैं। एक महानद के जल प्रवाह में सहायक नदियों के जल का महत्वपूर्ण योगदान होता है, वैसे ही मुख्य रस की गति भी अन्य रसों से परिपुष्ट होती हुई ही वेगवती बनती है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मुख्य रस केवल परिणति होता है, प्रारम्भ नहीं। यद्यपि प्रत्येक रस अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र और बलवान होता है, किन्तु उसके अन्तरंग में मुख्य रस का स्वर सदैव हल्के सितार की भाँति प्रतिध्वनित होता ही रहता है। एक प्रबन्ध काव्य में घटनाएँ, कथाएँ तथा अन्य प्रसंग होते हैं, जिनमें मानव-जीवन के विविध पहलुओं की अभिव्यक्ति रहती है किन्तु उनके जीवन में मुख्य रस एक प्राण तत्व की भाँति भिदा रहता है और उनमें मानव की मूल मनोवृत्तियों को खुला खेलने का पूरा अवसर मिलता है। मुख्य रस और मुख्य

---

१. अध्यात्मबारहखड़ी, पं० दौलतराम, दि० जैन पंचायती मन्दिर, बड़ौत की हस्तलिखित प्रति, ११८ वां पद्य।

कथा भी होती है। दोनों में कोई विरोध नहीं होता, दोनों दूध-पानी की भाँति मिले रहते हैं। अतः जैन काव्यों के विषय में डा० शिवप्रसादसिंह का यह कथन "जैन काव्यों में शांति या शम की प्रधानता है अवश्य किन्तु यह प्रारम्भ नहीं परिणति है। सम्भवतः पूरे जीवन को शम या विरक्ति का क्षेत्र बना देना प्रकृति का विरोध है।"[1] उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अन्य काव्यों की भांति ही जैन काव्य हैं। इनमें भी एक मुख्य रस और अन्य रस रहते हैं। केवल शम को मुख्य रस मान लेने से प्रकृति का विरोध है, शृंगार या वीर को मानने से नहीं, यह एक विचित्र तर्क है, जिसका समाधान कठिन है।

जैन महाकाव्य शांति के प्रतीक हैं। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मानव जीवन के अन्य पहलुओं को दबा दिया गया है या छोड़ दिया है और इस प्रकार वहाँ अस्वाभाविकता पनप उठी है। जहाँ तक जैन अपभ्रंश के प्रवन्ध-काव्यों का सम्वन्ध है, उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है—स्वयंभू का 'पउमचरिउ', पुष्पदन्त का 'महापुराण', वीर कवि का 'जम्वूस्वामी चरिउ' और हरिभद्र का 'णेमिणाहचरिउ' पौराणिक शैली में तथा धनपाल धक्कड़ की 'भविसयत्तकहा', पुष्पदन्त का 'णायकुमारचरिउ' और नयनंदि का 'सुदंसणचरिउ' रोमांचक शैली में लिखे गये हैं। हिन्दी के जैन प्रबन्ध काव्यों में पौराणिक और रोमांचिक शैली का समन्वय हुआ है। सधारु का 'प्रद्युम्नचरित्र', ईश्वर सूरि का 'ललितांग चरित्र', ब्रह्मरायमल्ल का 'सुदर्शनरास', कवि परिमलल का 'श्री पाल-चरित्र' मालकवि का 'भोजप्रबन्ध', लालचन्द लब्धोदय का 'पद्मिनीचरित्र', रामचन्द्र का 'सीताचरित्र' और भूधरदास का 'पार्श्वपुराण' ऐसे ही प्रवन्ध काव्य हैं।[2] इनमें 'पद्मिनीचरित्र' की जायसी के 'पद्मावत' से और 'सीताचरित्र' की तुलसीदास के 'रामचरितमानस' से तुलना की जा सकती है।[3] स्वयम्भू के 'पउमचरिउ' की महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। उनका पूरा विश्वास है कि तुलसी वावा का रामचरित मानस, 'पउमचरिउ' से

---

१. विद्यापति, डॉ० विश्वप्रसादसिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तालय, वाराणसी, द्वितीयसंस्करण, सन् १९६१, पृ० ११०।

२. इनका परिचय मेरे ग्रन्थ 'हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि', अध्याय २ में देखिए।

३. पद्मिनीचरित्र और सीताचरित्र की हस्तलिखित प्रतियों का परिचय, मेरे उपर्युक्त ग्रन्थ में क्रमशः पृ० २२५ व २३१ पर दिया हुआ है।

प्रभावित है।[1] पुष्पदन्त के महापुराण का डॉ० पी० एल० वैद्य ने सम्पादन किया है। उनकी मान्यता है कि महाकाव्यों में वह एक उत्तमकोटि का ग्रंथ है। 'भविसयत्तकहा' की खोज का श्रेय जर्मन के प्रसिद्ध विद्वान प्रो० जेकोबी को है। उन्होंने अपनी भारत यात्रा के समय इस काव्य को अहमदाबाद से १९१४ में प्राप्त किया था। यह सबसे पहले श्री सी० डी० दलाल और पी० डी० गुणे के सम्पादन में गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से सन् १९२३ में प्रकाशित हुआ। जैकोबी ने भाषा की दृष्टि से और दलाल ने काव्यत्व की दृष्टि से इसे समूचे मध्ययुगीन भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण कृति कहा है। डा० विण्टरनित्स ने लिखा है कि इसकी कथा में थोड़े में अधिक कहने का गुण कूट-कूटकर भरा है। कार्यान्विति आदि से अन्त तक बराबर बनी हुई है।[2] णायकुमारचरिउ की भूमिका में डा० हीरालाल जैन ने उसे उत्तम कोटि का प्रबन्ध काव्य प्रमाणित किया है।[3] सधारु के 'प्रद्युम्नचरित्र' के 'प्राक्कथन' में डा० माताप्रसाद गुप्त ने उसे एक उज्ज्वल तथा मूल्यवान रत्न माना है।[4] भूधरदास के पार्श्वपुराण को प्रसिद्ध पं० नाथूराम प्रेमी ने मौलिकता, सौंदर्य तथा प्रसादगुण से युक्त कहा है।[5] लालचन्द्र लब्धोदय के पद्मिनी चरित्र और रामचन्द्र के सीताचरित्र को पाण्डुलिपियों के रूप में मैंने पढ़ा है और मैं उन्हें इस युग के किसी प्रबन्ध काव्य से निम्नकोटि का नहीं मानता। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश और हिन्दी के नेमिनाथ-राजुल से सम्बन्धित खण्डकाव्य हैं। उनका काव्य-सौंदर्य अनूठा है। मैंने अपने ग्रंथ 'जैन हिन्दी भक्ति काव्य और कवि में' यथा स्थान उनका विवेचन किया है।

इन विविध काव्यों में युद्ध है, प्रेम है, भक्ति है, प्रकृति के सजीव और स्वाभाविक चित्र हैं। संवाद-सौष्ठव की अनुपम छटा है। भाषा में लोच और

---

१. हिन्दी काव्यधारा, महापण्डित राहुलसांकृत्यायन, प्रथम संस्करण, १९४५ ई०, किताब महल इलाहाबाद, पृ० ५२।

२. 'ए हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' एम० विण्टरनित्स, १९३३ ई०, खण्ड २, पृष्ठ ५३२।

३. 'णायकुमारचरिउ', भूमिका भाग, डॉ० हीरालाल जैन लिखित।

४. प्रद्युम्नचरित्र, सधारु, पं० चैनसुखदास सम्पादित, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे, जयपुर, प्राक्कथन, डॉ० माता प्रसाद गुप्त लिखित, पृ० ५।

५. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, पं० नाथूराम प्रेमी, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, सन् १९१७, पृ० ५६।

भावों में अनुभूति की गहराई है। कहीं छिछलापन नहीं, कहीं उद्दाम वासनाओं का नग्न नृत्य नहीं। केवल शांत रस के प्रमुख रस होने से क्या हुआ। प्रवन्ध काव्य में कोई-न-कोई रस तो मुख्य रस होगा ही। उसकी पृष्ठ भूमि में समूचा मानव जीवन गतिशील रहता है, यह प्रवन्ध काव्य की कसौटी पर खरे उतरते हुए भी शांत रस का सुनिर्वाह जैन काव्यों की अपनी विशेषता है और वह वीतरागी परिप्रेक्ष्य में ही ठीक से समझी जा सकती है ऐसा होने पर ही उसका आकलन भी ठीक हो सकता है।
